ऐसे जीयें



प्रवचनकार

आचार्य श्री नानेश



सम्पादक

मुनि ज्ञान



प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

बीकानेर

[आचार्य प्रवर श्री नानेश के आचार्य पद के पच्चीसवें वर्ष के उपलक्ष्य में]

• ऐसे जीयें

• प्रवचनकार
आचार्य श्री नानेश

• सम्पादक
मुनि ज्ञान

• प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर–३३४ ००१ (राजस्थान)

• प्रथम संस्करण : १९८६

• मूल्य : बीस रुपये (लागत मूल्य का दो तिहाई)

• मुद्रक :
फ्रेंण्डस प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर–३०२ ००३

प्रकाशकीय

दुग्ध के साथ धवलता कब से चली आ रही है ? अग्नि के साथ उष्णता का सम्बन्ध कब से है ? इन विषयों की प्रादुर्भूति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जब से दुग्ध है, तभी से उसकी धवलता है । जब से अग्नि है तभी से उसके साथ उष्णता का सम्बन्ध बना हुआ है । ठीक इसी प्रकार जब से भू, तोय, अनल, अनिल आदि प्राणी समूह एवं जड़ तत्त्व चले आ रहे हैं, तभी से धर्म एवं संस्कृति भी चली आ रही है । साधुमार्ग का इतिहास भी उतनी ही प्राचीनता को लिये हुए है ।

साधुमार्ग की इस पवित्र पावन-धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए बड़े-बड़े आचार्यों ने अपना-अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । भगवान् महावीर के बाद अनेक बार आगमिक-धरातल पर क्रान्ति का प्रसंग आया है । इस क्रांति के द्वारा श्रमण संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास किया जाता रहा । ऐसी क्रान्ति की धारा में क्रियोद्धारक महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. का नाम विशेष रूप से उभर कर सामने आता है । तत्कालीन युग में जहाँ शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी । बड़े-बड़े साधु भी मठों की तरह उपाश्रयों में अपना स्थान जमाए हुए थे । चेलों के पीछे साधुता बिखरती चली जा रही थी । ऐसे युग में आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म० सा० ने उपदेशों से ही नहीं अपितु अपने विशुद्ध एवं उत्कृष्ट संयममय जीवन से जनमानस को प्रभावित किया था । तप के साथ क्षमा एवं उत्कृष्ट संयम के साथ उत्कृष्ट सम्यक्ज्ञान का संयोग दुर्लभ ही देखने को मिलता है । किन्तु आचार्य प्रवर में ऐसे दुर्लभ संयोग सहज सुलभ थे । आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारों स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहने लगे । तब "तिन्नाणं तारयाणं" के आदर्श आचार्यप्रवर ने योग्य मुमुक्षुओं को दीक्षित किया,

ग्रौर जो देशव्रती बनना चाहते थे उन्हें, देशव्रती बनाया । इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध संघ का प्रवर्तन हो गया ।

समुद्र में जिस प्रकार दूर तक गंगा का पाट दिखलाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र में ग्राचार्य प्रवर की यह धारा एकदम ग्रलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी । यहाँ से फिर साधुमार्ग में एक क्रान्ति घटित हुई । जिस क्रान्ति की धारा को पश्चातवर्ती ग्राचार्यों ने निरन्तर ग्रागे बढ़ाया । ग्राज हमें परम प्रसन्नता है कि समता विभूति विद्वद् शिरोमणि, जिन शासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक ग्राचार्य श्री नानेश के सान्निध्य में साधुमार्ग की वह धारा विकसित रूप में उभर कर ग्रा रही है । संघ के एकमात्र ग्रनुशास्ता ग्राचार्य श्री नानेश के सान्निध्य में हुई एक साथ २५ दीक्षाग्रों ने सैंकड़ों वर्षों के ग्रतीत के इतिहास को प्रत्यक्ष कर दिखाया है । ऐसी एक नहीं ग्रनेक क्रान्तियाँ ग्राचार्य-प्रवर के सान्निध्य में घटित हो रही हैं । संयम पालन के साथ हर साधु-साध्वी वर्ग ने ग्राचार्य प्रवर के सान्निध्य को पाकर सम्यक् ज्ञान की दिशा में भी ग्राश्चर्यजनक विकास किया है ।

"ऐसे जीयें" नामक प्रस्तुत पुस्तक में ग्राचार्य प्रवर के घाटकोपर, बम्बई के ५२ प्रवचनों का संकलन किया गया है । दिनांक १६-८-८५ को पर्युषण के चतुर्थ दिवस पर ग्राचार्य श्री ग्रस्वस्थता के कारण प्रवचन नहीं दे सके, ग्रतः उस दिन के प्रवचन का समावेश नहीं किया जा सका है । 'जी' तो सभी रहे हैं पर 'जीना' किस प्रकार चाहिये, मानव की इस ज्वलन्त समस्या का समाधान ग्राचार्य प्रवर ने ग्रपने प्रस्तुत प्रवचनों में बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है । इन प्रवचनों का सुन्दर सम्पादन ग्राचार्य प्रवर के ही अन्तेवासी सुशिष्य विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी म० सा० ने किया है । घाटकोपर के प्रवचनों को किसी शॉर्ट-हैण्ड लिपिकार ने संकलित नहीं किया था, बल्कि शासन प्रभाविका विदुषी महासती श्री इन्द्रकंवरजी म० सा० के समीपस्थ तपस्विनी विदुषी महासती श्री ग्रंजना श्रीजी म० सा० एवं विदुषी महासती श्री सुलोचना श्रीजी म० सा० ने संकलित करने का ग्रच्छा प्रयास किया है । महासतीवर्ग ग्राचार्य प्रवर के प्रवचनों को सुनने के साथ ग्रपने उपयोग के लिये संकलित भी कर लेती हैं । घाटकोपर के इन संकलित प्रवचनों का विद्वद्वर्य श्री ज्ञानमुनिजी म० सा० द्वारा सम्पादन हो जाने पर पांडुलिपि बनाने का कार्य प्रतिभा-सम्पन्न वैराग्यवती बहिन प्रिया एवं पद्मा ने किया है ।

हमारा संघ सत्साहित्य एवं जीवन विकासोन्मुखी कृतियों के प्रकाशन के लिए कृत संकल्प है।

शान्त-क्रान्ति के अग्रदूत स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म० सा० की स्मृति में श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार में अनेकानेक प्रकाशित एवं हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह हुआ है। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थों का संचयन कर उन्हें श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजनहितार्थ प्रकाशन कर रही है। इसी संकल्प की क्रियान्विति में इस कृति को भी श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार से प्राप्त कर प्रकाशित करने में संघ हार्दिक आत्म-संतुष्टि का अनुभव कर रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक के हमारे प्रमुख अर्थ सहयोगी हैं—श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के नव निर्वाचित अध्यक्ष उदारमना श्रेष्ठीवर्य श्री चुन्नीलालजी सा० मेहता, जिन्होंने अनेक प्रवृत्तियों, संस्थाओं में उदारता से अर्थ सहयोग कर अपनी दानवीरता का सराहनीय परिचय दिया है। संघ को आपसे अनेक आशाएँ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन-सम्बन्धित प्रबन्धन-सम्पादन में डॉ० नरेन्द्र भानावत ने जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

—गुमानमल चौरड़िया

संयोजक

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति

प्रमुख अर्थ-सहयोगी
सहृदय समाजसेवी
श्री चुन्नीलालजी मेहता, बम्बई

आपका जन्म ३१ जुलाई, १९२६ को सोजत (राजस्थान) में हुआ। आपने अपना व्यवसाय बेलगांव, अहमदाबाद एवं बम्बई में आरंभ किया। लगन, निष्ठा, साहस, परिश्रम एवं ईमानदारीपूर्वक सतत कर्तव्यशील बने रहने के कारण आपने शीघ्र ही देश के प्रमुख व्यवसायियों में अपना उल्लेखनीय स्थान बना लिया।

अर्जित सम्पत्ति का समाज-सेवा में अधिकाधिक सदुपयोग करना आपका स्वभाव है। आप अपनी सहृदयता, करुणशीलता एवं दानवीरता के लिए प्रसिद्ध हैं। आपके कार्यालय में रोजाना सुबह से शाम तक दीन दुखियारे रोगियों, असहाय वृद्धों, नेत्रहीनों आदि की लाइन लगी रहती है जिन्हें आप मुक्त हस्त से दान देते रहते हैं, अन्न, वस्त्र और औषध वितरण करते रहते हैं। आप राष्ट्रीय विचारधारा के प्रगतिशील सामाजिक कार्यकर्ता एवं कर्मठ समाजसेवी हैं। शिक्षा, चिकित्सा, वाणिज्य-व्यवसाय, राष्ट्र-एकता, सामाजिक उत्कर्ष सम्बन्धी सैंकड़ों संस्थाओं से आप सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं। समता-विभूति आचार्य श्री नानेश के आप अनन्य भक्त एवं निष्ठावान श्रावक हैं। आचार्य श्री का बोरीवली-बम्बई का चातुर्मास कराने में आपका विशेष योगदान रहा। श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के आप अध्यक्ष हैं। संघ की धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों को अधिकाधिक गतिशील एवं सुदृढ़ करने में आप निरन्तर सजग एवं सचेष्ट हैं। सत् साहित्य के प्रकाशन में आपके प्रशस्त और उदात्त सहयोग के लिए हार्दिक आभार।

□□

कैसे जीयें ?

यह अखिल विश्व, अनन्तानन्त प्राणियों से संकुलित है। जिस प्रकार काजल की डिबिया में काजल भरा रहता है, उसी प्रकार पूरे विश्व में आत्माएँ खचाखच भरी हुई हैं। वे सभी आत्माएँ, अपने-अपने रूप में जीवन जी रही हैं। क्योंकि जिसने भी जन्म लिया है, वह जब तक मृत्यु को प्राप्त न करे, तब तक जीता है और मृत्यु प्राप्त करके भी अन्य भव में जाकर, वहां भी जीता है। अतः जीने की स्थिति तो निरन्तर चल ही रही है, पर जिया कैसे जाय, जिससे आत्मा को परम शांति एवं सुख की उपलब्धि हो सके, यह समस्या प्रायः सभी प्राणियों के सामने खड़ी है। जब तक इस समस्या का सही रूप में समाधान नहीं होता, तब तक जीवन की प्रणालिका सही रूप में नहीं चल सकती। बिना सही प्रणाली के वास्तविक सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। अनन्तानन्त प्राणियों में जो अमनस्क प्राणी हैं, वे तो इस तथ्य को समझ ही नहीं पाते और जो समनस्क प्राणी हैं, उन्हें भी ऐसा ज्ञान प्राप्त करने का संयोग बहुत कम मिलता है। पशु-पक्षी भी समनस्क प्राणी हैं, पर उन्हें ऐसा संयोग कहाँ मिलता है? नारकी के नैरियक समनस्क होते हुए भी प्रतिक्षण दुःख से इतने अधिक संतप्त होते हैं कि उन्हें दूसरी बात सोचने का अवकाश ही कहाँ मिलता है। देवताओं के पास जीवन जीने की कला का बोध पाने की क्षमता तो है पर वे अपने जीवन को सही रूप में अध्यात्म-जागरण के लिए नियोजित नहीं कर पाते।

एक मानव ही ऐसा प्राणी है कि वह अपने मस्तिष्क से सही ज्ञान करके अपने जीवन को उसी रूप में नियोजित भी कर सकता है, पर आज तो वह जीवन को सही रूप में जीने के लिए अपनी मनकल्पित बातों को लेकर ही चल रहा है। वह चाहता अवश्य है कि मैं सही रूप में जीऊँ, उसके लिए वह विभिन्न तरीके से पुरुषार्थ भी कर रहा है। जीवन को सही ढंग से जीने की कला को पाने के लिए मानव निरन्तर पुरुषार्थ कर रहा है। अतीत के इतिहास को देखते हुए ज्ञात होता है कि मानव ने भौतिक दृष्टि से अचिन्त्य विकास किया है। कहाँ तो मानव के पास खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान भी नहीं था और कहाँ आज के मानव की स्थिति है। उसके पास खाने के लिए अच्छा से अच्छा स्वादिष्ट। पकवान है पहनने के लिए तरह-तरह के कीमती वस्त्र (वेश) हैं और रहने के लिए सुविधापूर्ण बंगले हैं। यही नहीं आकाश में उड़ने के लिए भी उसके पास हवाई जहाज हैं, तो समुद्र में पैठ करने के लिए बड़े-बड़े स्टीमर हैं। आज के मानव ने ऐसे-ऐसे साधनों को ईजाद कर लिया है कि जिसकी सैंकड़ो वर्ष पूर्व कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इतना

सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी मानव को न तो जीने की सही कला ही आयी है और न ही यथार्थ शांति की उपलब्धि ही हो पाई है। वल्कि इन भौतिक साधनों को प्राप्त करने के बाद उसका मन और अधिक अशान्त एवं उद्विग्न वनता चला गया है। शांति के स्थान पर अशान्ति वढ़ी है। सुख के स्थान पर दुःख वढ़ा है।

विचार आता है कि मानव जव इतना पुरुषार्थ कर रहा है। रात-दिन सुख पाने के लिए बेचैन हो रहा है फिर भी सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा है तो इसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये। लगता है कि कहीं मूल में ही भूल हो रही है। जब तक मूल की भूल का सुधार नहीं होगा, तव तक जीवन को सही रूप में नहीं जीया जा सकेगा और जीवन को सही रूप में जीये विना सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार भोजन बनाने वाली बहिन भोजन-सामग्री बहुत ही सुन्दर रीति से तैयार करती है, किन्तु उसके द्वारा एक ही भूल हो जाती है, कि सब्जी में नमक के स्थान पर शक्कर और मिठाई में शक्कर के स्थान पर नमक डाल देती है। वस, यह मूलभूत—भूल ही उसके सारे भोजन को बिगाड़ देती है। ठीक इसी प्रकार आज का मानव भी पुरुषार्थ वहुत कर रहा है, वहुत प्रयत्न कर रहा है, पर वह कहीं न कहीं ऐसी भूल अवश्य कर रहा है कि जिससे उसका सारा पुरुषार्थ सुख के स्थान पर दुःख की ही अभिवृद्धि करने वाला हो रहा है।

आज के युग में प्रायः सभी मानवों के पास यही वहुत वड़ी समस्या खड़ी है कि हम कैसे जीयें ताकि सुख-शांति का उपवन महक उठे। इसी समस्या का मौलिक समाधान समता विभूति, समीक्षण ध्यान योगी, विद्वद् शिरोमणि आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म० सा० ने घाटकोपर, वम्वई के प्रवचनों में विभिन्न रूप से आगमिक धरातल पर अत्यन्त ही समीचीन रीति से प्रस्तुत किया है जिसमें मानव की मूलभूत समस्याओं का समाधान देकर मानसिक, वाचिक एवं आध्यात्मिक कायिक रूप से किस प्रकार जीना चाहिये, इसका संयुक्तिक ढंग से विधान किया है।

इन प्रवचनों के सम्पादन में आचार्य प्रवर की भाव-भाषा को अक्षुण्ण वनाये रखने का विशेष ख्याल रखा गया है ताकि अध्येता आचार्य प्रवर की वाणी का साक्षात् रसास्वादन कर अपनी मूलभूत समस्याओं का समाधान कर सकें। इसी शुभ मंगलमय भावना के साथ।

मोटा उपाश्रय,
घाटकोपर, वम्वई
५-९-८५, गुरुवार

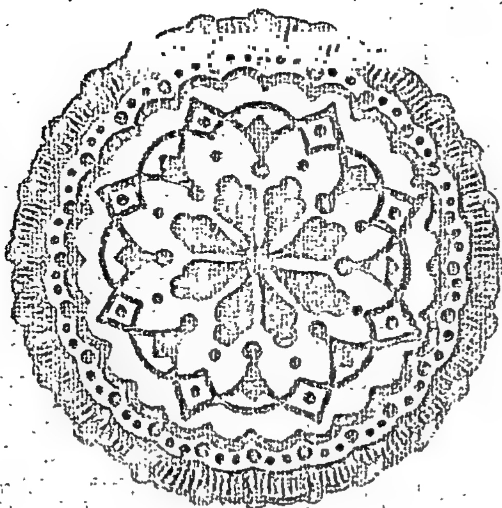
—मुनि ज्ञान

अनुक्रमणिका

□ सम्यक् ज्ञान—वैचारिक जीवन जीने की कला

□ सम्यक् चरित्र—जीवन के विशुद्ध आचारण की विधि

□ साधना ऐसे करें



सम्यक्त्व के लक्षण

(प्रशांत जीवन जीने की कला)

- सम
- संवेग
- निर्वेद
- अनुकम्पा
- आस्था

१ चातुर्मास स्वयं के लिए उपयोगी बने

इस विराट् विश्व में यदि कोई श्रेष्ठतम मार्ग है तो वह है, सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्ष मार्ग। इस मार्ग पर चलकर आत्मा ऐसे स्थान पर पहुँच सकती है जहाँ वह अनन्त-अनन्त सुख में तल्लीन हो जाती है। इस मार्ग का अतीव सरस-वर्णन तीर्थंकर महापुरुषों ने अपनी अमृतोपम वाचा के माध्यम से किया था। अनन्त उपकारी गणधारों ने उसे सूत्र रूप में गूंथा और वह आचार्यों की परम्परा से सुरक्षित रहा।

आज हमारा अहोभाग्य है कि हमें वही अमूल्य वाणी श्रवण करने को मिल रही है, पर हम सिर्फ उस वाणी के श्रवण तक ही सीमित न रहें, बल्कि गहन चिंतन मनन की स्थिति से उस आनन्ददायिनी सरिता में अवगाहन करने की कोशिश करें। शास्त्रों में जो वाक्यावलियां होती हैं, वे गहन अर्थ से परिपूरित होती हैं। शास्त्रीय शब्दों को याद कर लेना एक बात है, और उसके अर्थ में अवगाहन करते हुए अपनी आचरण भूमि को सम्यक् बनाना, आत्म गुणों में अपने आपको रमण करना दूसरी बात है।

आनन्द रस प्रवाहिनी वीतराग वाणी का महत्त्व यदि जानना है, तो श्रुति को अनुभूति का रूप प्रदान करें। शास्त्रीय वाक्यार्थ को जीवन में उतारें। आपने कभी गन्ना चूसा होगा, गन्ना चूसते समय आप रस-रस तो चूस लेते हैं, और निस्सार को फेंक देते हैं, ठीक इसी प्रकार शास्त्र में हेय, ज्ञेय, उपादेय तीनों ही विषयों का प्रतिपादन होता है, आप ज्ञेय की जानकारी करें, हेय को निस्सार समझ कर छोड़ दें, और उपादेय रूपी मधुर रस को जीवन में उतार लें, तो आपका जीवन अतीव मधुर बन सकता है।

मैं शास्त्रीय विषय के साथ-साथ कुछ बातें आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी भी कहना चाह रहा हूँ। अध्यात्म क्या है? भीतर की प्रकृति का अवलोकन करें कि मेरे जीवन में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृत्ति है, या इससे विपरीत वृत्तियाँ मेरे जीवन में उभर रही हैं। जिसके जीवन में राग-द्वेष की वृत्तियाँ उभर रही हैं, तो उसका जीवन पशु से भी बदतर है। पशु में कम समझ होने से वह इतना खतरनाक कभी नहीं हो सकता जितना कि मनुष्य बन जाता है। मनुष्य यह विचार करे कि मैं पशु से निम्न

स्थिति में हूँ या उच्च स्थिति में ? चिन्तन करने की यह धारा जब सम्यक् दिशा में गतिशील बनेगी, तब यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा कि हमारी प्रत्येक की आत्मा अरिहन्त सिद्ध के समान है। इस प्रकार सम्यक् वोध होने के वाद प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में "मुझे अरिहन्त और सिद्ध तुल्य वनना है" यह दिव्य भावना जागृत हो एवं तदनुरूप साधना में उसका जीवन समर्पित बने, तब अशांति की स्थिति उसके जीवन में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकेगी।

अशांति के झूले में झूलते हुए अधिकांश व्यक्ति शांति प्राप्ति के उपाय के खोजी बने हुए हैं, वे चाहते हैं कि हमें कोई ऐसा मंत्र मिल जाय, जिसको आजमाने से हमारा जीवन शांतिमय बन जाय, पर वे नहीं जानते कि शांति का सृजन करने वाला मंत्र कौनसा है ? दुनिया का सर्वश्रेष्ठ मंत्र नवकार है। पर यह ध्यान रखना है कि अन्दर में यदि विषय-कषाय की आग जलती रहे, और ऊपर से मंत्र का जाप करते रहें, तो उससे कभी शांति नहीं मिल सकेगी।

एक रूपक है—एक भाई महाराज के पास गया, और अपनी समस्या का समाधान करने के लिए कहा, तब महाराज ने कहा भाई! तुम जिस समस्या का समाधान चाह रहे हो, मैं उसका समाधान कर सकता हूँ। लेकिन मैं पूछता हूँ कि इस समस्या के समाधान के बाद कोई दूसरी समस्या तो नहीं उठेगी। तो वह वोला, उंठेगी और फिर उसका समाधान करने के लिए आऊँगा! तब योगी ने समझाया इससे तो अच्छा है कि तुम सभी समस्याओं का समाधान कैसे किया जाय, यही जानलो तो फिर तुम अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ही कर सकोगे। अंधे को एक स्थान से दूसरे स्थान से जाने के लिये वार-वार सहारा देने की वजाय उसके आँखें लगादी जायं तो वह स्वतः ही चल लेगा। वैसे ही तुम समस्या के समाधान का मूल ही पकड़ लो और वह है शरीर के भीतर में रहने वाली आत्मा की सम्यक् निर्णायक शक्ति।

अध्यात्म जीवन में अपना चरण क्षेप करो, यह मानकर चलो कि हर आत्मा में अनन्त ज्ञान शक्ति है, पर वह ज्ञान चेतना ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त है। इससे ही वह अपनी ज्ञान शक्ति का रसपान नहीं कर पा रहा है, पर जैन दर्शन मानता है कि वन्धन की निर्मात्री आत्मा है तो वन्धन को तोड़ने वाली भी आत्मा ही है। अतः आत्मा सत्पुरुषार्थ के माध्यम से वन्धन से मुक्ति की प्रक्रिया को समझकर अपने आवृत्त ज्ञान को अनावृत्त करने का प्रयास करती है, तो उसके जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान हो सकता है। वह अनन्त शांति की अभिव्यक्ति कर सकती है, कारण कि केवलज्ञान पाने की क्षमता प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा में है।

प्रभु महावीर का गरिमामय जैन धर्म हमें वता रहा है कि हमारे भीतर भी महावीरत्व छिपा हुआ है। उसे सद्प्रयत्नों से, संयम निष्ठ आचरण से

उजागर कर सकते हैं, उस महावीरत्व को उजागर करने में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान माता, पिता एवं गुरु का होता है, पर आज के माता-पिताओं की स्थिति बड़ी विचित्र होती जा रही है। जब मैं अमरावती से राजस्थान की ओर विहार कर रहा था, तब बीच रास्ते में एक ऐसा गाँव आया, जहाँ—गोचरी के घर बहुत कम होने से ज्यादा रुकने का प्रसंग नहीं बना, वहाँ से जल्दी ही विहार कर दिया, जो लोग पहुँचाने के लिये आये थे उनमें एक १२, १३ वर्षीय बालक भी था, जिसके पिताजी ने कहा—म० सा० इस बालक को आप अपने साथ ले जाओ और दीक्षा दे दो। तब मैंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कुछ सोचा और पूछा कि आप इतने उदार कैसे बन रहे हैं, जिससे इस नन्हे से बच्चे को दीक्षा देने के लिये तैयार हो गये ? तब उन्होंने कहा कि यह लड़का बड़ा नटखट उद्दण्ड एवं चंचल है, कभी तो मेरे ऊपर और कभी अपनी माँ के ऊपर भी यह हाथ उठा लेता है। तब मैंने पूछा कि—कभी आप पति-पत्नी में भी लड़ाई होती है क्या ? तब वह बोला हाँ कभी-कभी हो जाती है। तब मैंने कहा आपके ही संस्कारों का परिणाम है कि बच्चा उद्दंड बन गया है। जब तक माता-पिता नहीं सुधरेंगे, तब तक बच्चे को सुधारना व्यर्थ है। शिशु जीवन को सौम्य बनाने के लिये माता-पिता के सुन्दर कर्तव्य ही बच्चों में संस्कार का रूप लेते हैं। **जीवन दीप की ज्योति प्रज्वलित रखने के लिये संस्कार स्नेह (तेल) का कार्य करता है।** शिशु जीवन में पड़े सुन्दर या असुन्दर प्रभाव उसके पूरे जीवन को बनाने या बिगाड़ने के उत्तरदायी होते हैं। **संस्कार बीज है जीवन वृक्ष को पल्लवित करने के लिये।** बालक को जन्म देने मात्र से ही माता-पिता के कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, वरन् उसके जीवन को सुसंस्कारित बनाने का उत्तर-दायित्व भी उन्हीं पर है। शैशव में ही उदारता, वीरता, विनम्रता, धार्मिकता का गुण उसे माता के दूध के साथ मिलते रहना चाहिये। माता चाहे तो अपने बालक को कर्ण या भामाशाह बना सकती है। बालक को महावीर या भरत बनाना भी माता के हाथ में ही है। और चूहे की खड़खड़ाहट में घर छोड़कर भाग जाने वाला बुजदिल बनाना भी माता के हाथ में है। ब्रह्मचर्य के प्रज्ञापुंज से दीप्तिमान भीष्म भी उसे माता बना सकती है, और रावण बनाना भी उसी के हाथ है। बालक के जीवन पर एक सुशिक्षिता माता जो प्रभाव डाल सकती है, वहाँ सौ मास्टरों का प्रयास भी उसमें असफल रहेगा। माता का वीरत्व बालक को विश्व-विजयी बना सकता है। बन्धुओ ! जो बात मैं आपको बतला रहा था, उस नटखट बालक को दीक्षा देने के लिये कहने वाले पिता को मैंने कहा कि "ऐसे बच्चे को आप हमें देना चाहते हैं, यह यहाँ आकर भी क्या करेगा, कहीं गुस्से में आकर हमारे पात्र फोड़ बैठेगा।" तो वह बोला—आप तो उसे सुधार सकते हैं। तो मैंने कहा सुधार सकते हैं, पर कठिनाई यह है कि साधना के लिए तो सबसे पहले स्वभाव में सौम्यता आना जरूरी है।

साधना में बढ़ने वाले जिज्ञासुओं को चाहिये कि आज से वे अपनी आत्म

स्थिति में हूँ या उच्च स्थिति में ? चिन्तन करने की यह धारा जब सम्यक् दिशा में गतिशील बनेगी, तब यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा कि हमारी प्रत्येक की आत्मा अरिहन्त सिद्ध के समान है। इस प्रकार सम्यक् बोध होने के बाद प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में "मुझे अरिहन्त और सिद्ध तुल्य बनना है" यह दिव्य भावना जागृत हो एवं तदनुरूप साधना में उसका जीवन समर्पित बने, तब अशांति की स्थिति उसके जीवन में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकेगी।

अशांति के झूले में झूलते हुए अधिकांश व्यक्ति शांति प्राप्ति के उपाय के खोजी बने हुए हैं, वे चाहते हैं कि हमें कोई ऐसा मंत्र मिल जाय, जिसको आजमाने से हमारा जीवन शांतिमय बन जाय, पर वे नहीं जानते कि शांति का सृजन करने वाला मंत्र कौनसा है ? दुनिया का सर्वश्रेष्ठ मंत्र नवकार है। पर यह ध्यान रखना है कि अन्दर में यदि विषय-कषाय की आग जलती रहे, और ऊपर से मंत्र का जाप करते रहें, तो उससे कभी शांति नहीं मिल सकेगी।

एक रूपक है—एक भाई महाराज के पास गया, और अपनी समस्या का समाधान करने के लिए कहा, तब महाराज ने कहा भाई ! तुम जिस समस्या का समाधान चाह रहे हो, मैं उसका समाधान कर सकता हूँ। लेकिन मैं पूछता हूँ कि इस समस्या के समाधान के बाद कोई दूसरी समस्या तो नहीं उठेगी। तो वह बोला, उठेगी और फिर उसका समाधान करने के लिए आऊँगा ! तब योगी ने समझाया इससे तो अच्छा है कि तुम सभी समस्याओं का समाधान ैसे किया जाय, यही जानलो तो फिर तुम अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकोगे। अंधे को एक स्थान से दूसरे स्थान से जाने के लिये बार-बार ारा देने की बजाय उसके आँखें लगादी जायं तो वह स्वतः ही चल लेगा। वैसे ही तुम समस्या के समाधान का मूल ही पकड़ लो और वह है शरीर के भीतर में रहने वाली आत्मा की सम्यक् निर्णायक शक्ति।

अध्यात्म जीवन में अपना चरण क्षेप करो, यह मानकर चलो कि हर आत्मा में अनन्त ज्ञान शक्ति है, पर वह ज्ञान चेतना ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त है। इससे ही वह अपनी ज्ञान शक्ति का रसपान नहीं कर पा रहा है, पर जैन दर्शन मानता है कि बन्धन की निर्मात्री आत्मा है तो बन्धन को तोड़ने वाली भी आत्मा ही है। अतः आत्मा सत्पुरुषार्थ के माध्यम से बन्धन से मुक्ति की प्रक्रिया को समझकर अपने आवृत्त ज्ञान को अनावृत्त करने का प्रयास करती है, तो उसके जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान हो सकता है। वह अनन्त शांति की अभिव्यक्ति कर सकती है, कारण कि केवलज्ञान पाने की क्षमता प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा में है।

प्रभु महावीर का गरिमामय जैन धर्म हमें बता रहा है कि हमारे भीतर भी महावीरत्व छिपा हुआ है। उसे सद्प्रयत्नों से, संयम निष्ठ आचरण से

उजागर कर सकते हैं, उस महावीरत्व को उजागर करने में सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान माता, पिता एवं गुरु का होता है, पर आज के माता-पिताओं की स्थिति बड़ी विचित्र होती जा रही है। जब मैं अमरावती से राजस्थान की ओर विहार कर रहा था, तब बीच रास्ते में एक ऐसा गाँव आया, जहाँ—गोचरी के घर बहुत कम होने से ज्यादा रुकने का प्रसंग नहीं बना, वहाँ से जल्दी ही विहार कर दिया, जो लोग पहुँचाने के लिये आये थे उनमें एक १२, १३ वर्षीय बालक भी था, जिसके पिताजी ने कहा—म० सा० इस बालक को आप अपने साथ ले जाओ और दीक्षा दे दो। तब मैंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कुछ सोचा और पूछा कि आप इतने उदार कैसे बन रहे हैं, जिससे इस नन्हे से बच्चे को दीक्षा देने के लिये तैयार हो गये ? तब उन्होंने कहा कि यह लड़का बड़ा नटखट उद्दण्ड एवं चंचल है, कभी तो मेरे ऊपर और कभी अपनी माँ के ऊपर भी यह हाथ उठा लेता है। तब मैंने पूछा कि—कभी आप पति-पत्नी में भी लड़ाई होती है क्या ? तब वह बोला हाँ कभी-कभी हो जाती है। तब मैंने कहा आपके ही संस्कारों का परिणाम है कि बच्चा उद्दंड बन गया है। जब तक माता-पिता नहीं सुधरेंगे, तब तक बच्चे को सुधारना व्यर्थ है। शिशु जीवन को सौम्य बनाने के लिये माता-पिता के सुन्दर कर्तव्य ही बच्चों में संस्कार का रूप लेते हैं। **जीवन दीप की ज्योति प्रज्वलित रखने के लिये संस्कार स्नेह (तेल) का कार्य करता है।** शिशु जीवन में पड़े सुन्दर या असुन्दर प्रभाव उसके पूरे जीवन को बनाने या बिगाड़ने के उत्तरदायी होते हैं। **संस्कार बीज है जीवन वृक्ष को पल्लवित करने के लिये।** बालक को जन्म देने मात्र से ही माता-पिता के कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, वरन् उसके जीवन को सुसंस्कारित बनाने का उत्तर-दायित्व भी उन्हीं पर है। शैशव में ही उदारता, वीरता, विनम्रता, धार्मिकता का गुण उसे माता के दूध के साथ मिलते रहना चाहिये। माता चाहे तो अपने बालक को कर्ण या भामाशाह बना सकती है। बालक को महावीर या भरत बनाना भी माता के हाथ में ही है। और चूहे की खड़खड़ाहट में घर छोड़कर भाग जाने वाला बुजदिल बनाना भी माता के हाथ में है। ब्रह्मचर्य के प्रज्ञापुंज से दीप्तिमान भीष्म भी उसे माता बना सकती है, और रावण बनाना भी उसी के हाथ है। बालक के जीवन पर एक सुशिक्षिता माता जो प्रभाव डाल सकती है, वहाँ सौ मास्टरों का प्रयास भी उसमें असफल रहेगा। माता का वीरत्व बालक को विश्व-विजयी बना सकता है। बन्धुओ ! जो बात मैं आपको बतला रहा था, उस नटखट बालक को दीक्षा देने के लिये कहने वाले पिता को मैंने कहा कि "ऐसे बच्चे को आप हमें देना चाहते हैं, यह यहाँ आकर भी क्या करेगा, कहीं गुस्से में आकर हमारे पात्रे फोड़ बैठेगा।" तो वह बोला—आप तो उसे सुधार सकते हैं। तो मैंने कहा सुधार सकते हैं, पर कठिनाई यह है कि साधना के लिए तो सबसे पहले स्वभाव में सौम्यता आना जरूरी है।

साधना में बढ़ने वाले जिज्ञासुओं को चाहिये कि आज से वे अपनी आत्म

साधना में विशेष रूप से तल्लीन बन जायं। आत्मा के कर्म कलिमल को प्रक्षालित करने का सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया है। संत-सतियों का समागम एवं वीर-वाणी का अनवरत प्रवाह पुण्यशाली पुरुषों को ही मिलता है, ऐसे दुर्लभ अवसर को सार्थक बनाना है।

आज चातुर्मासिक पक्खी के प्रसंग से संत-सतियाँ जिन विशेष नियमों में आबद्ध हो जायेंगे, उनका चातुर्मास पर्यन्त पालन करेंगे। पक्खी की दृष्टि से आपको यह चिंतन करना चाहिये कि संत-सती वर्ग तो वर्षा ऋतु के कारण अपनी सारी प्रवृत्तियों में कितनी यतना बरतते हैं, अपने संयमी-जीवन को सुरक्षित रखने के लिये। वहाँ आप श्रावक-श्राविकाओं को भी "अहिंसा परमोधर्म" का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। रात्रि भोजन करने वाला व्यक्ति कभी-कभी अपने जीवन को भी समाप्त कर देता है। अतः रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये। कच्चा पानी, जिसके अंदर सात प्रकार के जीवों की नियमा बताई है। वे सात प्रकार के जीव ये हैं—पानी का मूल जीव, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, लीलन फूलन के जीव तथा समुर्च्छिम का जीव अतः पीने के प्रसंग से कच्चा पानी चातुर्मास में काम में नहीं लाना चाहिये। धोवन पानी पियें जो हर क्षेत्र में सुलभता से मिल सकता है। सिर्फ विवेक रखने की आवश्यकता है! सचित पदार्थों का भी बनती कोशिश त्याग करना चाहिये। इस चातुर्मासिक अवधि में ब्रह्मचर्य व्रत का सद् अनुष्ठान जीवन में अपनाना चाहिये तथा परिग्रह वृत्ति का संकोच करना चाहिये। पुद्गलों से ममता हटाकर आत्मोन्मुखी बनें। क्रोधादि चार कषाय, अनन्त संसार वर्धक हैं। शास्त्रकारों ने कहा है।

"सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स"

ये कषाय भव-भवान्तरों के मूल का सिंचन करने वाले हैं। इनको जितनी मात्रा में जीतने का प्रयास करेंगे, उतनी ही आत्मिक शक्तियों का अभिवर्धन होगा। बनती कोशिश असत्य वचनों का प्रयोग नहीं करना, किसी को धोखा नहीं देना। अपनी श्रद्धा कैसी है? इसका विचार करना और सुश्रद्धा को मजबूत बनाना। इन चन्द बातों को आप चिन्तन मनन के साथ आत्मलक्ष्यी बनकर जीवन में अपनावें तो आपके लिए चातुर्मास की सार्थकता सिद्ध होगी।

चातुर्मास काल में साधु-साध्वी वर्ग को एक स्थान पर रहने का यही उद्देश्य है कि जीवों की सुरक्षा का ध्यान रखते हुए आत्म आराधना में तन्मय बनकर आध्यात्मिक जीवन की साधना सम्यक् रूपेण कर सकें। आध्यात्मिक जीवन की धार्मिक खेती को पनपाने का यह सौम्य प्रसंग है, आध्यात्मिक जीवन की खेती अच्छी तरह करने के लिये आप कटिबद्ध बन जायं। चाहे कोई आपको कितना ही उत्तेजित करे, पर आप अपने क्षमा गुण से विचलित न होवें। चाँटा

का उत्तर चाँटे से नहीं देवें, यह बात आपके जीवन को आदर्शमय बनाने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। रतलाम में चातुर्मास का प्रसंग आया, वहाँ सुनने को मिला कि व्याख्यान मंडप में व्यवस्था करने वाले भाई कन्हैयालालजी सा. बोथरा, जिनको एक भाई ने आवेश में आकर भरी सभा के बीच चाँटा मार दिया। हालांकि वे स्वयं स्वभाव के तेज बतलाते हैं, पर आध्यात्मिक वायु मंडल का अनुपम प्रभाव कि उन्होंने किसी भी रूप से कुछ भी प्रतिकार नहीं करते हुए हाथ जोड़कर अपने क्षमा गुण का परिचय दिया। जीवन को सही ढंग से जीने के लिये इस क्षमा को अपनावें।

बन्धुओ ! क्षमा से बढ़कर अपेक्षा से कोई तप नहीं है। आप अन्य कुछ भी नहीं कर सकें तो कम-से-कम क्षमा-वृत्ति का अधिकाधिक अपने जीवन में विकास करने का लक्ष्य बनावें। क्रोध का निमित्त उपस्थित होने पर क्षमा के गुणों का चिंतन करने से क्रोध का निग्रह हो सकता है। क्षमा अमृत की धारा है जो क्रोध के विष को समाप्त कर देती है, अन्तःकरण को शांति से आप्लावित कर देती है। हमारी चित्तवृत्तियों को स्वस्थ बनाये रखती है। अतः इस गरिमामय चातुर्मासिक अवधि को क्षमा गुण के विकास के साथ सुसफल बनावें, इन्हीं मंगलमय शुभ भावनाओं के साथ—

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

चातुर्मासिक चतुर्दशी
१-७-८५, सोमवार

२

जिनवाणी को समझें और स्वीकारें

आत्म-पवित्रता के लिए वीतराग देव का स्मरण मनो-मस्तिष्क में लेकर उनके द्वारा प्रवाहित ज्ञान-गंगा में अवगाहन करने का सुप्रसंग चल रहा है। यह अमूल्य जीवन और दुर्लभ मानव जन्म, आत्म स्वरूप की अवाप्ति के लिए अत्युत्तम है।

लक्ष्य निर्धारण करके लक्ष्य को साधने के लिए साधना के मार्ग विषयक चिन्तन, अतीव अपेक्षणीय है। साध्य का स्वरूप समझने हेतु प्रभु ने नय और निक्षेप का विधान किया है। साध्य ही नहीं वरन् साधना में प्रगति हेतु भी नय और निक्षेपों का विधान अति आवश्यक है। नयों के मूल सात भेद हैं—जैसे १—नैगम नय, २—संग्रह नय, ३—व्यवहार नय, ४—ऋजु सूत्र नय, ५—शब्द नय, ६—समभिरूढ नय एवं ७—भूत नय, ये दार्शनिक दृष्टिकोण से हैं। संक्षिप्त में नय के दो ही भेद बताये हैं—निश्चय नय, व्यवहार नय, अर्थात्—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। उनमें प्रारम्भ के तीन नय द्रव्यार्थिक नय की कोटि में लिये जाते हैं, अवशेष चार नय पर्यायार्थिक की कोटि में गिने जाते हैं, द्रव्यार्थिक नय में जो संग्रहनय है, उसे अपेक्षा से निश्चय नय भी कहते हैं और व्यवहार नय को व्यवहार नय में से लिया जाता है। आगे के नय पर्यायार्थिक नय में आ जाते हैं, यह एक अपेक्षा है। दूसरी अपेक्षा से सातों नय व्यवहार भी हैं और निश्चय नय भी हैं, क्योंकि गुणपर्यायवद् द्रव्य को सभी नय ग्रहण करते हैं। जो गुण-पर्यायवद् द्रव्य है, वह शाश्वत है, अतएव वह निश्चित ही नित्य है। इस दृष्टि से सातों सुनय निश्चय नय माने जाते हैं, और उसका जब पर्याय की दृष्टि से विवेचन किया जाता है तब उस विवेचना में सातों नयों को व्यवहार नय के साथ बतलाया जाता है। जिससे सातों नय व्यवहार नय में भी कहे जाते हैं।

जिस प्रकार विश्व की प्रत्येक वस्तु द्रव्य और पर्याय से युक्त होती है, वस्तु में से द्रव्य और पर्याय को त्रिकाल में भी अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार वस्तु के यथा तथ्य विवेचन करने में निश्चय नय और व्यवहार नय को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार एक सिक्के के दो पहलू होते हैं, उसी प्रकार हर वस्तु की विवेचना में निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों पहलू अनिवार्य हैं। आज के कई बुद्धिवादी कहलाने वाले व्यक्ति केवल निश्चय को ही लेकर चलते हैं, उनकी अवधारणा है कि व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं है।

निश्चय ही वस्तु के यथातथ्य स्वरूप को स्पष्ट करता है, उनका यह मानना सत्य नहीं है। जिस प्रकार एक ही तरफ से मुद्रांकित सिक्का खोटा माना जाता है और बाजार में नहीं चलता है, उसी प्रकार केवल निश्चय नय से मुद्राँकित नय का सिक्का खोटा होता है और विश्व की वस्तु विवेचना में यथार्थ रूप में खरा नहीं उतरता।

जिस प्रकार रथ के दो पहिये होने पर रथ चलता है, दिन रात से समय का विभाग किया जाता है, उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार से वस्तु स्वरूप की विवेचना की जाती है। इसी प्रकार सातों नय भी परस्पर सापेक्ष हैं, उसमें किसी भी एक नय को निरपेक्ष करने पर और दूसरे नय को मान लेने पर वे सुनय न रहकर दुर्नय हो जाते हैं। इन दोनों में से किसी एक का आग्रह करना दुर्नय है। और वह मिथ्यात्व की कोटि में आ जाता है। अब मैं निश्चय और व्यवहार का विस्तृत विवेचन न कर संक्षेप में इतना ही कहना चाहूँगा कि ये दोनों नय, वाणी से सत्य की किस प्रकार अभिव्यक्ति हो सकती है, इसका विधान करते हैं। प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है, उन्हें किसी एक पहलू से नहीं समझा जा सकता। एकांगी दृष्टि वस्तु को सही रूप में देखने में असमर्थ है, इसलिये जैन दर्शन में नयों का विवेचन है। जैन दर्शन के नयवाद को ठीक ढंग से समझ लेने पर समस्त विवादों का समाधान हो जाता है। नयवाद की यही उपयोगिता है।

अनेकान्तमय जैन दर्शन की आधारशिला इस नयवाद को, सम्यक् रूपेण समझने के लिये सम्यग्दर्शन की नितान्त आवश्यकता है। बन्धुओ! **"सद्धा परम दुल्लहा"** महामूल्यवान श्रद्धारूपी रत्न बहुत दुर्लभ है। जो वस्तु दुर्लभ होती है वह अनमोल एवं महत्त्वपूर्ण होती है। नवतत्त्व प्रकरण में बताया है कि "जो जीवादि तत्त्वों का यथार्थ में ज्ञाता होता है, उसे सम्यक्त्व होती है। कदाचित् क्षयोपशम की तरतमता से कोई पूर्णरूप से उन तत्त्वों को नहीं जानता है, किन्तु उसको "तंचेव सच्चं नीशंकजं जिणेहिं पवेययं" जो जिनेश्वर देव ने कहा है, वही सत्य है। जिनेश्वर भगवन्तों के वचन अन्यथा कदापि नहीं होते, ऐसी दृढ़ आस्था जिसको प्राप्त है, उसका सम्यक्त्व निश्चल है।"

जो आत्मा अन्तर्मुहूर्त भाव के लिए भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लेती है। उसका अनन्त संसार परिभ्रमण परिमित हो जाता है, अपार्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक वह संसार में परिभ्रमण नहीं करता, उसकी मुक्ति सुनिश्चित हो जाती है।

इस महिमामय सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण "सम" है। जो गुण सम्यग्दृष्टि आत्मा में अवश्य पाये जाते हैं, वे गुण सम्यक्त्व के लक्षण कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि

आत्मा "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की दृष्टि को अपने जीवन में प्रमुख रूप से स्थान देकर चलती है। वह यह मानती है कि जैसे सुख दुःख की अनुभूतियों का मैं अनुभव कर रहा हूँ वैसे ही सभी संसारी आत्माएँ सुख दुःख की अनुभूतियाँ करती हैं। अतः जो दूसरों का व्यवहार मुझे अपने लिए अच्छा नहीं लगता है, वैसा व्यवहार मैं अन्यों के साथ कभी नहीं करूं। 'सम' लक्षण जब अन्तर चेतना में विकसित हो जाता है तो जीवन समुज्ज्वल बनते कोई देरी नहीं लगती।

सम्यक्त्व का दूसरा लक्षण है 'संवेग' जिसका तात्पर्य है, सम पूर्वक वेग अर्थात् गति। अपने जीवन की गति को सौम्य बनाना चाहते हो तो सर्व प्रथम अपने जीवन में समता भावों का सृजन करें। मन ड्राईवर है, शरीर रूपी गाड़ी हांकने के लिये। मन से गति हो रही है, पर यह विचारना है कि मन की यह गति समभाव से हो रही है या विषम भाव से हो रही है?

जब मैं सवाईमाधोपुर में गया, वहाँ लगभग सवा सौ घर थे, वहुत से सामायिक, पौषध वगैरह हुए। व्याख्यान के प्रसंग से मैंने जब वहाँ 'सम' शब्द की व्याख्या की, तब एक परिवार जहाँ देवरानी, जेठानी के वीच झगड़ा हो रहा था, मेरे कहने से भाई तो परस्पर झगड़ा समाप्त करने के लिए तैयार थे, पर उनकी पत्नियाँ सहमत नहीं हो रही थीं, जब मैंने उन बहिनों को समझाया तब जेठानी ने कहा कि मैं तेले की, अठाई की तपस्या कर सकती हूँ, पर देवरानी के घर नहीं जाऊँगी। तब मैंने समझाया कि तुम तेला क्या मासखमण भी करलो, परन्तु जब तक प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखने की भावना व सम्यक्त्व का भाव नहीं वनेगा, तब तक तुम्हारी तपस्या का विशेष कुछ भी फल नहीं मिलने वाला है। 'उत्तराध्यन' सूत्र में प्रभु महावीर ने बताया है कि—

"मासे मासे जो बालो, कुसग्गेणं तुभुंजई।
न सो सुयक्खाय धम्मरस, कलं अग्घइ सोलसिं॥"

अर्थात् "जो बालक अर्थात् अज्ञानी जीव प्रति मास तपश्चर्या करके पारणे में कुशाग्र-मात्र आहार करता है, वह तीर्थंकर देव के कहे हुए सुविख्यात धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता है।"

सम्यक्त्व विहीन तपस्या का कुछ भी महत्त्व नहीं है। और समभाव की सर्जना के बिना सम्यक्त्व की स्थिति जीवन में नहीं रह पाती है। यह सुनकर वह बहिन जल्दी से सरल भावों के साथ सारा झगड़ा समेट लेती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक समभाव की वृत्ति जीवन में नहीं आयेगी, तब तक सम्यक् वेग की स्थिति भी जीवन में प्राप्त नहीं कर सकोगे। आत्म शक्ति, जो तीन योग में सम्बन्धित है। जब मन, वचन और काया में सम्यक् वेग आजाएगा

तो आत्म-शक्ति की अनूठी अपूर्व उपलब्धि हो जायेगी। मिथ्यात्व को जड़ मूल से उखाड़ने के लिए संवेग अति आवश्यक है। विभाव वृत्तियों से जितनी विषमता जीवन में व्याप्त है, उसे स्वभाव वृत्तियों में आकर समता में बदलने का यह दुर्लभ मनुष्य जन्म का भव्य प्रसंग मिला है।

जिसमें ज्ञान नहीं, उपयोग नहीं वह जड़ तत्त्व है, जो जड़ है, उसमें चेतना नहीं होने से राग-द्वेषादि कुछ भी वृत्तियाँ नहीं होती हैं, राग-द्वेष संकल्प-विकल्प की स्थितियाँ चैतन्य में बनती हैं। वह चैतन्य अपने-अपने निज स्वरूप को छोड़-कर राग-द्वेषादि विभाव वृत्तियों में बह रहा है। उसे विभाव से हटाकर स्वभाव में लाना है। जब आत्मा स्वरूप में पूर्ण विकसित हो जाती है, अर्थात् वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाती है, उस अवस्था में, उसमें, राग-द्वेष नहीं रहते हैं। वह चेतना राग-द्वेष रहित बन जाती है। वर्तमान में इस संसार में रह रहे व्यक्ति बंध से जकड़े हुए हैं और दुःख भोग रहे हैं।

यह चतुर्गति रूप संसार एक तरह से जेल ही है। जहाँ यह जीवात्मा कर्म बेड़ियों में बंधी विविध यातनाएँ सहन कर रही है, पर आज भौतिक-ऐश्वर्य-विलास को प्राप्त मानव कहाँ मान रहा है कि मैं जेल में हूँ? यही नहीं अनन्त शक्तिमय आत्म स्वरूप से अनभिज्ञ बन, राग द्वेष आदि वृत्तियों को विकसित करता हुआ इस पवित्र आत्मा को संसार रूपी जेल में लम्बी स्थिति तक रखने का कार्य कर रहा है। यह मानकर चलिये कि राग, द्वेष, आसक्ति, मोह आदि-आदि जो आत्मा को मलिन बनाने वाली विभाव-वृत्तियाँ हैं, उनसे यह आत्मा जितनी-जितनी परे हटती है—उतनी-उतनी अपने निजी आनन्दमय स्वरूप की अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। जितनी-जितनी त्याग वृत्ति जीवन में पनपती है, उतनी-उतनी बंधन से आत्मा मुक्त होती है।

तपश्चर्या शरीर से ममत्व हटाने पर ही हो सकती है। जब तक शरीर पर मूर्छा भाव है, तब तक आप तपश्चर्या में अपना कदम आगे नहीं बढ़ा सकोगे। आज कई व्यक्ति स्वयं तो आसक्ति को नहीं छोड़ते पर जो अन्य आसक्ति छोड़कर तपोमार्ग में आगे बढ़ना चाहते हैं, उसमें भी बाधक बनते हैं। मैं आपसे यही कहना चाहूँगा कि आप तपस्या न भी कर सकें, तो कोई बात नहीं, पर अन्य-अन्य भी बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिनसे आसक्ति हटाकर अपनी आत्मा को कर्म से हल्का बना सकते हैं। जैसे व्याख्यान स्थल में हों तो जीमन की आसक्ति को छोड़ें, स्वधर्मी अन्य भाइयों को भी बैठने का बराबर स्थान देवें, किसी के द्वारा धक्का लग जाय तो क्षमा गुण प्रगट करें।

आज के लोग, किसको महत्त्व दे रहे हैं, भौतिक सम्पत्ति को या आध्या-त्मिक सम्पत्ति को? पैसों का मूल्यांकन करना है, अथवा भगवान् की आज्ञा का

मूल्यांकन करना है ? यदि आज आपके आमदनी ज्यादा होने वाली है और आप धार्मिक स्थल में आने के समय में अर्थात् व्याख्यान में आने के समय में भी दुकान में बैठे हों तो किसका आप मूल्यांकन कर रहे हैं ? पैसों का या आत्मिक भाव की आराधना का ? आपकी आत्मा ऐसी वीर वन जाय कि पैसों से, भौतिकता से, आसक्ति छोड़ संवेग की स्थिति से मोक्ष प्राप्ति के तीव्र अभिलाषी बनकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो जाय ।

आत्म रमण रूप सामायिक का महत्त्व भी समझें । आपको ज्ञात होगा कि जब राजा श्रेणिक ने पूर्व निबद्ध नरक के आयुष्य को विफल करने का उपाय पूछा तब भगवान ने कहा कि--यदि तुम श्रमणोपासक पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीद सको तो नरक से अपना बचाव कर सकते हो । दूसरे दिन प्रातःकाल ही राजा श्रेणिक पूणिया श्रावक के आंगन में पहुँचा । राजा का बिना किसी कारण और बिना निमन्त्रण अपने आंगन में देख पूणिया श्रावक हर्ष विभोर हो उठा । प्रसन्नता के साथ राजा के आगमन को प्रश्न चिह्न बनाये खड़ा रहा । पूणिया श्रावक की प्रश्नायित आँखों पर गौरव और याचना भरी एक निगाह डालते हुए श्रेणिक महाराज ने पूछा "क्या तुम प्रतिदिन सामायिक करते हो ?" पूणिया श्रावक ने प्रत्युत्तर दिया कि—हाँ राजन् ! **सामायिक मेरी जीवन यात्रा का प्रथम चरण है ।**

तब श्रेणिक महाराज ने कहा—तुमने तो बहुत सामायिकें की हैं और कर रहे हो । क्या तुम मुझे अपनी एक सामायिक दे सकते हो ? यह सुनकर पूणिया श्रावक कहने लगा— स्वामिन् । मेरे पास जो कुछ है, वह आपका ही है, मैं आपके किसी काम आ सकूं तो उससे बढ़कर और क्या बात होगी ? और जब श्रेणिक महाराज एवं पूणिया श्रावक लेने देने के लिए तत्पर हो गये । तब भगवान् महावीर से सामायिक की कीमत पूछी, तो भगवान् ने फरमाया कि—राजन् ! तुम्हारे भण्डार में कितनी सम्पत्ति है ? सम्राट् ने प्रत्युत्तर दिया—भगवन् ! बावन डूंगरियां खड़ी हो जाय इतनी सम्पत्ति है, तब भगवान् ने कहा कि—राजन् ! आपकी यह सम्पत्ति तो पूणिया श्रावक की सामायिक की दलाली के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं । तो फिर सामायिक का मूल्य कहां से दोगे ?

बन्धुओ ! सामायिक की दलाली का महत्त्व तो आप समझ ही गये होंगे, तो फिर विचार करिये कि सामायिक का कितना क्या महत्त्व है ? आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं । आप सामायिक की आराधना करते हुए वीतराग वाणी का श्रवण करें, और इस बात का ज्ञान करें कि भगवान् की किस विषय में क्या-क्या आज्ञाएँ हैं और उसका मूल्यांकन कितना कर रहे हैं ?

भगवान् ने 'स्थानाङ्ग' सूत्र में बताया है कि संयमी वस्त्र क्यों रखता है ? इसके तीन कारण हैं, जैसे कि इस विषयक मूल पाठ है—

"तिहिं ठाणेहिं वत्थं घरेज्जा, तंजहा हिरिवत्तियं,
दुगुंछावत्तियं, परिसहवत्तियं"

अर्थात् तीन कारणों से साधु साध्वी वस्त्र को धारण करें, जैसे— १. लज्जा के कारण, २. लोग जुगुप्सा न करें इसलिए तथा ३. शीत आदि परिषहों को रोकने के लिये। (स्थानाङ्ग सूत्र, तीसरा स्थान, तीसरा उद्देशक)

बन्धुओ ! साधु जो वस्त्र ग्रहण करता है, उसमें मैल तो हो ही जाता है, और यदि उसमें जूं पड़ जाय तो उसकी सुरक्षा करना, खून पिलाना इत्यादि सारी यातना की वृत्ति भगवान् ने बताई है, पर जूं आदि न पड़े इसके लिये वस्त्र धोवन का, वह वस्त्र किन पात्रों में धोयें इसके लिए साधु को विवेक बताया है। साधु को वस्त्र लेने के तीन कारणों में से एक कारण—न दुगुंछा, जुगुप्सा न करें, यह भी वतलाया है, जब जुगुप्सा मिटाने के लिए वस्त्र का विधान प्रभु ने किया, तो जो वस्त्र पहना जा रहा हो यदि वह इतना मलिन एवं दुर्गुन्धमय हो जाय कि जिससे जूंए पड़ने लग जाय। प्रथम महाव्रत में दोष का प्रसंग आ जाय, लोग दुगुंछा करने लगें तो फिर क्या यह भगवान् की आज्ञा होगी ? नहीं। अतः वस्त्र भी ऐसा हो कि न लोग दुगुंछा करें और न ही वह चाक चिक्य से युक्त हो। ऐसा वस्त्र पहनना भगवान् की आज्ञा में है, इस आज्ञा को पालने के लिए यदि वस्त्र इतना मलिन हो रहा हो कि उसमें फूलन या जूंए पड़ने की सम्भावना है तो साधु विवेक के साथ उसे धो ले, ताकि प्रथम महाव्रत की सुरक्षापूर्वक भगवान् की आज्ञा का भी पालन हो जाय।

महाप्रभु ने साधु को तीन तरह के पात्र रखने का भी विधान किया है।

"कप्पइ णिग्गंथाणं वा, णिग्गंथीणं वा तओ पत्याइं, धारित्तए वा,
परिहत्तिए वा, तंजहा लाउयपाए वा दारुयपाए वा महियापाए वा ॥"

अर्थात् साधु और साध्वियों को तुम्बी के, काष्ट के और मिट्टी के बने हुए तीन प्रकार के पात्रों को ही ग्रहण करना और उनका उपयोग करना कल्पता है। (स्थानाङ्ग सूत्र, तीसरा स्थान, तीसरा उद्देशक)

अतः मिट्टी का बर्तन जो पुराना है, गृहस्थों के अब काम का नहीं है, उसे लेकर वस्त्र धोवन योग्य बना कर उसमें साधु यदि विवेक के साथ वस्त्र धोता है, तो वह भगवान् की आज्ञा की आराधना करता है।

यह तो आपको जानकारी के लिए साधु जीवन सम्बन्धी वात भी वतला गया हूँ। अगर आप लोगों को पूर्ण आत्म-प्रकाश उजागर करना है तो जैसे— आप लोग शरीर की बाह्य मिट्टी को हटाने के लिए स्नान करते हो, साबुन लगाते हो, उसी प्रकार आत्मा को साफ करने के लिये सामायिक की स्नान

करिये। ध्यान का साबुन लगाइये। यह स्नान महत्त्वपूर्ण है। इससे आपको आत्मा की उज्ज्वलता प्राप्त हो सकती है। आप यह हर समय ध्यान रखें कि मैं इस प्रकार के चिन्तन के साथ सम्यक् श्रद्धा में मजबूत रहते हुए जितना तप, त्याग, तिविहार, चौविहार, सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान कर सकूँ करूँ, इस प्रकार करने से आपकी आत्मा पवित्र बनेगी, जीवन सफल बनेगा।

बन्धन से मुक्त होने के लिए स्वदार-मर्यादा और परदार का त्याग एवं परिग्रह वृत्ति को संकुचित करिये। सम्पत्ति की मर्यादा कर विवेकपूर्वक उस प्रतिज्ञा की परिपालना करना। कषाय पतला करने में यत्नशील रहना, दान, शील, तप, भावना में अधिक से अधिक अपनी आत्मा को जोड़ना। उत्तेजना वाचक शब्दों को सुनकर भी क्षमाशील बन क्षमा गुण का विकास करना, आत्मपोषक है, इसके लिए विशेष रूप से आप सभी को चेतावनी है।

चातुर्मास काल में प्रत्येक भाई बहिनों को अत्यधिक उदारता का व्यवहार करना चाहिये। मेघकुमार के पूर्व भव का जीव हाथी, शशक का उदाहरण समक्ष रखकर हर आत्मा को साता पहुँचाये। ज्ञान, दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिए चातुर्मास काल प्रारम्भ हो चुका है। अतः रत्नत्रय की आराधना में संलग्न हो जायें।

प्रत्येक आत्मा निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को सम्बन्धित करके अपनी आत्मोन्नति का लक्ष्य प्रमुख रूप से निर्धारित कर वीतराग भगवान् की आज्ञा की आराधना करेगी तो अवश्यमेव उस आत्मा के लिए वर्षावास के ये दिन सार्थक बनेंगे।

मोटा उपाश्रय — २-७-८५
घाटकोपर, बम्बई — मंगलवार

३ ऐसे जियें

जिन आत्माओं ने, अनादि अनन्त कारण से आ रहे कर्मप्रवाह को अपुनर्भाव से व्यवच्छिन्न कर दिया है। विभाव में भटक रही आत्मा के स्वभाव को अभिव्यक्त कर दिया है। चेतना का भौतिक स्वरूप प्रकट कर दिया है। जिनके ज्ञान में लोकालोक हस्तामलकवत् स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। जिनके किसी भी प्रकार का राग-द्वेष अवशेष नहीं रहा है। मोह की दुर्भेद जड़ों को जिन्होंने जड़ मूल से उखाड़कर फेंक दिया है। विचारों के प्रवाह को सर्वथा रूप से संशोधित कर दिया है। ऐसी वीतराग दशा प्राप्त आत्मा का, भव्यात्माओं को प्रति समय स्मरण करते रहना चाहिये।

यह स्पष्ट सत्य है कि जिसका आकार मन में बसाया जाता है, वह आदमी भी एक दिन उसी रूप में बन सकता है। जिस प्रकार दर्पण के सामने जैसा बिम्ब होगा वैसा ही उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि सामने राक्षस का बिम्ब होगा तो दर्पण में भी राक्षस का ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का मन जिसके प्रति सर्वथा रूप से अनुरक्त होता है तो उससे उस व्यक्ति की आत्मा प्रभावित हुए बिना नहीं रहती है। ध्यान साधना का महत्त्व भी इसलिए है कि जिस साध्य को हमें पाना है उसका मन में ध्यान किया जाय, मन को वह साध्य पाने के लिए मजबूत किया जाय, यदि मन उस साध्य को पाने के लिए मजबूत हो जाता है तो आत्मा की शक्ति मन से प्रवाहित हो मजबूत होकर वचन और काया में भी परिणत होने लग जाती है। इसका आप व्यावहारिक अनुभव कर सकते हैं। कोई भी कार्य यदि आपको करना है तो उसका नक्शा पहले मन में तैयार होगा। जब मन में अच्छी तरह नक्शा जम जायेगा, तभी अस्खलित रूप से, उसी मन के विचारों के अनुरूप वचन प्रयोग होगा और वही काया में भी परिणित होने लगेगा।

जब आज के वैज्ञानिक मन की कोशिश से हजारों मील दूर रहने वाले व्यक्ति को प्रभावित कर सकते हैं तो क्या उस शक्ति से आत्मा प्रभावित नहीं होती? वलिक यों कहना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति बाद में प्रभावित होगा, पहले उसकी खुद की आत्मा प्रभावित होगी। जिस मालिक के लिए नौकर फूल तोड़कर ले जा रहा है, वह मालिक तो फूल को हाथ में आने पर ही सूंघ सकेगा, पर उसके पहले वह नौकर सुगन्ध को ले लेता है। वैसे ही हमारे विचारों

से सवसे पहले हम ही प्रभावित होते हैं। यदि हमारे विचार अच्छे होंगे तो हमारा चैतन्य देव भी पवित्र रहेगा और हमारे विचार बुरे होंगे तो हमारी चेतना भी बुरी होगी।

जिस प्रकार क्रोध करने वाला व्यक्ति जिस पर क्रोध कर रहा है, गुस्से में उवल कर अनर्गल बोल रहा है। वह व्यक्ति उस सामने वाले व्यक्ति के क्रोध को शांत भाव से सहन कर लेता है, तो उसका तो कुछ नहीं बिगड़ता, बल्कि उसके तो शक्ति संचित होती है पर क्रोध करने वाले व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी तरह से हानि होती है।

आज के युग में मन की धारणाओं से होने वाले अनेक प्रयोग सामने आ चुके हैं। वैज्ञानिकों ने प्रत्यक्ष कर दिखला दिया है कि मन के प्रयोग से कैसे विचित्र कार्य संघटित किये जा सकते हैं। चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राह के अन्दर घटित वेटिस्लावकापका का घटनाक्रम पढ़ने को मिला था। उसमें वतलाया गया है कि वह 'प्राह' के बाहर बैठकर संकल्प करके वृक्ष पर बैठे पक्षियों को नीचे गिराकर खत्म कर देता था। जिसके इस प्रयोग को देखने व जानने के लिए योरोप के लगभग २०० वैज्ञानिक उसके पास आये थे। उन्हें देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था, खोजने पर ज्ञात हुआ कि वह व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति से उन पक्षियों की प्राण ऊर्जा को खींच लेता था, इस प्रकार उन्हें खत्म कर देता था। संकल्प शक्ति के ऐसे अनेक परिणाम सामने आये हैं।

आगम के धरातल पर तो मन के विचारों का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है, यह स्पष्ट ही है। प्रसन्नचंद्र राजर्षि के विचारों द्वारा आने वाला उतार-चढ़ाव इसका पुष्ट प्रमाण है। तंदुलमत्स्य द्वारा हिंसक मनोवृत्ति से होने वाली सातवीं नरक के बंधन की स्थिति भी विचारों के परिणाम को स्पष्ट करती है। इस प्रकार जब अशुभ विचार अपनी आत्मा को एवं बाहरी आत्माओं को प्रभावित करने में इतने समर्थ हैं तो शुभ विचार अपनी आत्मा को शुभ रूप में प्रभावित करने में कैसे नहीं समर्थ होंगे? अवश्य समर्थ होंगे।

बन्धुओ! इसलिए मैं प्रार्थना के माध्यम से अपने आप में प्रभु का स्मरण करने के लिए कह रहा था। जब स्वयं की संकल्प शक्ति, महाप्रभु के स्वरूप की ओर नियोजित होगी और उधर ही निरन्तर लगती जायेगी तो एक न एक दिन वह परम स्वरूप को प्राप्त करने के लिए भी समर्थ हो जायेगी। जैसा कि नीतिकार कहते हैं कि—

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"

जैसी जिसकी भावना होती है, उसी रूप में सिद्ध भी होती है। किन्तु जो आत्माएं महाप्रभु के स्वरूप को स्मरण न कर इन्द्रियों की आसक्ति में रत

रहती हैं, भौतिक तत्त्वों को ही महत्त्वपूर्ण समझ कर चलती हैं। ऐसी आत्माएं कभी भी अपने आत्मिक स्वरूप को निखार नहीं पातीं हैं। और जब तक आत्मा का भौतिक स्वरूप नहीं निखरता तब तक वह सही रूप में सुखी भी नहीं बन सकती।

जीवन तो सभी जी रहे हैं पर जीना कैसे चाहिये इसका बहुत कम लोगों को भान होता है। वे तो केवल एक हेबिट से जी रहे हैं। खाना, खाना है, इसलिए खा लेते हैं, पानी, पीना है इसलिए पी लेते हैं, सोना है इसलिए सो लेते हैं किन्तु इन सब कार्यों को किस प्रकार किया जाय, इसे करते हुए मनोयोग की स्थिति कैसी होनी चाहिये। इन सब बातों की ओर आज के मानव का ध्यान बहुत कम जाता है। इसी का परिणाम यह है कि वह शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक किसी भी ढंग से सुख की वास्तविक खोज नहीं कर पाता।

सुख से जीने के लिए सबसे पहले अपने विचारों को परिष्कृत करने की नितान्त आवश्यकता है। जब पानी की टंकी में रहने वाला पानी फिल्टर होगा, तभी नलों के माध्यम से आने वाला पानी भी साफ स्वच्छ आयेगा। यदि टंकी का पानी साफ नहीं है तो नलों में आने वाले पानी में तो स्वच्छता आ ही नहीं सकती। क्योंकि नलों में वही पानी आता है, जो टंकी में है। ठीक इसी प्रकार जब मानसिक जीवन स्वच्छ, नैतिक एवं धार्मिक नहीं बनता तब तक व्यावहारिक जीवन में नैतिकता, प्रामाणिकता एवं सुख की वास्तविक स्थिति नहीं आ सकती। यदि ऊपरी सुख की स्थिति परिलक्षित भी हो तो वह चमकता हुआ कांच का टुकड़ा जो हीरे का आभास करा देता है, उसी रूप में ही वह बाह्य स्थिति, सुख का आभास कराने वाली होगी। इसलिए भव्यात्माओं को ऐसी बाहरी सजावट से हटकर अन्तर की सजावट को करने के लिए प्रयास करना चाहिये। सुख से जीने के लिए सबसे पहले मानसिक संतुलन आवश्यक है।

आज के कई भाई सुख पाने के लिए धन-संपत्ति को महत्त्वपूर्ण समझते हैं, वे धन से ही सुखपूर्वक जीने का प्रयास करते हैं। पर उनका यह मानना निरीह भ्रान्ति भूल है। केवल धन से कोई भी व्यक्ति सुख से जी नहीं सकता। एक पशु जिसे यह ज्ञात है कि इस जमीन के नीचे करोड़ों की सम्पत्ति है। वह उसका संरक्षण करके भी चलता है। ध्यान भी रखता है कि कोई उसे उठाकर न ले जाय। किन्तु क्या वह पशु उस धन से सुख पा सकता है। शांति से जी सकता है ? कदापि नहीं। बल्कि उसके संरक्षण के लिए चिन्तित होने से और अधिक दुःखी बन जाता है। यही हाल मानव का भी हो रहा है। वह भी धन-दौलत के पीछे बेतहाशा भागता हुआ नजर आ रहा है। उसे यही लग रहा है मैं धन पाकर शांति से जी सकूंगा। पर जब पा लेता है तो उसे ज्ञात होता है कि जो मैं सोच रहा था, वह बिल्कुल गलत साबित हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि धन से सुख पाने के लिए भी मन को साफ करना होगा।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में जाकर जीने का प्रयास किया जाय, सभी जगह यह आवश्यक है कि मन का प्रयोग सही रूप में हो। कहते हैं कि एक संन्यासी थे। जो सुबह शाम भोजन करते थे और दिन में हल चलाया करते थे। ध्यान जप आदि वे कभी नहीं करते थे। उनकी यह स्थिति देखकर एक सुज्ञ व्यक्ति ने उनसे यह पूछ ही लिया कि आप यह सब क्या करते हैं ? सुबह-शाम भोजन कर लेते हैं और पूरे दिन खेत में हल चलाते हैं। तो फिर आप संन्यासी कैसे ? यह सब तो गृहस्थ के कार्य हैं और वे ही आप करते हैं तो आप और हमारे में अन्तर ही क्या रह जाता है।

संन्यासी उसकी बात को सुनकर मुस्कराये और शांत भाव से बोले—हाँ भाई ! बाहरी दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है और आत्मा की मौलिक दृष्टि से भी कोई अन्तर नहीं है, मैं भी भोजन करता हूँ और तुम भी भोजन करते हो, लेकिन मैं जब भोजन कर रहा होता हूँ तब मैं केवल भोजन ही करता हूँ और कुछ कार्य नहीं करता और जब मैं हल चला रहा होता हूँ तो मैं केवल हल चला रहा होता हूँ इसके अलावा और कुछ कार्य नहीं करता और जब मैं सो रहा होता हूँ तब केवल सोता हूँ, इसके अलावा कुछ भी कार्य नहीं करता हूँ।

तब वह सुज्ञ व्यक्ति बोला— हम भी तो यही करते हैं, दूसरे कार्य हम भी उस समय कहाँ करते हैं ?

तब संन्यासी ने कहा—विचार करो, जिस समय तुम भोजन कर रहे हो, उस समय जब तुम्हारा हाथ रोटी से साग को लेने के लिए कटोरी में जाता है उस समय तुम्हारा ध्यान कहाँ जाता है ? और जब तुम उस ग्रास को मुँह में रखकर चबाते हो तब तुम्हारा ध्यान कहाँ जाता है ? और जब तुम उसे पेट में उतारते हो उस समय क्या सोचते हो ?

यह सुनकर वह बोला—यह सब तो हमें ध्यान में भी नहीं रहता कि कब रोटी तोड़ी, कब चबाई और कब पेट में उतारी।

संन्यासी ने कहा बस यहीं तो अन्तर आता है। तुम्हारा ध्यान, जिस कार्य को तुम करने जा रहे हो उस ओर नहीं रह पाता। इसीलिए तुम साधना भी नहीं कर पाते।

साधना करने वालों को सबसे पहले व्यावहारिक जीवन को जीने के लिए अपना ध्यान व्यावहारिक कार्यों में केन्द्रित करना होता है।

यह तो रूपक है, यह इस बात को भलीभाँति स्पष्ट करता है कि आप साधना का परिपूर्ण स्वरूप जो जीवन के लिए आवश्यक है, वह नहीं अपना सकते तो कम से कम गृहस्थ जीवन में भी सही ढंग से जीने के लिए मन मस्तिष्क

को सब से पहले तीव्र रोष अभिमान, छल-छद्म, लोभ आदि से हटाने का प्रयास करें। मस्तिष्क का संतुलन किसी भी हालत में न खोयें। जो भी काम करें, चाहे वह छोटा से छोटा भी क्यों न हो, उसे मनोयोग पूर्वक संपन्न करने का प्रयास करें, जिससे कि आपको सही ढंग से जीने की कला प्राप्त हो सके।

मनोयोग से किये जाने वाला कार्य अच्छा होगा और साथ ही मन की साधना भी सधेगी और एक दिन वह इस जीवन और पर जीवन दोनों को पवित्र बनाने में भी समर्थ हो जायेगी।

मोटा उपाश्रय ३–७–८५
घाटकोपर, बम्बई बुधवार



४ वेग हो संवेग का

सकल विश्व में श्रेष्ठतम परम सिद्ध स्वरूप, यदि किसी का है तो वह परमात्मा का ही है। **परमश्चासौ आत्मा-परमात्मा**। सबसे ऊँची आत्मा अर्थात् गुणों से जो परिपूर्ण हो गई है, परम पद को प्राप्त हो गई है, वह आत्मा परमात्मा है। ज्ञानीजन सम्बोधित कर रहे हैं कि तुम मनुष्य जीवन में रहकर ऐसी शक्ति प्राप्त करो कि तुम भी सत्पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को परमात्मा बना सको। प्रत्येक आत्मा यही इच्छा रखती है कि मुझे परमात्मा पद मिले। परमात्मा का पद, भक्त को कोई प्राप्त करा सके ऐसी शक्ति किसी संसारी प्राणी में नहीं है। भक्त स्वयं ही स्व पुरुषार्थ से महान् बन सकता है। प्रत्येक मनुष्य को ऐसे महान् पद की प्राप्ति हेतु सद्पुरुषार्थ अपनाना अतिआवश्यक है। वह सबसे पहले इस जीवन में समता की भूमिका अपनाकर वेग अर्थात् मन में उत्साह पैदा करके परम पद पाने के लिए सत्पुरुषार्थ में लग जाय। अपने जीवन से सम्बन्धित जितनी भी क्रियायें हैं। उन सबमें विवेक रखकर आगे बढ़ता जाए।

गौतम स्वामी ने प्रभु से पूछा—संवेगेणं भंते जीवे किं जणयई ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने यह संकेत दिया कि—**संवेगेणं अणुत्तरं धम्मं सद्धं जणयई।** संवेग से अनुत्तर धर्म की अवाप्ति होती है। जैसे—राष्ट्रपति के सिंहासन पर बैठने की कोई इच्छा करता है, तो उसके योग्य पुरुषार्थ करना पड़ता है, जनता की सेवा करनी पड़ती है। तब कहीं जाकर उसे राष्ट्रपति पद मिलता है। वैसे ही आध्यात्मिक जीवन का राष्ट्रपति पद परमात्म पद है। उसे सत्पुरुषार्थ जगाकर तदनुरूप साधना करके ही प्राप्त किया जा सकता है। मन की क्रिया का हमारे पुरुषार्थ के साथ बहुत सम्बन्ध है। कभी-कभी रोष में आकर भी मन की प्रतिक्रिया होती है, और कभी शांत मन से भी। जैसे कि कभी-कभी रोष में आकर कोई व्यक्ति भूखा रह जाता है। तो उसमें तपश्चर्या का नाम भले दे दिया जाय पर वह क्रिया संसारवर्द्धक होती है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि एक बार के क्रोध से दो पौंड खून जल जाता है तथा अवशेष खून में पॉइजन उत्पन्न हो जाता है। जिस पॉइजन का प्रयोग करने पर अनुमानतः ८० व्यक्तियों का खात्मा भी हो सकता है। क्रोध के आवेश में कभी-कभी मनुष्य के ज्ञान तन्तु भी फट जाते हैं, जिससे वह लकवा जैसी भयंकर व मरणांत बीमारियों का भी शिकार हो जाता है, इस प्रकार शारीरिक हानि तो होती है पर मानसिक हानि भी कुछ कम नहीं होती है। क्रोध के आवेग से मन की कोमलता नष्ट हो जाती

है और वह कठोर बन जाता है। पर यदि मन का वह आवेग संवेग में बदल जाय तो वही आत्मा अपना संसार परिमित कर लेती है। शास्त्रकारों का कहना है कि—

"कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि ए ए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्सा ।।"

क्रोध, मान, माया और लोभ का जब तक सम्यक् निग्रह का प्रयत्न नहीं किया, तब तक सारी क्रियायें संसार वर्धक ही होंगी। पर संवेग की प्रवृत्ति जीवन में आ जाये तो अनन्तानुबन्धी आदि अतिशय संसार वर्धक कषाय का निग्रह सरलता से किया जा सकता है।

अपनी आत्मा को साधने के लिए जो क्रिया की जाती है, वह अध्यात्म है और जो चारों गति को साधने के लिए क्रिया की जा रही है, वह अध्यात्म नहीं है। जरा आप विचार करें, राम, सीता, लक्ष्मण ये तीनों वन में थे। उस समय राम अन्य की भलाई की प्रवृत्ति में संलग्न थे। लक्ष्मण भी उन्हीं का अनुकरण कर रहे थे, और सीता जो कि पतिव्रता नारी थी, जिसकी पतिव्रता की भावना से ही क्रियायें चल रही थीं। उस समय रावण की भी क्रिया हो रही थी। वह सोच रहा था कि महारानी सीता मेरी रानी बन जाय, यह उसकी मन की क्रिया थी। वह विचार कर रहा था कि सीता धार्मिक प्रवृत्ति वाली है। मैं इसे जंगल से उठाकर लाऊँ पर लाऊँ कैसे? उसके मन में मेरे प्रति जब तक अनुराग न हो तव तक वह मेरी होने वाली नहीं है। अतः मुझे क्या करना चाहिये? उसके मन में उस समय विषम वेग था, विचार करते-करते उसके मन में यह भावना हुई कि सीता आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाली है। उसे धार्मिक पोशाक से, धार्मिक अभिनय करके ही लाया जा सकता है। बताते हैं, उसने योगी की पोशाक बनाई। संसार बढ़ाने वाली इस क्रिया का आश्रय लेकर कपट वेश से सीता के नजदीक पहुँचा। तब सीता को बहुत प्रफुल्लता हुई, पर विचार आया कि यह योगी एकांकी कैसे? फिर भी शिष्टाचार वश उसे सत्कार देने की भावना से सीताजी कहने लगीं—लो, मैं आपको दान देती हूँ। लगभग ऐसा वर्णन तुलसीकृत रामायण में मिलता है। जब वह कार (मर्यादा) के भीतर रहकर दान देने लगी—तब रावण ने कहा कि कार से बाहर आकर दान दो और जब वह बाहर आयी तो रावण उसे उठाकर ले गया। यह तुलसीकृत रामायण की बात शिक्षा दे रही है कि इस कलियुग में ऐसा रावण न हो, जो जोगी के वेष में आकर तुम्हारी सीता को उठाकर ले जाये। अर्थात् एकाकी फिरने वालों से सावधान रहने की आवश्यकता है। साधु जीवन की चर्या का पूरा ज्ञान आपको रखना है। आध्यात्मिक वेष पहनकर धोखा देने वालों से सावधान रहना है। ध्यान और साधना के नाम से अनर्गल प्रलाप करने वाले तथाकथित साधुओं से भी सावधान रहना अत्यावश्यक है।

एक दिन मंदोदरी रावण से कहने लगी कि—आप इस महान् सती नारी को उठाकर ले आये हो, पर इसका परिणाम बहुत खराब होगा। आप इस अनीति का परित्याग करो। जाओ, राम से क्षमा मांगलो, जिससे आपके जीवन में चार चाँद लग जायेंगे, और सारी कपट क्रियाओं से आपको मुक्ति मिल जायेगी। पर बार-बार कहने पर भी रावण ने मना कर दिया। रावण के यह तीव्र कषाय मोह की स्थिति थी। इसलिए अपराध की माफी मांगने के लिए तैयार नहीं हुआ। गल्ती होने के बाद गल्ती को गल्ती मानकर क्षमा मांग लेना श्रेष्ठ मानव का काम है।

गांव में झगड़ा हुआ, झगड़े का कारण मामूली सा था। एक व्यक्ति के कारण झगड़ा शान्त नहीं हो रहा था, वह व्यक्ति बीमार था। मैं दर्शन देने के लिए गया तब मैंने कहा कि यह आयुष्य अब कितने समय का है, कौन जानता? तुम क्षमायाचना करलो, पर उस मनुष्य के मन में ऐसी अनन्तानुबन्धी कषाय की स्थिति थी, कि उसने कितनी ही प्रेरणा देने पर खमत खामणा नहीं किया, उसकी गति तो क्या हुई यह तो ज्ञानी की दृष्टि में है, पर रावण की गति तो आप जान रहे हैं। बात-बात में कषाय करने वाले का जीवन कभी भी अध्यात्म की स्थिति में प्रवेश नहीं कर सकता है। अतः कषाय को वशीभूत कर लेना चाहिये। इससे कोई कमी नहीं आती हैं। गंगाशहर, भीनासर की घटना है, दो भाई प्रमुख समाजसेवी थे, जीवराजजी और झूमरमलजी, पर दोनों भाई कभी परस्पर नहीं मिलते थे। चातुर्मास समाप्ति का प्रसंग आया, मैंने प्रवचन में सामान्य रूप से वैर-विरोध विसारने की भिक्षा मांगी कि किसी में भी वैर-विरोध हैं, तो वह मेरी झोली में डाल दें। व्याख्यान उठने के बाद दोनों भाई मेरे पास अलग-अलग आये और कहने लगे कि म. सा. मैं जा रहा हूँ। बस इतना कहकर चले गये। बड़े भाई के पास कार थी, छोटा भाई पैदल जा रहा था। बड़ा भाई छोटे भाई के घर पहले ही पहुँच गया। बड़े प्रेम से नाश्ता, पानी कर सारा वैर-विरोध विसराया, क्षमा याचना करते हुए प्रेम स्नेह की गंगा बहा दी।

बन्धुओ! अग्नि सम मन का वेग संसार को बढ़ाने वाला होता है, जब कषाय सीमा से अधिक समय तक रह जाती है, तो उससे सम्यक्त्व गुण का नाश हो जाता है। साधु में यदि परस्पर कुछ हो जाय तो उसे वीतराग देव ने आज्ञा दी कि जब तक क्षमायाचना नहीं करो तब तक थूंक भी गले से नीचे मत उतारो। श्रावक भी साधु के छोटे भाई हैं. भगवान के वचनों का आपको भी ख़याल रखना है। यदि आप अपने जीवन में संयम की स्थिति अपनाओगे और विषमवेग को दूर हटाओगे तो आपका जीवन जरूर मंगलमय बन जायेगा। इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ!

मोटा उपाश्रय   ४–७–८५
घाटकोपर, बम्बई   गुरुवार

५

आत्मा ही आत्मा का कर्त्ता और भोक्ता

अंतिम तीर्थंकर प्रभु महावीर की वाणी श्रोतागण 'सुखविपाक' के माध्यम से सुन रहे हैं। इस 'सुखविपाक' विषयक वर्णन से बहुत प्रेरणा मिलती है। मनुष्य का जीवन कैसा होना चाहिये? इस मनुष्य जीवन रूपी रत्न का उपयोग किस रीति से करना चाहिये?

'सुखविपाक' सूत्र में गौतम स्वामी प्रभु महावीर से पूछते हैं कि सुबाहु कुमार ने यह जीवन कैसे प्राप्त किया? उसने पूर्वभव में क्या-क्या ऐसे सुकार्य किये, आदि इसी प्रकार के वहुत से प्रश्न पूछे।

जिन मनुष्यों को वीतराग वाणी श्रवण करने को बहुत कम मिलती अथवा मिलती ही नहीं है। वे प्रायः किसी रूपवान, गुणवान आत्मा को देखकर यह कह देते हैं कि भगवान् ने इसे कैसा सौम्य रूप प्रदान किया है। पर गौतम स्वामी ज्ञानवान थे, उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि भगवान् ने इनको यह रूप सम्पदा प्रदान की। प्रभु महावीर से प्रश्न करके यह ज्ञान दृष्टि दी कि तुम्हारी आत्म सम्पदा स्व में ही स्वतन्त्र रूप से रही हुई है। तुम जैसा पुरुषार्थ करोगे, वैसा ही फल तुम प्राप्त करोगे। शारीरिक सौन्दर्य भी आत्म पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त होता है। इस आत्मा को सारा अधिकार प्राप्त है। पर यह आत्मा अपने स्वरूप को न जानने से दीन-हीन वनी हुई है। अपने आपको कठपुतली सम मानती है। जिस प्रकार कठपुतलियाँ अन्य के जरिये नाचती हैं। पर खयाल रखिये कठ-पुतलियाँ तो निर्जीव हैं। वे परतन्त्र हैं। पर चेतना निर्जीव नहीं है। अतः जागृत वनें। जीवन की वागडोर हमारे ही हाथ में है। हमें नचाने वाला अन्य कोई दूसरा नहीं है। हमारी आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। वह स्वतन्त्र है। जैसा कर्म करती है, वैसा ही फल उसी के द्वारा उसको प्राप्त होता है। मेरी आत्मा को सुखी-दुःखी वनाने वाला मैं स्वयं ही हूँ। मेरे स्वयं के विचार ही मुझे सुखी-दुःखी वनाते हैं। यह ज्ञान जब किसी को हो जाये तो फिर क्यों वह अपनी आत्मा को दुःखी बनायेगा? कहा भी है—

"वोवोगे जैसा वीज, तरु वैसा ही लहरायेगा।
जैसा करोगे वैसा ही, फल आगे आयेगा।।
कुए में एक वार, कुछ भी वोल देखिये।
जैसा कहोगे वैसा ही, वह भी सुनायेगा।।"

बन्धुओ ! जीवन में जैसा बीज बोओगे, वैसा ही फल प्राप्त होगा। आम बोने से आम और बबूल बोने से बबूल ही प्राप्त होगा। इसलिये आप ऐसा ही बीज बोयें जिससे आपका यह भव भी सुखी बन जाये और आगे के लिये भी पुण्य की जहाज तैयार कर लें। भगवान् महावीर के आप मेहमान बनकर आये हो और मेरी इच्छा हो रही है कि मैं आपको अच्छा से अच्छा पकवान परोसूँ। वर्तमान में जो शुभाशुभ कार्य किये जाते हैं उनसे जो कर्म-बन्ध का प्रसंग आता है, अथवा आत्मशुद्धि का प्रसंग बनता है। उसका भूत-भविष्य दोनों ही स्थितियों में प्रभाव पड़ता है। यदि हम अच्छा अनुष्ठान कर रहे हैं तो भूतकाल में वे पाप यदि निकाचित नहीं हैं तो वे पाप अच्छे अनुष्ठानों को करने से पुण्य में परिवर्तित हो जाते हैं और भविष्य उज्ज्वल बन जाता है। प्रसन्न चन्द्र राजर्षि का उदाहरण मिलता है कि प्रसन्न चन्द्र राजर्षि को जब निर्वेद की भावना बनी, तब विचार करने लगे कि ये तो संसार के कार्य हैं, चलते रहेंगे। मुझे तो अपनी आत्म शुद्धि की ऐसी करणी करनी है जिससे इस जन्म में ही अमित सुख की उपलब्धि कर सकूँ। तब पत्नी अपने नन्हें पुत्र को सम्मुख करके कर्त्तव्य का बोध कराती हुई मना करने लगी। तब राजन् कहने लगे—प्रिये ! तुम मेरी धर्मपत्नी हो। धर्म सहायिका हो। तुम मुझे धर्म में सहायता प्रदान करो। पुत्र के विषय में कह रही हो सो यह पुत्र स्वयं पुण्यवान है। जिसके पिता बचपन में ही गुजर जाये, विचार करो, उसका लालन-पालन कौन करता है ? यही नहीं अपना पुत्र स्वयं पुण्यवानी लेकर आया है। अतः इसकी चिन्ता मत करो। फिर इसकी सुरक्षा हेतु ५०० मंत्री इसकी सेवा में रहेंगे।

भगवान् महावीर ने कहा कि शक्ति रहते हुए सद्नुष्ठान में प्रवृत्ति करें। अतः मैं अभी ही आत्मानुष्ठान में प्रवृत्त होना चाहता हूँ। इस प्रकार समझा कर सारे संसारी कार्य से निवृत्त होकर प्रभु महावीर के चरणों में दीक्षित होकर विशेष पराक्रम करने की दृष्टि से प्रभु की आज्ञा लेकर समवसरण भूमिका से कुछ दूर जाकर दोनों हाथ ऊपर करके सूर्याभिमुख हो ध्यानावस्था में खड़े हो गए। इधर राजा श्रेणिक अपनी चतुरंङ्गिनी सेना से प्रभु महावीर के दर्शनार्थ जा रहे थे।

दो मनुष्य सुमुख और दुर्मुख रास्ते की सफाई का ध्यान रखते हुए उस चतुरंगिनी सेना के आगे चल रहे थे। वे परस्पर बातचीत कर रहे थे। सुमुख ने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की भूरि-भूरि प्रशंसा की तो दुर्मुख ने उनकी निन्दा की। मुनि ध्यान में दोनों की बातें सुन रहे थे। सुमुख मुनि की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि धन्य हैं ये मुनिराज जो सब कुछ वैभव का त्याग कर संयम अंगीकार कर चुके हैं। तब दुर्मुख ने कहा कि अरे क्या कहते हो तुम, यह तो कायर है। अपने पुत्र का भी पालन नहीं कर सका। उसे पाँच सौ मंत्रियों के हाथ में सौंप कर चला आया है। पर मंत्री उसे मारने का षडयंत्र बना रहे हैं।

ये शब्द जब प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के कानों में पड़े तो वे विचारने लगे कि क्या मेरे मंत्री नमकहराम हो गये हैं ? क्या वे मेरे बच्चे को मार कर राज्य हथिया लेंगे ? विचारों का वेग तीव्रता के साथ बढ़ने लगा । वे भूल गये कि मैं तो साधु बन चुका हूँ । उसे तो 'समो निंदा पसंसासु' अर्थात् हर समय निंदा और प्रशंसा में समभाव रखना चाहिये ।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के विचार इतने ओजस् हो गये कि वे खड़े तो ध्यान में थे पर अन्दर में विचारों से ही मंत्रियों से युद्ध करने लगे और ४९९ मंत्रियों को मार गिराया । एक मंत्री बच गया । इसे मारने के लिये उनके पास कोई वैचारिक तीर नहीं बचा, तो वे सोचने लगे कि इसे कैसे मारा जाये । फिर सोचा—मेरे मुकुट है । मैं मुकुट को भी इस तरह फेंकूं कि वह मर जाये । इधर तो प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के विचारों में इतनी हिंसात्मक उत्तेजना आई हुई थी और उधर उसी समय श्रेणिक महाराज महाप्रभु के समवसरण में पहुँचकर महाप्रभु से पूछने लगे—भगवन् ! आपके अन्तेवासी शिष्य जो शहर के बाहर ध्यानस्थ हैं । वे यदि इस समय कालधर्म को प्राप्त हों तो कहाँ जाय ? महाप्रभु ने स्पष्ट फरमाया कि श्रेणिक ! यदि वह इस समय मृत्यु को प्राप्त हो जाये तो सातवीं नरक में जायेगा ।

इसे सुनकर राजा श्रेणिक विचार करने लगे कि—अहो ! इतने बड़े योगी की भी यह गति हो सकती है ? उधर जब प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का हाथ मस्तक पर पहुँचा और उन्हें ज्ञात हुआ कि मुकुट कहाँ है ? सिर तो मुँडा हुआ है । मैं तो साधु हो चुका हूँ । मुझे संसार से क्या मतलब ? विचारों ने मोड़ खाया और वे अपने इस कुकृत्य के प्रति 'निंदामि, गर्हामि अप्पाणं वोसिरामि' करने लगे । ठीक इसी समय इधर फिर श्रेणिक ने पूछा यह कैसे हो सकता है भगवन् । तो भगवान् ने फरमाया कि यदि वह मुनिराज इस समय मृत्यु को प्राप्त हो तो स्वर्ग में जाये । इससे श्रेणिक की जिज्ञासा और बढ़ गई । इधर राजर्षि के विचारों में समीक्षणता आई और वे निरन्तर ऊर्ध्वता की ओर बढ़ने लगे । थोड़े ही समय के बाद सभी घनघातिक कर्म क्षय करके केवली भी हो गये । देवदुंदुभि का निनाद हुआ और महाप्रभु ने श्रेणिक को बताया कि वे ही मुनिराज सर्वज्ञ हो गये हैं । तो सम्राट को बहुत आश्चर्य हुआ । पर सर्व संशय हर्ता महाप्रभु ने उसका समाधान कर दिया ।

बन्धुओ ! यह तो एक रूपक है । जिसके भाव मैं आपको बतला गया हूँ । इस रूपक को सुनकर विचार करें कि विचारों का यह परिवर्तन जीवन में कितना मोड़ ला सकता है ? जब विचारों को कार्य रूप में परिणत करने की शक्ति आ जाती है तो उसी प्रकार के कर्म बन्धन हो जाते हैं । शुभ-भावनाएँ व्यक्ति को उन्नत बनाने वाली हैं तो अशुभ भावनाएँ गिराने वाली होती हैं ।

उन्नति और अवनति दोनों उसी के हाथ में है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक छोटा सा रूपक और देता हूँ।

एक व्यापारी जिसे सेव की आवश्यकता थी। उसने जाकर कंदोई से कहा कि मेरे यहाँ विवाह का प्रसंग है और बहुत सारी सेव की आवश्यकता है तो उस कंदोई ने बहुत सारा बेसन लिया और उसको घोलकर उसमें नमक व मिर्च डालने वाला ही था कि एक दूसरा व्यापारी आया और कहने लगा कि मुझे जल्दी से जल्दी बेसन की चक्कियाँ चाहिये, मैं तुझे दुगुने पैसे दूँगा तो उसने उस बेसन में नमक मिर्च की जगह बेसन की प्रक्रिया करके चासनी डाल कर चक्कियाँ बना दीं। ठीक वैसे ही पाप-अनुष्ठान में प्रवृत्त व्यक्ति घोलन जैसी अनिकाचित कर्मों की स्थिति तक सम्भल जाये तो वह उस पाप रूपी घोल से पुण्य रूपी चक्कियाँ प्राप्त कर सकता है।

मोटा उपाश्रय,   ५–७–८५
घाटकोपर, बम्बई   शुक्रवार



६ वेद हो निर्वेद का

अनंत स्वरूप वाले प्रशांत रस में निमग्न वीतराग प्रभु को नमन करके उनके सिद्धान्त का चिन्तन किया जा रहा है, मोक्ष का प्रथम सोपान सम्यक्त्व है।

जब आत्मा अपने स्वरूप को क्षायिक सम्यक्त्व के साथ जान लेती हैं, और एक बार भी उसे आत्मशक्ति की अनुभूति हो जाती है, आत्मरस में वह अवगाहन कर लेती है, तब वह तीन काल में भी अपने आत्मिक स्वरूप को भूल नहीं सकती हैं।

आत्मा-परमात्मा का वर्णन कर लेना एक बात है, और उसकी अनुभूति करना दूसरी बात है। शरीर में अनेक तत्त्व हैं, उनमें अनन्त ज्ञान राशि भी भरी हुई है जो कि इसी शरीर पिंड में विद्यमान आत्मा में है। शरीर तो एक मात्र माध्यम है। पर सारी शक्तियां आत्मा की स्व की हैं। अनुभूति का आनन्द जुदा होता है, अनुभूतियों से ही निज स्वरूप की अभिव्यक्ति सम्यक् रूपेण हो सकती है।

एक जंगली मनुष्य बड़े शहर में पहुँचा, बम्बई शहर जैसा, उसकी हवेलियाँ वगैरह देखकर आश्चर्य करने लगा। वहाँ की सर्वश्रेष्ठ मिठाई का स्वाद लिया, और पुनः जंगल में गया तब किसी ने पूछा कि बम्बई कैसी है, तो वह वृक्षादि की उपमा से बम्बई की हवेलियों की मोटाई बताने लगा तो कोई उसकी बात पर विश्वास नहीं करता, यही नहीं मिठाई का स्वाद लोगों द्वारा पूछने पर भी उसका स्वाद कैसा है, यह वह नहीं बतला पाता, लेकिन यहाँ के मनुष्य जिन्हें अपनी हवेलियाँ और खाई हुई मिठाई वगैरह के स्वाद की भलीभाँति अनुभूति होने से क्या वैसे लोगों को सम्यक् प्रकार से बता सकते हैं। उत्तर होगा; नहीं क्योंकि अन्यों को वैसी अनुभूति नहीं है, और यह अवस्था अनुभूतिगम्य ही हो सकती है।

मैं जो आपको सम्यक्त्व के लक्षण बता रहा था, कि सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं, सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्था। वास्तव में अपने आप में सम्यक्त्व है या नहीं, इसकी पहचान, ये पूर्वोक्त पाँच लक्षण करा देते हैं। सम और संवेग की संक्षिप्त विवेचना हो चुकी है, अब निर्वेद का प्रसंग चल रहा है।

एन्द्रियक विषयों से उदासीन होकर सिर्फ आत्मानन्द की प्राप्ति की तीव्र उत्कंठा होना निर्वेद है, निर्वेद की स्थिति में भी जब तक आत्मा संसार में रहती है, तब तक जल कमलवत् निर्लिप्त रूप में रहती है। जैसे 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २६ वें अध्याय में बतलाया है।

"निव्वेदेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? निव्वेदेणं दिव्व माणुस तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं ह्व्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ । सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भपरिच्चायं करेई। आरम्भपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गे वोच्छिन्दई सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवई।"

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! निर्वेद भाव से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भगवान् ने फरमाया—गौतम ! निर्वेद भाव से जीव, देव, मानव एवं तिर्यंच संबंधी विषयों से शीघ्र ही निर्वेद प्राप्त हो जाता है। सभी विषयों में विरक्त हो जाता है, सभी विषयों से विरक्त होता हुआ आरम्भादि से भी विरक्त हो जाता है, आरम्भादि का त्याग करता है, संसार व्यवच्छित कर लेता है, और एक दिन सिद्धि मार्ग को प्राप्त हो जाता है।

संसार से कितनी मात्रा में उदासीनता आयी है, इसका मापदण्ड कैसे किया जाय, इसके लिए एक उदाहरण देता हूँ।

एक मनुष्य को जहरीले सर्प ने डंक मारा और जहर उस व्यक्ति को भरपूर चढ़ गया, तब वह मंत्र जानने वाले के पास गया, और जहर उतारने के लिए कहा तब वह कड़वे नीम के पत्ते उसे खिलाता है, उस समय उस व्यक्ति को वे कड़वे पत्ते भी मीठे लगते हैं, तब उसने यह जाना कि इसको जहर काफी मात्रा में चढ़ा हुआ है। तब उसने जहर उतारने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, जैसे-जैसे प्रयत्न सफल होता है, जहर उतरते जाता है, वैसे-वैसे उसको नीम के पत्ते कड़वे लगने लग जाते हैं। इसी तरह निर्वेद आपके जीवन में है या नहीं, इसका परीक्षण करने की विधि अपनायें कि सांसारिक पांच इन्द्रियों का विषय जब तक आपको मधुर-मधुर महसूस होता है, तब तक समझना चाहिये कि अभी मोह रूपी सर्प का डंक पूरे जोर से आपके भीतर में विष व्याप्त कर रहा है, पर यह वीतराग वाणी रूपी मंत्र उस जहर को उतारने में सक्षम है।

इस वीतरागवाणी रूपी मंत्र श्रवण से, पांचों इन्द्रियों का कटुक फल अतीव विपाक रूप में महसूस हो रहा है और आप संसार के प्रपंचों से उदासीन बन रहे हैं, तो समझना चाहिये कि मोह रूपी सर्प के डंक से व्याप्त विष उतर रहा है, और आप अपने निज स्वरूप में प्रवेश कर रहे हैं। आप जरा सोचिये—कितना लम्बा समय हो गया है कि यह मोह का पॉइजन आपकी आत्म-शक्तियों

पर छाया हुआ है, अतः जो भी क्रिया करें, वह सभी आत्म-स्वरूप की अवाप्ति के लिए ही हो। जब लड़का माता के गर्भ से बाहर आता है, तब वह रोता है, और संकेत करता है कि मैं भूखा हूँ, मुझे दूध पिलाओ, जब उसकी क्षुधा की पूर्ति हो जाती है तो वह संतुष्ट हो जाता है। इसके बाद जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे वह माता के दूध से निर्वेद को पाकर अपनी आवश्यकतानुसार क्रिया करता रहता है। उसी प्रकार जब भव्य पुरुष संसार में निर्वेद को पा जाते हैं, तब वे विषयादि से निरपेक्ष होकर शाश्वत शांति की ओर प्रगति करने लगते हैं। प्रायः प्रत्येक मानव पुण्य-पाप दोनों का उपार्जन करता रहता है। जैसा कि बतलाया है कि वह सात-आठ कर्म का बंधन प्रति समय करता रहता है। अब आप चाहें कि हमारी पुण्यवानी ही अधिक से अधिक बढ़ती रहे, पर यह चाहने मात्र से पुण्यवानी प्राप्त नहीं हो सकती है। गौतम स्वामी ने जो यह प्रश्न पूछा कि—भगवन्! सुबाहुकुमार ने क्या खाया ?

यह प्रश्न क्यों और किस लिए किया गया है ? चिंतन करने पर आप जान पायेंगे कि—यह प्रश्न भी आत्म-चिंतन की खुराक दे रहा है। क्योंकि भोजन करते समय में भी पुण्यवानी बांध सकते हैं। आप भोजन करते समय यही आत्म चिंतन करें।

मैं भोजन सिर्फ धर्म साधन में निमित्त इस शरीर के स्वास्थ्य को सुरक्षित और तन्दुरस्त रखने के लिए कर रहा हूँ ताकि यह शरीर मुझे आत्म-साधना में सहायक बन सके। इस प्रकार के प्रशस्त चिंतन से जो भोजन करता है, वीतराग भगवान् ने बताया कि वह खाता-खाता भी सात-आठ कर्मों को तोड़ सकता है।

आप ज्यादा-ज्यादा संसार का वैभव चाहते हो या आत्मा का वैभव ? यदि आत्म-वैभव की इच्छा रखते हों और प्रयत्नरत रहते हों, तो आत्म वैभव के साथ संसार का वैभव तो आपको मिल ही जायेगा। गृहस्थ हो या साधु, जो भी प्रशस्त आत्म चिंतन की स्थिति से भव्य भावना भाते-भाते भोजन करते हैं तो अष्ट कर्म बंधन से हल्के बन जाते हैं।

"नमो अरिहंताणं" इस पद का उच्चारण करते हुए चिंतन करें कि अरिहंत प्रभु भी भोजन करते थे। प्रभु महावीर को जब तीन दिन के बासी बाकुले चन्दनबाला ने बहरायें। तो महाप्रभु ने उन्हें समभाव के साथ ग्रहण किया था। इसी प्रकार की समभाव की स्थिति लाने के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये।

साधु-साध्वियों का संयोग मिलने पर विशुद्ध भावों के साथ उन्हें प्रति-पालित भी करना चाहिये। कभी-कभी भावों की विशुद्धि नहीं होने पर महा-

पुरुषों को बहराते-दान देने से भी आत्म शुद्धि नहीं होती और भावों की विशुद्धि होने पर बहराने का निमित्त न मिलने पर भी आत्म शुद्धि का प्रसंग बन जाता है ।

जीर्ण सेठ जो चार माह पर्यन्त प्रभु को आहार बहराने की भावना भा रहा था । भगवान् के चार माह की तपश्चर्या थी । पारणे के दिवस पर भावना भाते-भाते जो पुण्यवानी जीर्ण सेठ ने बांधी, जो प्रशस्त निर्जरा की, वह तो उनके चालू ही थी, पर प्रभु महावीर जब पूरण सेठ, जो कृपण था, उसके द्वार पर पहुँचे और दासी के हाथ से बाकला बहर कर पारणा किया, पारणा होते ही देव दुंदुभी बजी, देव दुंदुभी बजते ही जीर्ण सेठ की भव्य भावना पर ब्रेक लग गया । क्योंकि उसे यह ज्ञात हो गया कि अब भगवान मेरे यहाँ नहीं पधारने वाले हैं । फिर भी भावना भाता-भाता देवलोक की पुण्यवली बांध ली । किन्तु पूरण सेठ अपनी गलत भावना के कारण दान देकर भी विशिष्ट पुण्यवानी नहीं बांध सके ।

पुण्य-पाप हर आत्मा बांध रही है, पर पाप को पुण्य में और पुण्य को परिवर्तन करने की स्थितियाँ कैसी क्या जीवन में बनती हैं, इसे आप शनैः-शनैः सम्यक् प्रकार से जानते हुए सम्यक्त्व के लक्षणों का बोध प्राप्त कर उन्हें क्रियान्वयन की दृष्टि से जीवन में स्थान देते हुए आगे बढ़ें तो निश्चय ही जीवन मंगलमय बनेगा । इसी मंगलमय शुभ भावना के साथ ।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

६–७–८५
शनिवार



७ परम शांति का महाद्वार—सम्यग् दर्शन

परम पवित्र परमात्मा का स्वरूप, अपनी आत्मा को पवित्र करने के लिए स्मृति पटल पर उभारने का प्रयास करना है, क्योंकि आज के लोगों की आत्माएँ प्राय: कर्मों से आवद्ध होकर हिताहित के विवेक से विकल बन रही हैं, इस विकलता से विलग होने के लिए वीतराग वाणी को सुनने एवं जीवन में उतारने का प्रसंग प्राप्त हो रहा है। यह वीतराग देव की वाणी किसी व्यक्ति विशेष से सम्वन्धित न होकर सम्पूर्ण प्राणी वर्ग के लिए है। जिस प्रकार पानी किसी व्यक्ति विशेष का न होकर सम्पूर्ण प्राणी वर्ग के लिए होता है, वह सभी की प्यास बुझाता है, उसी प्रकार वीतराग वाणी भी सभी भव्यात्माओं की अन्तर की आत्मिक प्यास बुझाने में समर्थ है, किन्तु आज के मानव इस वाणी को उपेक्षित कर एक वहुत वड़ी भूल कर रहे हैं, इस भूल के कारण ही वे आज तक संसार में भटकते आ रहे हैं। इस भूल को हटाने के लिए सम्यग्दर्शन की अत्यन्त आवश्यकता है।

सम्यग्दर्शन के बिना संसार में अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है। जिस प्रकार कि हॉल में सभी प्रकार की वस्तुएँ होते हुए भी बिना प्रकाश कुछ भी दिखाई नहीं देता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन रूप प्रकाश के विना संसार को वस्तुओं का यथातथ्य ज्ञान नहीं हो सकता। इस सम्यग्दर्शन का महत्त्व बतलाने के लिए आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' के पहले अध्ययन के प्रथम सूत्र में कहा है **"सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि-मोक्षमार्ग:"** इस सम्यग्दर्शन का ज्ञान केवल मस्तिष्क से कर लेने मात्र से आत्मशुद्धि नहीं हो सकती। आत्म विशुद्धि हेतु उसका ज्ञान हृदय से करना तथा आचरण की भूमिका पर उस ज्ञान को रूपांतरित करना अतीव आवश्यक है। जैसे—विक्षेप, आवरण व्यक्ति के सद् विवेक को लुप्त कर देते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण भी व्यक्ति के अन्तरंग ज्ञान को विलुप्त कर देता है। जैसे विक्षेप से मन चंचल बनता है, वैसे ही मिथ्यात्व के कारण मन रूप सरोवर में चंचलता की तरंगें उठने लगती हैं। जैसे कि लखपति, अरवपति वनने की और अरबपति, खरबपति बनने की भावना रखता है। इसी भावना के वर्द्धन में, धन के संरक्षण में ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। यह तो एक देशीय भावना का रूपक है, किन्तु ऐसी अनेक भौतिकी भावनाओं को लेकर चलने वाले प्राणियों का जीवन बीच में ही समाप्त हो जाता

है। और वह आत्मज्ञान किंवा अध्यात्म सुख से वंचित रह जाता है। अपने अमूल्य जीवन को निरर्थक खो बैठता है तथा जन्ममरण की लम्बी परम्परा में भटक जाता है।

स्थिति को स्पष्ट करने के लिए मैं एक प्रचलित रूपक सुना देता हूँ। एक अरबपति सेठ के मन में आया कि मेरे पास में कितनी सम्पत्ति है। इसकी जरा लिस्ट बनवा कर देखूं ? मुनीमों को आदेश दिया गया, पांच मुनीमों ने मिलकर लिस्ट बनाई और कहा कि "आठ पीढ़ी खाये, इतना धन आपकी तिजोरी में है।" यह सुनकर सेठ के मन में प्रसन्नता तो नहीं आई, किन्तु और अधिक चिन्ता व्याप्त हो गई कि आठ पोढ़ी तक तो खाने के लिए सम्पत्ति है, पर नवीं पीढ़ी क्या खायेगी ? यही चिन्ता उन्हें सताने लगी, वे दुःखो हो गये। और चित्त विक्षेप से दिन प्रतिदिन रुग्णता को प्राप्त होते गये। डॉक्टर, वैद्य, हकीम आने लगे, किन्तु इस मानसिक रोग को मिटाने के लिये कोई भी समर्थ नहीं हुआ।

एक दिन एक मानसिक चिकित्सक आया और उसने मनोवैज्ञानिक ढंग से सेठ के मन की बात भाँप ली तथा उनके मुँह से यह बात कहलवा दी कि आठ पीढ़ी खाये इतना धन तो मेरे पास है। पर नवीं पीढ़ी का क्या होगा ? बस मुझे यही चिंता खा रही है। तब मनोवैज्ञानिक ने कहा कि पहले मुझे तुम यह बताओ कि तुम्हारे लड़के कितने हैं। तो सेठ कहने लगा कि—लड़का तो मेरे एक भी नहीं है, और अब होने की आशा भी नहीं है, तब उस चिकित्सक ने कहा कि तो फिर तुम किसकी चिन्ता कर रहे हो ? कहाँ नवीं पीढ़ी आने वाली है ? जबकि तुम्हारे बाद भी तुम्हारे इतने धन का उपभोग करने वाला कोई नहीं है। सेठ के बात समझ में आ गई, उसकी सारी बीमारी नौ दो ग्यारह हो गई। तो बन्धुओ, यह विचारने की बात है। आज का व्यक्ति भी क्या सोच रहा है, बस एक अपनी इच्छापूर्ति में संलग्न बना भौतिकता में रमण करता हुआ, भौतिकता में ही भटकता हुआ सम्यग्दर्शन को भी खो बैठता है और जिन्दगी को विनाश के कगार पर ला खड़ा कर देता है।

जीवन को शांतिमय बनाने के लिये सम्यग्दर्शन के गुणों को अपनाना ही होगा, इन गुणों में महत्त्वपूर्ण गुण है—अनुकम्पा का "अनुकूलं कम्पनं इति अनुकम्पा" दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझ कर आत्मीय भावना से उसे दूर करने की अतीव तीव्र [उत्कट्] भावना अनुकम्पा है। भाई-भाई के साथ, प्राणी प्राणी के साथ आत्मीय भावना रखी जाय, "आत्मन्: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" आत्मा से प्रतिकूल आचरण दूसरों के लिए नहीं करना सम्यग्दर्शन का मूल है।

सज्जनो ! आज के इस आधुनिक युग में क्या-क्या देखने को मिल रहा है, देखिये इस वम्बई शहर को ही, जहाँ वर्षा की बाढ़ में हजारों प्राणी बेघरबार

हो रहे हैं और इधर वे रईस लोग अपनी इम्पोर्टेड (Imported) कारों को लेकर वर्षा का मौसम देखने के लिए फाइव-स्टार होटलों में ऐश करने के लिए हजारों-लाखों रुपये खर्च कर रहे हैं। कहाँ है आज के लोगों में अनुकम्पा ? कहाँ है आज साधर्मी भाइयों के प्रति वात्सल्य ? अधिकांश लोग अपने स्वार्थ में डूबे हैं। जहाँ हजारों लोग मर रहे हैं, वहाँ चन्द लोग गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और यह सोचते हैं "मरे वो दूजा हम करायें पूजा" लेकिन यह कब तक चलने वाला है ? आत्मीयता के प्रतिकूल यह आचरण कितना भयानक, घातक परिणाम दिखला सकता है, शांति पाने के लिए सम्यग्दर्शन का विशिष्ट लक्षण अनुकम्पा को जीवन में उतारना होगा।

जिसे आप अनार्य देश समझते हैं, उस अमेरिका के प्रेसिडेंट (president) अब्राहम लिंकन की बात सुनी होगी, जब वे एसेम्बली (S. M. L.) जा रहे थे, उस समय रास्ते में उन्होंने कीचड़ में एक सुअर को छटपटाते देखा तो उनके मन में अनुकम्पा जागृत हुई। और वे स्वयं ही बग्घी से नीचे उतरे तथा उस कीचड़ में से सुअर को निकालने का प्रयत्न करने लगे। सुअर के पैर पछाड़ने से उनके कपड़े खराब होने लगे तो भी वे अपने कपड़ों की चिन्ता किए बिना उस सुअर को निकालने में प्रयत्नशील रहे। आखिर उन्होंने उसे बाहर निकाल ही दिया। एसेम्बली का टाईम हो जाने से, वे टाईम के पक्के, अब्राहम लिंकन उन्हीं कपड़ों में एसेम्वली पहुँच गये। सभी को उनके कपड़े देखकर आश्चर्य हुआ। लोगों ने उनसे पूछने का तो साहस नहीं किया, पर उनके नौकर से पूछा—तब उनके नौकर ने सारी घटना सुना दी।

एसेम्बली के सदस्यों का मस्तिष्क लिकन के प्रति श्रद्धा से झुक गया, किन्तु लिंकन ने तो यह साफ कहा कि यह तो मैंने किसी पर उपकार नहीं किया है। मैंने तो मेरी तड़फन ही मिटाई थी। देखिये, एक तो लिंकन की भावना और एक आज के संस्कृति निष्ठ भारत में रहने वाले साधन सम्पन्न श्रेष्ठियों का रूप। मैं सब की बात तो नहीं कहता, किन्तु अधिकांश लोग तो सुअर के छटपटाने की बात तो जाने दो, आदमियों के प्राण छटपटा रहे होंगे तो भी उस ओर देखने का भी प्रयास नहीं करते।

एक भाई जहां साधन सम्पन्न है तो वह भी अपने साधनहीन विपन्न भाई की ओर भी देखने की कोशिश नहीं करता। यदि ऐसी ही स्थिति बनी रही तो आत्मिक शांति मिलने वाली नहीं है, सुख पाने के लिए सम्यक् दर्शन के लक्षणों को जीवन में अपनाना ही होगा।

कई बार मेरे भाई विचार करते हैं कि हम इतनी बार यानी वर्षों तक प्रवचन सुनते आ रहे हैं, किन्तु जीवन में तो परिवर्तन नहीं आया। इसमें बाधकता क्या है ? क्या प्रवचन में ही कुछ कमी है ? बन्धुओ ! यहाँ पर विचारने

की बात यह है कि जिस घड़े को उल्टा रख छोड़ा है, उसमें पानी भरने के लिए कितना ही पानी उंडेला जाय, पर घड़े में एक बूंद भी पानी नहीं आता, क्योंकि घड़ा उल्टा पड़ा है। ठीक इसी प्रकार यदि श्रोता अपने हृदय के कपाट को वन्द करके सुनता है, तो उसमें गल्ती उसकी है। वीतराग वाणी तो निरन्तर प्रवाहित हो रही है, किन्तु यदि हार्दिक भावों के साथ न सुनी जाए तो परिवर्तन नहीं आ सकता। इस बड़ी गल्ती को सुधारा जाय। हृदय के पट को खोलकर सुना जाय। मैं यह तो नहीं कहता कि सभी श्रोता लोग अपने हृदय के पट को बंद करके ही सुनते हैं। किन्तु जिन व्यक्तियों के जीवन में वर्षों से परिवर्तन नहीं आया है, जिनका शरीर बदल गया है, किन्तु उनकी आत्मा नहीं बदली, उनके लिए यह मानना होगा कि वे अपने हृदय के पट को वंद करके सुन रहे हैं।

अन्त में यही कहना है—जीवन को साफ और स्वच्छ बनाने के लिए, सम्यग्दर्शन के लक्षणों को समझपूर्वक जीवन में उतारने के लिए हृदय पट को खोलकर वीतराग वाणी सुनी जाय, अवश्य ही जीवन में परिवर्तन आएगा।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

७-७-८५
रविवार

८ आस्था का सुमेरु

अनंत-२ उपकृति के केन्द्र वीतराग भगवान् और उनकी परम्परा को सुरक्षित रखने वाले महापुरुषों ने मोक्षगामी भव्यों के लिये अतीव उपकार किया है। वीतराग भगवान् के द्वारा प्रतिपादित जो सिद्धान्त है, उपदेश है, उस पर प्रगाढ़ आस्था वन जाय, विश्वास हो जाय, तो हमारी आत्मोन्नति का द्वार खुल सकता है। सिर्फ जानकारी ही न हो वरन् सम्यक्त्व का लक्षण जिन वचनों के प्रति, अचल आस्था निरन्तर उसकी प्रवाहित बनती रहे। सम्यग्दृष्टि जीव को जीव, अजीव, नवतत्त्व, पच्चीस क्रिया का ज्ञान भी होना चाहिये तथा वह यह ज्ञान भी करे कि हमारी आत्मा किन-२ कारणों से बंधन को प्राप्त हो रही है, और किन-२ क्रियाओं से, किन-२ उपायों से बन्धन से मुक्त हो सकती है।

क्रिया शुभाशुभ दोनों प्रकार की, पुण्य पाप कर्म बाँधनेवाली होती है। पुण्य-पाप ये दोनों तत्त्व हैं। पुण्य के उदय से आत्मा की कैसी दशा होती है, और पाप के उदय से कैसी होती है? इसके कई उदाहरण शास्त्रों में आते हैं। जो इस विषयक अपनी रुचि रखता है, जिन वचनों पर आस्था रखता है, वह ज्ञान हासिल कर अपने को पाप से पृथक् कर पुण्य के जहाज में बैठ सकता है।

एक पौराणिक आख्यान है—एक व्यक्ति जिसने बहुत अधिक पुण्यवानी का संचय किया, और मृत्यु के प्रसंग पर यम के समक्ष यह श्रवण करने को मिला कि तुम्हारे पुण्य का संचय अत्यधिक है, और पाप बहुत कम है, अत: किसका उपभोग पहले करना है, तब कर्म फिलोसोफी से अनभिज्ञ वह कहने लगा कि पहले मुझे पाप का उपभोग करना है, क्योंकि पाप भोग लूंगा तो बाद में सारी पुण्यवानी ही अवशेष रह जायेगी। तो यम ने उसे एक प्रकार के गिरगिट की अवस्था प्रदान करा दी, वह वहाँ पाप का उपभोग करते-२ अपनी अज्ञानता से, वहुत सारी हिंसात्मक मनोवृत्ति से पाप का संचय कर गया, और अनिकाचित पुण्य प्रकृति को भी पाप में परिवर्तित कर दी। यह तो एक दृष्टान्त है, पर आज कौन ऐसा मनुष्य होगा जो पाप का उपभोग करना चाहेगा? पर वीतराग भगवान् की वाणी है कि जो पाप करता है, उसका फल उसको ही भोगना पड़ता है, अन्य उसे नहीं भोग सकते हैं। एक नन्हा वालक मिर्ची का बीज खाता

है तो मुँह भी उसी का जलने लगता है, ठीक इसी प्रकार पाप के बीज मोह के अधीन हो जो बोता है, तो उसका फल समय आने पर उसे ही भोगना पड़ता है, पुण्य-पाप का फल भुगतने के लिए कोई अन्य ईश्वर आदि की कल्पना उपयुक्त नहीं, जो कर्त्ता है, वही भोक्ता भी है। जैसे कि—

एक डॉक्टर, किसी रोगी के पास पहुँचा और देखा कि उस रोगी के शरीर में कई प्रकार के रोग के कीटाणु कार्य कर रहे थे। अतः डॉक्टर ने कहा कि मैं सभी प्रकार के रोगों की गोलियाँ देता हूँ। मलेरिया, टाइफाइड, नमोनिया तथा सन्निपात सभी की गोलियाँ डॉक्टर ने दी, और मरीज ने सभी गोलियाँ पेट में डाल दीं। अब आप बताओ कि अन्दर कौन बैठा है, जो उन गोलियों का अलग-२ रोग पर अलग-२ असर कराता है। इसी प्रकार व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करता है, जिससे कर्म वर्गणा आती रहती है, और अलग-२ रूप में उनका स्वभाव भीतर बनता रहता है, और अलग-२ फल देने की शक्ति उनमें उत्पन्न हो जाती है, इन सबमें मुख्य कार्यकारी शक्ति आत्मा ही है। यह विषय अत्यधिक सूक्ष्मता से, गहराई से जो भव्य मनुष्य जान लेता है तो वह पाप का क्षय कर पुण्य का बन्ध कर निर्जरा के प्रशस्त मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। इसके लिये धैर्य और साहसादि आत्मिक गुणों के विकास की अति आवश्यकता है। चाहे गृहस्थाश्रम में हो या साधुता की साधना पर आरूढ़ हो, सभी को धर्म करणी करते हुए धैर्य और आस्था अतीव अपेक्षित है, कर्म सिद्धान्त का आत्मा पर कैसे प्रभाव पड़ता है? इसका भावात्मक अध्ययन करने के लिये भगवान् ने चार अनुयोग का स्वरूप बतलाया है। उसमें चरितानुयोग से हर गूढ़ तत्त्व को समझने में सहूलियत रहती है। एक रूपक है—

एक चित्रकार एक रंगीन डिब्बिया लेकर बालकों को कहे कि इसमें हाथी, घोड़ा, हवाईजहाज आदि हैं। इस प्रकार कहने पर क्या कोई विश्वास कर सकता है? पर जब वह सलाई लेकर उसी रंग से चित्र चित्रित कर दे तो उसे सब ही मान लेते हैं। वैसे ही आत्मा में भी सब प्रकार की शक्तियाँ समाहित हैं, आवश्यकता है सत्पुरुषार्थ द्वारा उन्हें जागृत करने की। धैर्य और साहस का मधुर फल इसी जीवन में और अगले जीवन में दोनों ही जीवन में मलता है।

वह पुरुषार्थ आगमानुसार है या नहीं? यहाँ यह भी जान लेना योग्य है। आगम में सभी तरह का विषय आता है। उसमें हेय, ज्ञेय, उपादेय तीनों ही तरह के विषय आते हैं। उन सभी विषयों में जो विशेष रूप में उपयोग योग्य बतलाया जाता है, वह पालनीय होता है। वैसे शास्त्रों में द्रौपदी का कथन भी आया है और उसके पाँच पति भी बतलाये हैं। इस पर कोई यह सोचते हों कि द्रौपदी ने पाँच पति किये तो अच्छा किया है और वह सती कहलाती है तो हम भी ऐसा

करें, तो वह सही नहीं होगा। द्रौपदी को पाँच पति होने से सती नहीं कहा है। अपितु पातिव्रत धर्म पर एकनिष्ठ होने से तथा दीक्षित होने से महासती कहा है। पाँच का प्रसंग उसके पूर्व कर्मोदय का परिणाम था, जो सभी के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता। यह ज्ञेय विषय है, उपादेय नहीं। पुराण में द्रौपदी को लेकर उसके सतीत्व की अवस्था बतलाते हुए एक रूपक दिया है—

एक बार श्रीकृष्ण के साथ पाँचों पाण्डव और सती द्रौपदी एक बगीचे में जा रहे थे, प्रवेश के साथ ही सबको फल तोड़ने का निषेध कर दिया गया था, पर सब तो आगे-२ चल रहे थे, और भीम जो भारी शरीर के कारण पीछे चल रहा था, उसने देखा कि वृक्ष पर एक सुन्दर फल लगा है तो उसे देखकर मन चलायमान होने से भीम ने फल तोड़ लिया और श्रीकृष्ण ने उसे देख लिया। तब श्रीकृष्ण ने उसे प्रायश्चित करने के लिये कहा—प्रायश्चित कर लेने पर ही आगे बढ़ेंगे। घर में जितने सदस्य होते हैं, और जो पाप घर में होता है, उसके भागी घर के सभी सदस्य होते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा कि तुम सभी इस भीम के द्वारा कृत पाप के भागीरत हो, अतः धर्मराज तुम सर्वप्रथम प्रायश्चित करो कि "आज दिन तक मेरा जीवन पवित्र रहा हो, अन्य स्त्री की तरफ मेरी भावना नहीं गई हो तो हे फल तू मेरी पवित्र स्थिति के बलबूते से पुनः डाली पर लग जा। "कृष्ण महाराज के कहने के अनुसार, धर्मराज के कहने पर फल एक हाथ ऊपर उठ गया। इसी प्रकार सभी भाइयों ने कहा और वह फल एक हाथ ऊपर चढ़ता गया। जब द्रौपदी ने कहा कि यदि मैंने अन्य पुरुष की आकांक्षा नहीं की हो तो फल तुरन्त डाली के ऊपर लग जा। तो हुआ क्या? वह फल जो पाँच हाथ ऊपर उठा हुआ था, धड़ाम से पृथ्वी पर गिर गया। द्रौपदी लज्जाशील बनी, एकदम मूक बन गयी, पाण्डवों को भी आश्चर्य हुआ। तब कृष्ण ने कहा कि तुमने पूरा प्रायश्चित नहीं किया। तब द्रौपदी ने अपने सारे जीवन का प्रत्यावलोकन कर अपना प्रायश्चित किया और कहा कि जब मैं एक बार व्यायामशाला के पास में होकर जा रही थी, उस समय कर्ण को व्यायाम करते देखकर मेरे मन में विचार आया कि क्या ही अच्छा होता पाँच पाण्डवों के साथ कर्ण भी होता तो मेरे पाँच पति के साथ छः पति हो जाते, बस इस भावना के अलावा मेरे मन में कोई भावना नहीं आयी थी। अतः हे फलराज! मेरी इस अभिवृत्ति में कुछ भी कमी न हो तो शीघ्रता से वृक्ष पर लग जाओ, इतना कहते ही फल झट से डाली पर लग गया।

कहने का तात्पर्य यह है कि भव्यात्माओ! सुदेव, सुगुरु, सुधर्म के प्रति अविचल श्रद्धा होनी चाहिये, इसी के साथ वीतराग प्ररूपित आगमों पर भी आस्था हो लेकिन उन वीतराग प्ररूपित सिद्धान्तों को वह समझे और छोड़ने योग्य को छोड़कर उपादेय को ही ग्रहण करें और उपादेय में भी कभी दोष लग

जाय तो द्रौपदी की तरह आलोचना कर शुद्धि करलें ।

शास्त्र में तो पुण्य का भी वर्णन आता है तो पाप का भी आता है। इसका मतलब पाप उपादेय नहीं हो जाता, पाप तो सर्वथा त्याज्य ही होता है ।

आगमों पर आस्था रखकर क्षीर-नीर विवेक बुद्धि के साथ भव्यात्माएँ आगे बढ़ें, तो मंगलमय दशा को प्राप्त कर सकेंगी । इसी मंगलमय शुभ भावना के साथ—

मोटा उपाश्रय ८-७-८५
घाटकोपर, बम्बई सोमवार

९ एकनिष्ठ आस्था का चमत्कारिक प्रभाव

अनिर्वचनीय उपकार करने वाले तीर्थंकर भगवान् ने अपनी आन्तरिक शुद्धि से जो उपदेश प्रदान किया, वह उपदेश आज के भव्य मुमुक्षुओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण कि वर्तमान में जो जोवन प्राप्त है, उस जीवन की सार्थकता एवं विकासशीलता उस उपदेश से ही उपलब्ध हो सकती है। प्रत्येक आत्मा सुख की अभिलाषिणी है, पर सुख किस रीति से प्राप्त हो सकता है? इसका ज्ञान बहुत कम मनुष्यों को है, जैसे—पानी-पानी की रट लगाने वाला पानी का स्वरूप न समझने के कारण अन्य घासतेल आदि-आदि तरल पदार्थ यदि पी लेता है, तो उससे उसकी प्यास बुझ नहीं सकती। ठीक, इसी प्रकार अन्तरनाद को मिटाने में यह भौतिकता, यह पंच विषयों में प्रवृत्ति समर्थ नहीं है, यदि इनसे अन्तर लालसा की पूर्ति होती तो फिर मनुष्य सुख की दौड़ में इधर-उधर नहीं भटकता। क्योंकि यह तो आज के युग में प्रचुर है, फिर भी इन भौतिक तत्त्वों से शांति प्राप्त नहीं हो पा रही है।

आत्मा की सच्ची तृषा भौतिकता से त्रिकाल में भी न कभी बुझी है, न बुझेगी। आत्म-शांति पाने के लिए, आत्मा को पहचानने के लिए जो प्रयत्नशील बनता है वह उसमें विद्यमान शुद्ध पर्याय को जानकर उसे प्राप्त करने में पुरुषार्थरत हो सकता है। अपने स्वरूप को जानने के लिये हमेशा स्वाध्याय के साथ-साथ स्व का अध्ययन भी करना चाहिये। पुस्तक से जो स्वाध्याय होता है, वह तो श्रुतज्ञान में आता है, पर उसकी गहराइयों में उतरने के लिये तथा आगे बढ़ने के लिये वीतराग वाणी के रहस्य को जानना आवश्यक है।

आत्म पुस्तक से श्रोता को जो ज्ञान होता है, वह जीवन्त ज्ञान है। केवल पुस्तकों से आन्तरिक अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता। अनुभवों की उपलब्धि कराने वाला हमारा ही चैतन्य है।

मगध सम्राट ने जब बगीचे में आन्तरिक अनुभूतियों से ओतप्रोत अनाथी-मुनि का आभा-मंडल देखा तो वह आश्चर्यचकित सुख की अनुभूति करने लगा। जब सम्राट श्रेणिक ने अनाथीमुनि से सनाथ-अनाथ को लेकर चर्चा की तो अनाथीमुनि ने बतलाया कि सनाथ-अनाथ का स्वरूप बाहरी उपाधियों एवं परिधियों से नहीं समझा जा सकता है, इसके लिए आत्मिक धरातल पर आन्तरिक अनुभूति होना आवश्यक है। क्योंकि वही विशेष लाभदायक है।

बन्धुओ ! यह स्पष्ट है कि जगत् के सभी प्राणियों के साथ आन्तरिक अनुभूति एक-दूसरे के साथ अनुरंजित हो। सहृदयता रखते हुए एक-दूसरे के सहयोग एवं उनकी अनुभूतियों से अपने जीवन का विकास करने का यदि प्रयत्न किया जाय, तो सफलता श्रीचरणों में चेरी बनकर खड़ी रह सकती है।

एक पतिव्रत धर्म को लेकर चलने वाली सती में भी कितनी शक्ति आ सकती है, यह गांधारी के उदाहरण से समझा जा सकता है तो परिपूर्ण आत्मा-राधना करने वाले में कितनी शक्ति आयेगी ? यह अवक्तव्य है।

महाभारत का युद्ध, जिसमें युद्ध करते-करते कौरव पक्ष जो कि प्रायः समाप्त सा होने लग गया, तब दुर्योधन मन में विचार करने लगा कि मैं कितनी-कितनी भावना लेकर चल रहा था, पर वह सब मटियामेट होने जा रही है। अब अंतिम समय युद्ध भीम के साथ सम्पन्न होने वाला है। उसी से विजय का निर्णय होने वाला है। अब मैं क्या करूँ ? किसके पास जाऊँ ? किससे ऐसा उपाय प्राप्त करूँ ? चाहे मैं कितनी ही नीति शास्त्रों की बातें पढ़लूँ, पर मक्खन निकालने की सक्षमता मुझमें नहीं आ सकेगी ? मैं क्यों न चैतन्य देव की चौपड़ी से इसका हल निकाल लूँ ? चैतन्य देव की चौपड़ी युधिष्ठर धर्मराज हैं। हालांकि वे मेरे प्रतिपक्षी हैं, फिर भी उनका व्यवहार बहुत तटस्थ है। वे सत्य-निष्ठ हैं। अतः दुर्योधन को यह बात जँच गई कि मैं युधिष्ठर के पास जाऊँ और उनसे हल पूछूँ, जरूर मुझे हल मिलेगा और मेरा सारा कार्य सिद्ध हो जायेगा। देखिये—शत्रु पर अटल विश्वास कर दुर्योधन जहाँ युधिष्ठर थे, वहाँ पहुँचे। पूर्व के युद्धों में नैतिकता की स्थिति रहती थी, जब युद्ध का समय पूर्ण हो जाता था, तब एक-दूसरे के नजदीक जाकर उनकी सारसंभाल करते थे। दुर्योधन ने जाकर धर्मराज को नमस्कार किया, धर्मराज बड़े प्रेम से उनकी तरफ दृष्टि डालते हैं और मधुर शब्दों से सत्कार-सम्मान करते हैं। बहुत प्रसन्न भावों से धर्मराज ने दुर्योधन से आगमन विषयक कारण पूछा, तब दुर्योधन ने कहा कि अब मेरा भीम के साथ गदा युद्ध होगा, इसमें मैं कैसे विजय प्राप्त करूँ, इस समस्या का हल प्राप्त करने के लिये आपके पास आया हूँ। अतः कृपा करके मुझे वह उपाय बताओ।

बन्धुओ ! यदि आपके समक्ष ऐसा प्रसंग आ जाय तो आप क्या करोगे ? आप अपने शत्रु का हित चाहें या न चाहें, पर धर्मराज विचार करने लगे कि "इनकी विजय से पांडवों की हार होगी, पर जो मुझसे सलाह लेने मेरे द्वार आया है तो मुझे इसे अनुभूति के आधार से सही उपाय ही बताना है", वे कहने लगे कि "दुर्योधन ! तुम्हारे घर में ही इसका उपाय विद्यमान है जिससे तुम अपना शरीर वज्रमय बना सकते हो, इसका उपाय तुम्हारी माँ गांधारी है, जो शुद्ध शीलवती पतिव्रता नारी है, उसके पास जाकर तुम नम्रतापूर्वक निवेदन

करो, यदि वह तुम्हारे सारे शरीर पर माँ की ममता भरी दृष्टि प्रक्षेप करे तो तुम्हारा सारा शरीर वज्रमय बन जायेगा।" दुर्योधन फूला नहीं समाया और धर्मराज से स्वीकृति प्राप्त कर बाहर निकलने लगा, पर इधर कृष्ण महाराज को पता चल गया था। अतः उन्होंने आगे-पीछे की सारी बात का ख्याल करके दुर्योधन से कहा कि तुम अपनी जीत के लिये धर्मराज के पास गये थे ना, उन्होंने क्या उपाय बताया, देखो मुझसे मत छिपाना, मुझसे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है, तब दुर्योधन ने सारी हकीकत कह दी। तब कृष्ण महाराज ने सलाह दी कि तुम इतने बड़े राजनपतिराजा होकर अपनी माँ के सामने सारा बदन खुला कर कैसे जाओगे, कम से कम गोपनीय स्थान पर वस्त्र रखकर जाना, गदा का प्रहार वहाँ तो होगा नहीं, तब दुर्योधन इस बात को स्वीकार कर, उसी तरह माँ के सामने आकर खड़ा हुआ। माँ की जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़ी वह भाग तो वज्रमय बन गया, लेकिन वस्त्र से अनावृत अंग कच्चा रह गया। खैर यह कहानी तो बहुत बड़ी है, मैं जो सम्यक्त्व की बात कह रहा था, और इस कथा भाग से हमें बहुत तरह से पुष्टि मिल रही है, यदि आप निर्मल दृष्टा हैं तो आपकी दृष्टि में वह तेज प्राप्त हो सकता है। चेतना में इतनी शक्ति है कि हमारी सारी समस्याओं का हल हमारी चेतना से, हमारी सम्यक्त्व स्थिति से ही हो सकता है।

जब पति के प्रति एकनिष्ठा प्राप्त हो जाने पर गांधारी में भी दुर्योधन को वज्रमय बनाने की शक्ति आ सकती है, तो जो भव्यात्मा परमपिता परमात्मा के प्रति अचल आस्था एवं एकनिष्ठा रखती है उसमें कितनी शक्ति आ सकती है ? यह चिन्तन करिये। यह आस्था सम्यक्त्व से ही आ सकती है। दृढ़ सम्यक्त्वी के सामने मानव की तो बात जाने दो, देवता भी झुक जाते हैं। उनकी शक्ति भी सम्यक्त्वी के सामने फीकी पड़ जाती है। उदाहरण के रूप में "ज्ञाताधर्मकथाङ्ग" सूत्र में वर्णित अरणक श्रावक की धर्म-निष्ठा के सामने देव झुक गया था। श्रेणिक राजा की अचल आस्था के सामने भी देव प्रणत हो गया था। अतः यह स्पष्ट है कि दृढ़ सम्यक्त्वी में सम्यक्त्व तेज से विशेषता आ जाती है।

आत्म शक्ति को जागृत करने के लिये सबसे पहले सम्यक्त्व का जागरण आवश्यक है। वह सम्यक्त्व का जागरण गांधारी की तरह, वीतराग देव के प्रति एकनिष्ठ बने। इसके लिए सम्यक्त्व के आठ आचार हैं। उनका ज्ञान होना भी अतीव आवश्यक है।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

९–७–८५
मंगलवार

□ □ □

१० | प्रभु के प्रति सर्वात्मना समर्पण हो

वीतराग देव ने जो आध्यात्मिक ज्ञान का प्रवाह प्रवाहित किया था, वही ज्ञान का प्रवाह आज भी भव्यात्मा तक पहुँच रहा है। ज्ञान ज्ञानी के पास ही जाता है। आकाश से जैसे पानी वरसता है तो वह खेती को सरसब्ज वनाता हुआ, लोगों की प्यास बुझाता हुआ आखिर समुद्र में ही जाकर मिलता है। ठीक इसी प्रकार तीर्थंकरों ने जो ज्ञान प्रवाह प्रवाहित किया वह गणवरों के कर्ण कुहरों में समाहित होता हुआ और उनके जरिये से जो निर्झर फूटा, उससे आज हम सभी लाभान्वित हो रहे हैं।

जो ज्ञान आज हमें मिल रहा है उसे हमें हृदयस्थ करना है। यदि हम परिपूर्ण समर्पणा के साथ ज्ञान को आत्मस्थ वनाने के लिए तत्पर वन जायं तो वह ज्ञान हमारी सुषुप्त चेतना को जागृत कर सकता है। आत्मा के सर्वांगीण विकास के लिए प्रभु के प्रति परिपूर्ण समर्पणा अति आवश्यक है। जैसे माता के गर्भ से जिस सन्तान का जन्म होता है, वह सन्तान जन्म लेने के साथ ही साथ माता के प्रति अपने आपका समर्पण कर देती है, तभी वह वालकपन से यौवनवय को प्राप्त होता है। विना माँ के प्रति समर्पणा हुए उस वच्चे का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं है। यह समर्पणा भी अपनत्व जहाँ होता है, वहीं परिपूर्ण-रूपेण बनती है। पिता की अपेक्षा माता का अपनत्व सन्तान पर विशेष होता है। इसलिये सन्तान का पिता की अपेक्षा माँ के प्रति विशेष आकर्षण होता है। छोटे बच्चे को माता के कहने का परिपालन करते हुए देख हम यह सचोट कह सकते हैं कि वच्चे की माँ के प्रति इतनी अधिक समर्पणा माँ के अपनत्व के कारण ही होती है।

मेरे स्वयं के बचपन का एक प्रसंग है—वचपन में मुझे जव माताजी (चेचक—ओली माता निकली) हो गये थे, तव मुझे मेरी माताजी रोटी के साथ पतासा लगाकर प्रतिदिन खिलाया करती ताकि रोटी कड़वी नहीं लगे। एक दिन किसी काम से वे नहीं खिला सकीं और पिताजी खिलाने लगे तो मैंने मना कर दिया कि मैं आपसे नहीं खाता। तव पिताजी कहने लगे कि "मैं तुझे जहर तो नहीं खिला रहा हूँ?" फिर भी मैंने नहीं खाई और जव माताजी ने आकर खिलाई तो जल्दी से खाली। कहने का तात्पर्य यह है कि माँ के प्रति वच्चे की जितनी समर्पणा होती है, उतनी अन्य किसी के प्रति नहीं। लोग कहते हैं कि सृष्टि का कर्ता ईश्वर है पर जैन दर्शन की दृष्टि से मैं यह कह

सकता हूँ कि बालक की सृष्टि का कर्ता माँ है। उसमें वह ईश्वरीय शक्ति है कि वह कुम्भकारवत् अपने बच्चे को संस्कारित कर अपने मनोभावों के अनुरूप बना सकती है। महाराजा हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित जिसे माता तारा के ऐसे सुसंस्कार मिले कि वह देव के प्रलोभन में आकर भी अपनी क्षुधा शांत करने को तैयार नहीं हुआ, कारण उसकी अपनी ममतामयी माता के प्रति परिपूर्ण-रूपेण समर्पणा थी और उस समर्पणा का ही पुण्य प्रसाद था कि उसका जीवन बचपन से सुसंस्कारित, उच्च कुल का प्रतीक था। इसी प्रकार वीतराग के मार्ग पर वीतराग की आज्ञाओं पर यदि परिपूर्णरूपेण समर्पणा हमारी हो जाती है तो हमारी आत्मा का विकास परिपूर्णरूपेण सम्भवित है। यदि हमें वीतराग की आज्ञा का सम्यक् बोध नहीं है और हम चारों तरफ के तथाकथित धर्मों को अपना कर संसार के प्रवाह में बह रहे हैं, तो जैसे कहावत है कि "सात मामा का भाणजा भूखा ही रह जाता है"—वही हालत हमारी हो सकती है। अतएव वीतराग की आज्ञाओं का सम्यक् बोध करके उसी पर परिपूर्ण समर्पणा, कृष्ण के प्रति रुक्मणी की तरह हमारी प्रभु के प्रति बन जाय तो जैसे कृष्ण महाराज रुक्मणी की सर्वतोभावेन समर्पणा से उसे संप्राप्त हो गये, ठीक वैसे ही वीतराग की आज्ञा के प्रति हमारी परिपूर्णरूपेण समर्पणा से हमें अपनी आत्मिक उप-लब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

कई शांति इच्छुक लोग मंत्र के विषय में प्रश्न करते हैं और जब नवकार मंत्र उनको बताया जाता है तो वे उसके महत्त्व को नहीं पहचान पाते हैं और अन्य मन्त्रों को जानने की आकांक्षा करते रहते हैं, पर आप नवकार मंत्र के प्रति समर्पणा और उस समर्पणा से होने वाली उपलब्धि को समझने के लिए एक छोटा सा रूपक ध्यान में लें। जैसे कि एक व्यक्ति राष्ट्रपति के प्रति समर्पित है और एक व्यक्ति साधारण सिपाही के प्रति। जो राष्ट्रपति के प्रति समर्पित होकर उसकी उपासना करने वाला व्यक्ति है, वह यदि ठोकर खाकर कहीं गिर जाता है तो उसकी सारसंभाल करने वाले कितने उपस्थित हो जायेंगे? जबकि सिपाही की उपासना करने वाले की यह स्थिति बनने पर अर्थात् ठोकर खाकर गिर जाने पर उसकी सारसंभाल करने वाले कितने लोग उपस्थित होंगे? यदि मान लो उसका इष्ट वह सिपाही उसको सहायता दे भी दे तो भी अन्य सिपाही उसमें बाधक भी बन सकते हैं। ठीक इसी प्रकार ६४ इन्द्रों से वंदनीय नमस्कार मंत्र है और सिपाही की उपासना करने वाले व्यक्ति के समान अन्य मंत्र हैं। नमस्कार मंत्र की उपासना, जो व्यक्ति परिपूर्ण समर्पणा के साथ करते हैं उनकी उपासना राष्ट्रपति की उपासना करने वाले व्यक्ति के समान हर समय, हर परिस्थिति में कामयाब हो सकती है। आपत्ति से हमें उबारने के लिए आत्मबल प्रदान करने में समर्थ हो सकती है। पर अन्य मंत्रों पर समर्पणा जिनकी होती है उनकी उपासना सिपाही की उपासना करने वाले व्यक्ति के समान ही होती है।

से प्रसन्न हो जायं और अपना कार्य सिद्ध कर दें पर उनके द्वारा होने वाली कार्य सिद्धि में भी भजना है क्योंकि उनका कोई विरोधी देव है तो वह उस समय बाधक बन सकता है। जैसे जो व्यक्ति राष्ट्रपति को प्रसन्न कर लेता है उसका कोई बाधक नहीं बन सकता है, ठीक वैसे ही नमस्कार मंत्र की आराधना करने वाला नमस्कार मंत्र में जिनको नमन किया जा रहा है उन परमात्मा एवं महानात्माओं की सेवा में तत्पर रहने वाले जो सम्यग्दृष्टि ६४ इन्द्र देवादि हैं उनको प्रसन्न कर लेता है अथवा वे इन्द्रादि ही जब उस नमस्कार मंत्र की आराधना, साधना करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रसन्न हो जाते हैं अथवा प्रभावित हो जाते हैं तो उस साधक के कार्य सिद्ध होने में कोई देरी नहीं हो सकती है और उन चौसठ इन्द्रों के अधीनस्थ सम्यगदृष्टि हो अथवा मिथ्यादृष्टि कोई भी देव क्यों न हो, वह उस कार्य सिद्धि में बाधक नहीं बन सकता है।

समर्पणा के लिए एक रूपक और ले सकते हैं। अपने घर में जन्मे हुए लड़के और जन्मी हुई लड़की इन दोनों में घर का मालिक कौन होता है? उत्तर होगा लड़का। इसका कारण लड़की की पिता के प्रति समर्पणा, उस घर के प्रति समर्पणा नहीं होती है और लड़के की अपने पिता के और अपने घर के प्रति परिपूर्ण समर्पणा होती है, अतः वह उस घर का मालिक बन जाता है। उसी प्रकार वीतराग देव के घर का मालिक यदि हमें बनना है तो परमपिता महाप्रभु की आज्ञा के प्रति हमारी परिपूर्ण समर्पणा होनी चाहिये और परिपूर्ण समर्पणा के लिये आत्मिक गुणों का विकास भी अति आवश्यक हैं—आत्मिक गुण, संयमानुरंजित धैर्य और साहस से अपने जीवन में जो मनुष्य गतिशील है, उसका जीवन निरन्तर सुसफल बनता जाता है। और वीतरागदेव की आज्ञा का अन्तरंग स्थिति के साथ परिपूर्ण समर्पणा के साथ पालन करने का आत्म पुरुषार्थ जागृत होकर अन्त में परमात्म स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है। महाप्रभु के प्रति हमारी समर्पणा, निःस्वार्थ होती है तो वह निश्चय ही प्रभावशाली बनती है। स्वार्थ युक्त समर्पणा विशेष प्रभावशाली नहीं बनती। इसके ऊपर एक छोटा सा आख्यान है—एक राजा तीव्र वेगगामी घोड़े पर बैठकर जंगल में शिकार खेलने गया तथा सभी साथियों से बिछुड़कर किसी कृषक के कुए पर पहुँच गया। वहाँ एक बुढ़िया बैठी हुई थी, उसने उस राजा का हृदय से सत्कार किया, उसे चटाई पर बिठाया और गन्ने के खेत में जाकर एक गन्ने को लाई और उसका एक लोटा रस निकालकर उसे पिलाया बड़े स्नेहभावपूर्वक, उस राजा की भूख और प्यास दोनों ही शांत हो गई। तब राजा विचार करने लगा कि यह बुढ़िया बहुत शक्तिशाली है। शक्तिशाली क्यों न हो? इतना विस्तृत गन्ने का खेत है, कितना गुड़ बनता होगा? इस पर मुझे जरूर अधिक कर लगाना चाहिए। ऐसा विचार कर वह राजा उस बुढिया के आदर सत्कार को लेकर रवाना हुआ और राज्य में जाकर उसके गन्ने के जितने भी खेत थे उन सब पर कर लगा दिया। कुछ अर्से बाद पुनः कुछ ऐसा प्रसंग बना कि वह

राजा उसी बुढ़िया के आंगन में गया और उसका वही पूर्ववत् आदर सत्कार हुआ। बुढ़िया जब गन्ने का रस लायी तो उसने देखा कि पाँच-छ: गन्ने का रस निकालने पर भी उसका लोटा नहीं भरा तो राजा ने स्वाभाविक रूप से पूछ लिया कि पहले तो सिर्फ एक गन्ने से ही लोटा रस से लबालब भर गया और आज पाँच-छ: गन्ने के रस से भी यह लोटा क्यों नहीं भर पाया? तब बुढ़िया जो कि अनभिज्ञ थी कहने लगी कि 'यही मेरा राजा है' और यहाँ का राजा इतना निष्ठुर बन गया है कि उसने कृषकों के खेत पर बहुत अधिक कर लगा दिये हैं। इसी निष्ठुरता का परिणाम आप देख ही रहे हैं 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत यहाँ प्रचलित है।

जैसे राजा की निष्ठुरता ने गन्ने के रस पर अपना प्रभाव दर्शाया क्योंकि राजा के निजी जीवन का, व्यावहारिक धरातल का प्रजा पर प्रभाव पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार की हमारी प्रभु के प्रति समर्पणा होती है, उसी प्रकार का प्रभाव हमारी आत्मा को जागृत करने में सहयोगी बनता है। यदि राग-द्वेष मुक्त नि:स्वार्थ हमारी समर्पणा है तो हमारी आत्मा भी समर्पणा के अनुरूप वनने में सक्षम बन जाती है।

आचरण युक्त समर्पणा ही आत्मिक शुद्धि में विशेष प्रभावी होती है। आचरण शून्य जीवन का जनमानस पर भी विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसके लिये एक छोटा सा रूपक और दे देता हूँ। एक वार एक त्यागी महात्मा के पास एक वहिन आई और कहने लगी कि मुझे गुड़ का त्याग करा दो तो उन्होंने पहली वार तो नहीं कराया, दूसरी वार पुनः आई तो त्याग करा दिया। जब उस वहिन ने इसका कारण पूछा कि मुझे उस दिन त्याग क्यों नहीं कराया और आज करा दिया इसका क्या कारण है? तो महात्मा ने कहा कि उस दिन मैंने स्वयं ने गुड़ खाया था। अत: तुझे प्रत्याख्यान नहीं कराया और अब मैंने खाना बन्द कर दिया अत: प्रत्याख्यान करा दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार युक्त कथन का ही प्रभाव पड़ता है। जब हमारे जीवन की समर्पणा भी जीवन में आचार-प्रणाली को महाप्रभु की आराधना के अनुरूप बनाकर ही होती है, तव ही उसका विशेष प्रभाव पड़ सकता है। हम मुख से तो वीतराग प्रभु के प्रति समर्पणा के गीत अलापें और जीवन का व्यवहार, हमारा ठीक उससे विपरीत हो तो ऐसी समर्पणा से कुछ भी नहीं होने वाला है। यह तो मात्र एक प्रवंचना ही होगी, जो संसार घटाने के स्थान पर संसार बढ़ा देगी।

अत: आत्म-जिज्ञासु साधक निज में परमात्म स्वरूप की अभिव्यक्ति करना चाहे तो उसके लिए प्रभु के प्रति सर्वात्मना समर्पण आवश्यक है।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्वई

१०—७—८५
बुधवार

११ समर्पणा हो नवकार के प्रति

अनिर्वचनीय शांति के सागर, शांति के आकाश महाप्रभु वीतराग देव हैं। आकाश जिसका कभी अन्त नहीं आता है। सागर जिसकी हम थाह नहीं प्राप्त कर सकते हैं। वैसे ही तीर्थंकर भगवान् ने साधना कर जिस अगाध अमाप शांति की प्राप्ति की है, जिसकी कोई थाह नहीं, सीमा नहीं है। उस शांति में अनन्तानन्त ज्ञान का खजाना भरा पड़ा है। उस ज्ञान खजाने में से कुछ ज्ञान भी यदि मनुष्य ले लेता है, तो वह एक न एक दिन स्वयं सम्पूर्ण ज्ञान का खजाना भी प्राप्त कर सकता है।

लोक में भी देखते हैं कि सेठ के नीचे रहने वाला नौकर भी अपने पुरुषार्थ से एक-न-एक दिन सेठ वन जाता है, वैसे ही वीतराग भगवान् की साधना को निरन्तर अपनाने वाले वीतराग वन जाते हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

हमारा कितना अहोभाग्य है कि हमें यह अमूल्य वीतराग वाणी श्रवण करने को मिल रही है। जब जीवन में वीतराग वाणी के प्रति हमारी समर्पणा होती है, तभी वीतराग वाणी का श्रवण हमारे लिये समुचित रूप से सफलीभूत वन सकता है। जैसे कि जो विद्यार्थी स्कूल में जाकर अध्यापक के प्रति समर्पणा करके चलता है, उनके द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं को अचल विश्वास एवं विनय श्रद्धा के साथ ग्रहण करता है तो उसका समुज्ज्वल विकास संभवित हो सकता है, अन्यथा नहीं। जहाँ बाह्य क्षेत्र में भी समर्पणा की इतनी आवश्यकता है अर्थात् अक्षरीय ज्ञान उपलब्ध करने में भी समर्पणा आवश्यक है तो आत्मोन्नति की आकांक्षा लेकर चलने वालों की वीतराग वाणी के प्रति कितनी निष्ठा, समर्पणा एवं श्रद्धा की आवश्यकता रहती है ? यह विचारणीय है। यदि हमारी वीतराग वाणी के प्रति, नमस्कार मन्त्र के प्रति परिपूर्णरूपेण समर्पणा वन जाये तो आत्मा की अनन्त शक्तियों का अनुभव होते देर नहीं लगेगी।

समर्पणा का यह सूत्र सर्व प्रथम माता-पिता के द्वारा बचपन में ही प्रदत्त सुसंस्कारों से जीवन में पनपता है। यदि बचपन में माता-पिता के प्रति जो बालक समर्पित होता है, वह अपनी समर्पणा की सच्ची फलानुभूति जीवन में करता हुआ उस समर्पणा का हर क्षेत्र में विस्तार कर अपने जीवन में निर्धारित

लक्ष्य की आवाप्ति में सुसफल बन सकता है। बचपन में माता-पिता के प्रति बच्चे की समर्पणा कैसी होनी चाहिये और उसका उत्तरदायित्व किसके ऊपर है ये सारी बातें चिन्तन की स्थिति में लेते हुए यदि माता-पिता अपने अगाध अपनत्व को निभाते हुए बच्चे की सच्ची समर्पणा को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करें और बच्चे माता-पिता के साथ सच्ची समर्पणा रखें तो आज के युग में बहुतांश रूप से जो माता-पिता का सन्तान के साथ और सन्तान का माता-पिता के साथ अपने-अपने उत्तरदायित्व से परे व्यवहार चल रहा है, वह समाप्त हो जायेगा। आज तो तन, मन से सेवा करना तो दूर रहा, पुत्र मां-बाप को मारने के लिये भी तत्पर हो जाता है तो वहाँ पुत्र की समर्पणा के सुसस्कारों का अभाव नहीं तो और क्या है ? मैं क्या कहूँ—अमरावती का एक प्रसंग है—अमेरिका जाकर आया हुआ डॉक्टर अपनी बूढ़ी मां की बीमार अवस्था में सेवा न कर उसे पोयजन (Poison) का इंजेक्शन देने को तैयार हो गया था। अतः माता का कर्तव्य है कि बचपन से ही अपना यथोचित्त उत्तरदायित्व निभाती हुई अपनत्व एवं वात्सल्य भावों के साथ अपनी सन्तान में समर्पणा के सुसंस्कार, समर्पणा की संजीवनी, धार्मिक पुट के साथ समर्पणा का बीज वपित करे, ताकि भविष्य में कभी अपनी सन्तान के प्रति कठोर व्यवहार की अधिकारिणी वह नहीं बने, बचपन से ही समर्पणा के सुसंस्कारों में पलने वाली आत्मा अध्यापक आदि के साथ समर्पणा का पार्ट अदा करती हुई यदि वीतराग देव की आज्ञा के प्रति निष्ठा पूर्वक सर्मापित हो जाती है तो ऐसी आत्मा स्व के साथ अन्य आत्मा का भी उद्धार कर सकती है।

एक आख्यान सुनने को मिलता है—एक चोर जिसे फांसी की सजा मिली थी उसे देखने के लिये बड़ी संख्या में जनता एकत्रित हुई। फांसी लगने से पूर्व उस चोर को बहुत जोर से प्यास लगी, पर राजा के प्रति, राजा की आज्ञा के प्रति समर्पित वह जनता, वह प्रजा, उसका एक भी सदस्य उसे पानी पिलाने के लिए तैयार नहीं हुआ, पर उसी भीड़ में वीतराग भगवान् की आज्ञा में समर्पित जिनदास सेठ जो कि सम्यग्दृष्टिपने का आराधक था। अनुकम्पा बुद्धि से वह चोर के नजदीक पहुँचा, और कहने लगा कि तुम्हारे मृत्यु के क्षण नजदीक आ चुके हैं पर भाई यदि प्यास से छटपटाते हुए पानी-पानी की रट लगाते हुए आर्त्तध्यान (अपध्यान) करते हुए मरोगे तो पानी के अन्दर ही जीव रूप से उत्पन्न हो जाओगे और यदि फांसी देने वाले पर रोष करोगे, और यदि तुम्हारे विचारों में द्वेष की उत्कृष्ट रसायन आ जायेगी तो रौद्र नरकों में जन्म लेना पड़ेगा जहाँ घोरातिघोर दुःख हैं। अतः भाई तुम—अपने पाप का पश्चाताप करते हुए नमस्कार मन्त्र का जाप शुरू कर दो, इधर मैं तुम्हारी प्यास बुझाने के लिए पानी लाता हूँ। यदि मैं पहुँचू उससे पहले तुम्हारी मृत्यु हो जाय तो इस मन्त्र का जाप, इसके प्रति पूर्ण समर्पणा रख कर उच्चारण

करते रहना, इससे तुम्हारी सुगति हो जायेगी, तुम्हारे सारे पाप एक-न-एक भव में भस्मीभूत हो जायेंगे ।

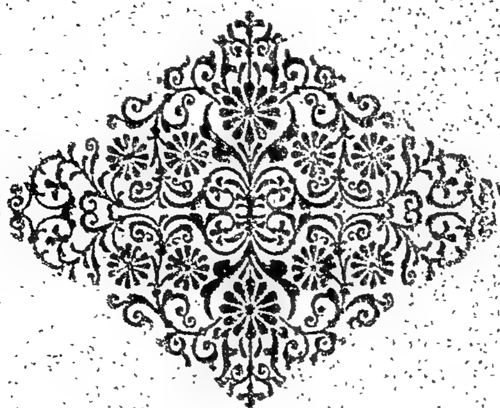
उस सेठ की बात को वह अत्यन्त श्रद्धा से सुन रहा था, आचारवान उस श्रावक की वाणी का अद्‌भुत प्रभाव पड़ा, उस चोर ने नवकार मन्त्र कौनसा है जानने की जिज्ञासा की, और नवकार मन्त्र का श्रवण कर उसका श्रद्धा के साथ जाप चालू कर दिया । किन्तु मृत्यु का भयानक आतंक सामने होने से चोर, मन्त्र याद नहीं रख सका पर वह शुद्ध भाव से इतना ही उच्चारण कर पाया कि—"आणू-ताणू कुछ नहीं जाणू सेठ वचन परमाणू" अर्थात् जिन वीतराग वचनों पर सेठ समर्पित है मैं भी उन्हीं वचनों पर समर्पित हूँ । उसके मुँह से, भीतर में, श्रद्धा में अवगाहन करती हुई वचन वर्गणा से निसृत शब्द, पूर्ण श्रद्धा के साथ थे ।

नवकार मन्त्र के प्रति अंतिम घड़ियों में चोर की जो आन्तरिक समर्पणा बनी इससे उसको देवलोक की संप्राप्ति हुई । निष्कर्ष यह निकलता है कि वीतराग भगवन्तों की वाणी के प्रति जो समर्पणा बन जाती है तो उसके, सुमधुर फल से पुण्यात्म का सम्यक् रूपेण उद्धार होता ही है पर पापात्म भी उन भावनाओं से आत्म शुद्धि करता हुआ पुण्यार्जन के साथ-साथ निर्जरा के प्रशस्त मार्ग पर आगे बढ़ जाता है । और अज्ञानतावश बान्धी हुई अनिकाचित् अशुभ पाप प्रकृतियों को शुभ पुण्य प्रकृतियों में परिवर्तन कर लेता है ।

अन्त में निष्कर्ष यही है—कि पहली समर्पणा माता-पिता, दूसरी समर्पणा अध्यापक के प्रति, तीसरी समर्पणा वीतराग भगवान् की आज्ञा के प्रति होनी चाहिये । यदि दो प्रकार की समर्पणा जीवन में है पर वीतराग भगवान् की आज्ञा के प्रति समर्पणा जब तक नहीं होती है, तब तक सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं, जीवन का सही रूपेण विकास नहीं कर सकते हैं । अतः शाश्वत शांति के लिए वीतराग देव के प्रति समर्पणा आवश्यक है ।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

११-७-८५
गुरुवार



सम्यक्-दर्शन

(जीवन जीने की सुदृढ़ नींव)

आठ-आचार

- निःशंकित
- निःकांक्षित
- निर्विचिकित्सा
- अमूढ़-दृष्टि
- उपबृंहन
- स्थिरीकरण
- वात्सल्य
- प्रभावना

१२ निःशंक समर्पणा बने—जिनवाणी पर

अंतिम तीर्थंकर प्रभु महावीर की अमोघ वाचना का प्रसंग यहाँ चल रहा है। जिस वाणी में आत्मा की समग्र ऋद्धि-समृद्धि का अखूट खजाना भरा हुआ है, उस वाणी में से यदि उस शाश्वत सुख और आध्यात्मिक लक्ष्मी को पाना है तो ग्रहण करने के लिए दत्तचित्त बन जाना है। दत्तचित्त का तात्पर्य है कि श्रेष्ठ वस्तु को ग्रहण करने में एकाग्रता के साथ विनम्र भाव रखना है। वीतराग वाणी के ग्रहण में विनम्रता अति आवश्यक है। आप सन्तों के ज्ञान दर्शन और चारित्र को वंदन करते हैं, उस समय भावना यही बनती है कि आप महान् हैं, गुणों के भण्डार हैं, आप जैसे गुण मुझमें भी आ जायें, अतएव मैं आपको अन्तर समर्पणा के साथ हार्दिक भाव से वन्दन करता हूँ। आप मुनियों के पैर में अपना मस्तक लगाते हैं, कारण कि मुनि के समग्र शरीर में गुण व्याप्त हैं अतः चरण में व्याप्त गुण ही यदि मुझमें आ जायं तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँ। यही आपकी भावना बनती है।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि "हत्थ संजए, पाय संजए, वाय संजए" इत्यादि सूत्र से यह ज्ञात होता है कि संयमी आत्मा के समग्र अवयव उनके हाथ, उनके पैर, उनकी वाणी, आत्म गुणों से, संयम से परिपूरित होती है। अतः हम समर्पणा की भावना से उन गुणों को विनय भाव से वन्दन करते हुए अपने में भी उजागर कर सकते हैं।

समर्पणा दो तरह की है—एक तो सांसारिक कृत्यों के प्रति समर्पणा बनती है। जैसे माता-पिता के प्रति, अध्यापक के प्रति आदि-२ और दूसरी आध्यात्म के प्रति समर्पणा। जो सम्यग्दर्शन के प्रति समर्पित हो जाता है उसको आध्यात्म के प्रति समर्पणा भली-भाँति सम्यक्रूपेण बन जाती है। कोई व्यक्ति किसी के यहाँ नौकरी करता है तो उसे सेठ के प्रति नम्र होकर रहना पड़ता है। नेताओं के अधीनस्थ रहने वालों को नेताओं के प्रति समर्पित होकर रहना पड़ता है तभी उनका काम चलता है। तो आध्यात्म साधना के लिए अपने जीवन में सुषुप्त आध्यात्मिक लक्ष्मी को जागृत करना है तो वीतराग प्रभु की अमोघ वाग् धारा के प्रति, उनकी आत्म हितैषी आज्ञाओं के प्रति निःशंक समर्पित होकर चलना अतीव आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के आठ आचार जो प्रभु ने बतलाए हैं, उनमें भी समर्पणा की बात, समर्पणा की शर्त समाहित है।

सम्यक्त्व के आठ आचारों के प्रति हमारा जीवन सर्वतोभावेन समर्पित बन जाय तो आत्म वैभव का अखूट खजाना प्राप्त होते कोई देरी नहीं लगे।

सम्यग्दर्शन जिसके आठ आचार—उनमें सर्वप्रथम आचार है निशंकित वीतराग भगवान के वचनों में किसी प्रकार की शंका नहीं करना, इससे निशंकित आचार की परिपालना होती है। जैसा कि शास्त्र का वाक्य है—"तमेवं सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं" वही सत्य निशंक है, जो जिनेश्वरों द्वारा प्रवेचित है, ऐसा विश्वास बने। उसमें कुतर्क-वितर्क नहीं करना, इससे वीतराग वाणी के प्रति समर्पणा उत्पन्न होती है और अन्तर की शक्ति ऊर्ध्वगामी बनती है। जो सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के राकेट में बैठ जाते हैं, और सम्यक् उड़ान भरते हैं तो उन भव्यात्माओं को सिर्फ एक समय लगता है, अपने अष्ट कर्म क्षय होने के बाद, मुक्तिपुरी में पहुँचने के लिए। अतः हमें धर्म करणी करते हुए उसके शुभ फल की प्राप्ति तत्काल यदि न भी हो, तो भी कभी भी जिन वचनों में, धर्म की अनन्त शक्ति में शंका नहीं करनी चाहिये। प्राप्त दुःख को निकाचित कर्मों का उपभोग समझकर अन्तर ज्ञान के चक्षु उद्‌घाटित करते हुए कर्म फिलो-सोफी का ज्ञान समकक्ष रखकर, शांत भावों से सहन करना चाहिये, ताकि पूर्वबद्ध कर्म निर्जरित हो जायेंगे और धर्मकरणी का, प्रशस्त भावनाओं का, सुफल शब्द द्वारा अकथनीय अनुभवगम्य आत्मऋद्धि के रूप में उपलब्ध होगा।

आपने कई बार सुना होगा कि—गौतम स्वामी जिनको आत्मा विषयक क थी कि "आत्मा है या नहीं"? पर कुछ बनाव ऐसा बना जिससे वे जब भु महावीर के नजदीक पहुँचे और सर्वज्ञ सर्वदर्शी, घट-२ के अन्तर्यामी प्रभु महावीर के द्वारा यह पूछने पर कि "गौतम! क्या तुमको यह शंका है कि—आत्मा है या नहीं?" सिर्फ इतने से शब्दों को श्रवण करते ही, सत्यद्रष्टा केवल-ज्ञानी के वचन वर्गणाओं का, वचन शक्ति का, अद्‌भुत प्रभाव पड़ा कि गौतम स्वामी की अन्तर आत्मा जागृत हो गई और अभिमान के शिखर से उतरकर वे श्रद्धाभिभूत हृदय से, गद्‌गद भावों के साथ प्रभु महावीर के चरणों में समर्पित हो गये। इतने अधिक विनम्र बन गये कि उतना प्रशान्त विनय आज के साधकों के लिए आदर्श दर्पण बन गया और उसी विनय गुण की स्थिति से, प्रभु महावीर के प्रति, उन तीर्थेश्वर के वचनों के प्रति, सर्वतोभावेन समर्पणा के कारण ही गौतम स्वामी ने सिर्फ त्रिपदी "उप्पेइवा विगमेइवा धुवेइवा" सुनकर द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त कर लिया प्रथम गणधर की पदवी संप्राप्त करली और सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक लक्ष्मी का वरण कर मोक्षगामी बन गये। उन महापुरुषों के जीवन विषयक शास्त्रीय आख्यानों का श्रवण करते हुए यह विचारना है कि संत मुनि-राजों द्वारा कथित वीतराग वचनों के प्रति अर्थात् सम्यक्-दर्शन के प्रति हमारी समर्पणा है या नहीं? यदि नहीं है तो सम्यक् दर्शन का प्रथम आचार हमारे जीवन की पृष्ठभूमि पर नहीं उतर सकता।

वीतराग वचन के प्रति दृढ़ आस्था रूप श्रद्धान करो, पर कैसे ? इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझिये- एक बहुत बड़े सेठ थे, जिनके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी। साथ ही उनके जीवन में यह बहुत बड़ा सद्‌गुण भी था कि वे नित्य प्रतिदिन संत-संगति किया करते थे। ये विचार उनके मानस में उभरते रहते थे कि मेरे पास तो यह भौतिक सम्पत्ति है पर इन महान् आत्माओं के पास जो आध्यात्मिक सम्पत्ति है, क्या ही अच्छा हो कि मैं भी इस नश्वर भौतिकता से परे हटकर आध्यात्मिक लक्ष्मी का मालिक बनूँ। उन्हीं शुभ भावों से उनके जीवन में महात्माओं के प्रति अन्तर में समर्पणा बनी। बिना समर्पणा के तो कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है। जैसे—गाय के बछड़े की गाय के प्रति समर्पणा होती है इसलिए वह गाय अपने मालिक को तब तक दूध नहीं निकालने देती जब तक कि अपने बछड़े को दूध नहीं पिला देती है, और यदि वह छूटकर गाय के पास कभी पहुँच जाता है, तो गाय उसे पूरा का पूरा दूध पिला देती है। इसी प्रकार तुम भी वीतराग भगवान के ज्ञान खजाने के प्रति गाय के बछड़े की तरह दत्तचित्त होकर समर्पित हो जाओगे तो तुम्हें पूरा का पूरा ज्ञान खजाना मिल जायेगा।

समर्पणा से उस सेठ को एक संन्यासी से मंत्र की उपलब्धि हुई। मंत्र की साधना विषयक प्रश्न पूछने पर वताया कि—घर में बैठकर तो साधना नहीं हो सकती है, अतः जंगल में जाकर एक वृक्ष की डाली पर कच्चे धागे से छींका वाँध दो और नीचे चूल्हे को खोदकर उस पर कड़ाह रखकर तेल गर्म करने के लिये रख दो, जव तेल वहुत उवलने लग जाय तब तक तुम उस छींके पर बैठकर मंत्र पढ़ते-२ क्रमशः एक-२ धागा तोड़कर नीचे डालते रहो। इस क्रम से सब धागे टूटने के साथ तुम्हारी मंत्र की परिपूर्णरूपेण साधना सफल होते ही तुम आकाश में उड़ने की विद्या प्राप्त कर लोगे और उसी क्षण आकाश में उड़ भी जाओगे। पर सेठ के मन में शंका हुई कि कहीं मेरी साधना सफल नहीं हुई और मैं आकाश में उड़ने के वजाय इस उवलते तेल से लबालब भरे गर्म कड़ाह में गिर गया तो प्राणों से भी हाथ धोना पड़ेगा। अतः उसने वह मन्त्र नहीं साधा वरन् उस मन्त्र को तिजोरी में सुरक्षित रख दिया और उसके साथ उस संन्यासी के द्वारा वताई गई सारी मन्त्र साधने की विधि भी लिखकर रखदी, कुछ समय वाद सेठ तो काल कर गये और उनका पुत्र जो पिता की पदवी प्राप्त कर सेठ वना उसे पिताजी की चौपड़ियों (बहियों) में वही मन्त्र और उसको पाने की सारी विधि लिखी हुई मिली। उसे पढ़कर लड़के की इच्छा उस मन्त्र को साधने की हुई। वह विधि के अनुरूप जंगल में जाकर वृक्ष के नीचे चूल्हा खोदकर कड़ाह रखकर तेल उबालने के लिए उसमें डाल दिया तथा डाली पर कच्चे सूत का छींका लटका दिया, जैसे-२ तेल उबलने लगा वैसे-२ उसके मन में डाली पर चढ़ने की तत्परता तो हुई पर मन ही मन शंका भी हुई कि मेरी यह साधना सफल होगी या नहीं ? कहीं मैं कड़ाह में गिर गया तो....। इस अविश्वास के

कारण वह बार-२ डाली पर चढ़ने की हिम्मत करता, और पुनः-२ संकल्प से डिगायमान हो जाता ।

उसकी इस चर्या के बीच ही क्या हुआ कि एक चोर जो कि राजा के यहाँ से चोरी करता हुआ पकड़ा गया, पर कोतवाल उसे कैद नहीं कर पाया और वह दौड़ता-२ उसी जंगल में पहुँचा जहाँ वह सेठ का लड़का मन्त्र की तैयारी कर मन्त्र के प्रति पूर्ण समर्पणा के अभाव में संशय उत्पन्न हो जाने से छींके पर चढ़ूं अथवा नहीं चढ़ूं ? ऐसा विचार कर रहा था, कारण कि प्राणी का व्यामोह जो उसे था और संन्यासी के वचनों पर पूर्ण विश्वास नहीं हो पा रहा था । ज्योंहि उस चोर की दृष्टि उस सेठ के लड़के पर पड़ी और उसने उससे सारी जानकारी चाही कि तुम यहाँ इस स्थिति में कैसे खड़े हो ? तब सेठ के लड़के ने आद्योपांत सारा वृत्तान्त उस चोर को कह सुनाया, यह सुनकर चोर ने सोचा कि कोतवाल मुझे पकड़ने के लिए मेरा पीछा कर रहा है, चोरी मेरी पकड़ी गयी है, अतः मुझे प्राणदंड तो मिलेगा ही, क्यों न मैं इस लड़के को चुराये हुए दोनों रत्नों के डिब्बे देकर, इस मन्त्र को प्राप्त करलूं ? यह विचार कर चोर ने अपने मन में सोचा हुआ प्रस्ताव सेठ के लड़के के सामने रख दिया । चोर के प्रस्ताव को सुनकर मन्त्र साधना की सफलता पर संदिग्ध बना वह सेठ का लड़का दोनों रत्नों के डिब्बे को लेकर उसके बदले उस चोर को मन्त्र साधने की सारी विधि बतलाकर वहाँ से रवाना हो गया ।

चोर जिसे अब मरने की तो कोई परवाह थी नहीं, क्योंकि प्राण संकट में तो पहले से ही पड़े हुए थे, अतः यह सोचकर कि कदाचित् बच जाऊँ तो मन्त्र सिद्ध हो जाने पर आकाश में उड़ जाऊँगा । ऐसा दृढ़ विश्वास कर वह उस कच्चे धागे के छींके में बैठ गया और मन्त्र पढ़ता हुआ एक-२ धागा तोड़कर नीचे डालने लगा, ज्योंहि पूरा छींका टूटा कि वह आकाशगामी विद्या को प्राप्त कर आकाश में उड़ गया । इधर वह सेठ का लड़का दोनों रत्नों के डिब्बे को लेकर घर की ओर जा रहा था और बीच रास्ते में राजा के द्वारा प्रेषित कोतवाल के द्वारा पकड़ा गया, चोरी के माल उसके पास देखकर उसे प्राण दंड दिया गया । बिचारा बेमौत मारा गया ।

इस दृष्टान्त से ज्ञानी जनों ने यह समझाया कि हमारी वीतराग भगवान की आज्ञा के प्रति श्रद्धा है या नहीं ? नमस्कार मन्त्र के प्रति श्रद्धा है या नहीं यानी परिपूर्ण समर्पणा है या नहीं ? वह सेठ का लड़का जिसने मन्त्र की साधना की सफलता पर अविश्वास किया तो उसकी क्या स्थिति बनी ? और चोर मन्त्र की साधना के प्रति प्राणों की परवाह न करके पूर्णतया समर्पित हो गया तो उसने प्राण सुरक्षा के साथ सफलता हासिल करली । इसी प्रकार यदि हम वीतराग भगवान के वचनों पर निःशंक समर्पित हो जायं और अपने लक्ष्य

के प्रति समर्पित होकर चलें, चाहे कितनी भी आपदाएँ आ जायें तो भी अपने लक्ष्य से विचलित न हों, तीर्थंकर भगवन्तों की आज्ञाओं में बिना किसी प्रकार की शंका के परिपूर्ण रूपेण समर्पणा बनाए रखें और तदनुरूप हमारी जीवन-चर्याओं को गतिशील बनाये रखें तो इस सम्यक्त्व के प्रथम आचार "निशंकित" से एक न एक दिन अपनी सम्पूर्ण आत्म ऋद्धि को प्रकट कर सकने में सक्षम बन जायेंगे।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

१२-७-८५
शुक्रवार



१३

निःशंक और निःकांक्ष बनें

(सम्यक्त्व का द्वितीय आचार)

जीवन की इस भव्य वेला में जब शुभ काम करने का प्रसंग आता है, तब उस शुभ काम में विघ्न न आने पावे, इसके लिये मंगलाचरण करने की आवश्यकता है। वह मंगल, तीर्थङ्कर देव का पवित्र नाम और उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, संयम, तप रूप धर्म है, जो आत्मा के साथ स्वभाव से सम्बन्धित है। यही मंगल सभी मंगलों में प्रधान है। अन्य-अन्य मंगलों का लोक रूढ़ि में जो प्रयोग किया जाता है, वे विघ्नों का नाश करने में सक्षम नहीं हैं। जैसे चावल, कुंकुम, लच्छा इत्यादि, इन वस्तुओं को स्वयं को यह मालूम नहीं है कि हम मंगल रूप हैं तो फिर ये दूसरों का मंगल कैसे कर सकती हैं। अतः जिन्हें इतना ज्ञान है कि विघ्नों का नाश किस विधि से ठीक तरह (प्रकार) से हो सकता है? कौनसा मंगल उसमें कामयाब हो सकता है? वही मंगल, मंगलाचरण रूप में प्रस्तुत करना उचित है और वह मंगल है सम्पूर्ण मंगलों के स्थानभूत तीर्थंकर प्रभु का नाम-स्मरण और उनके अनन्त स्वरूप की स्तुति।

जो वस्तुतः दर्शनीय होता है उसके दर्शन करने ही चाहिये और ऐसा दर्शनीय तत्त्व हमारी आत्मा ही है। क्योंकि वह त्रिकालवर्ती अखण्ड, अमर, अजर है। जो क्षण-क्षण में विनष्ट हो रहा है, वह पदार्थ दर्शनीय नहीं हो सकता है। आप देख रहे हैं, यह पाट जो कि लकड़ी का बना हुआ है, वह कुछ दिनों के बाद किस प्रकार परिवर्तन को प्राप्त हो जाता है। जो तत्त्व स्थायी नहीं रहता है, जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं है, आत्मिक गुण नहीं है, त्रिकालवर्ती नहीं है, वह यथार्थ में दर्शनीय भी नहीं है। अतः जो दर्शनीय तत्त्व हमारी आत्मा है। उसके सौम्य स्वरूप को जानने के लिए सभी को प्रयत्नशील बनना है। यह चिन्तन करें कि वास्तव में अनन्त सुख स्वरूपी मेरी आत्मा की वर्तमान में कैसी दशा बनी हुई है? जैसा कि कविता की कड़ियों में बतलाया गया है:—

बहु पुण्य केरा पुंज थी, शुभ देह मानव नो मल्यो।
तो ए अरे भवचक्रनो, आंटो नहीं एके टल्यो॥ टेर॥

सुख प्राप्त करता, सुख टले छे,
लेश ए लक्ष्ये लहो।
क्षण-क्षण भयंकर भाव मरणे, कां अहो राची रह्यो॥ १॥

अनन्त पुण्यवानी का अर्जन करने के वाद तो यह नर तन और शास्त्र श्रवण आदि दुर्लभ अंग मिले हैं। फिर भी भव चक्र का जो आंटा-फेरा है, वह अब तक दूर नहीं हुआ है, तो क्यों नहीं दूर हुआ है ? इस विषय में विचार करें। विचार करने पर वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जायेगी कि अब तक सही रूप में अध्यात्म की ओर कदम नहीं बढ़ाए हैं। शाश्वत सुख और शान्ति पाने के लिये आवश्यकता है—वास्तविक धर्म को जीवन में समाहित कर आत्यंतिक और एकान्त मंगल करने की।

आज प्रत्येक मनुष्य सुख प्राप्त करना चाह रहा है, पर सुख का मूल स्रोत नहीं जानने से भौतिकता के पीछे पड़कर सुख के वजाय दुःख की उपलब्धि करता जा रहा है।

सम्यक्त्व के आठ आचार जिसका प्रतिपादन आपके सामने चल रहा है—उसमें प्रथम आचार है निशंकिय—अर्थात् जिन वचन में शंका नहीं करना। कभी कदाचित् वीतराग वाणी का कोई गूढ़ तत्त्व, गूढ़ रहस्य समझ में नहीं आये तो भी हमारे भीतर इतनी श्रद्धा (मजबूत, अगाध) हो, कि हमें देव, दानव भी जिनवाणी रूप अर्हत् धर्म की निष्ठा से विचलित न कर सकें। आपने ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र में वर्णित अर्हन्नक श्रावक का वर्णन सुना होगा। जिसकी दृढ़ धर्मिता, दृढ़ निष्ठा की स्वयं इन्द्र ने देवलोक में प्रशंसा की थी जिसे सुनकर एक मिथ्यात्वी देव, अर्हन्नक श्रावक की परीक्षा लेने के लिए विकराल रूप बनाकर नाव में वैठे अर्हन्नक के सामने आ खड़ा हुआ था। जिसकी विकरालता इतनी भयानक थी कि देखने वालों के रोएँ-रोएँ काँप उठे किन्तु आस्था का अविचल सुमेरु अर्हन्नक निर्भय वना रहा।

देवरूप विकराल राक्षस ने अर्हन्नक को वहुत प्रकार से समझाने की चेष्टा की, उसे मारने तक की धमकी दी कि तू धर्म की श्रद्धा से विचलित हो जा किन्तु क्या मजाल, कि अर्हन्नक श्रावक डिग जाय। आखिर देव की ही हार हुई और वह अपने देवरूप में आकर श्रमणोपासक अर्हन्नक के चरणों में झुक गया।

धम्मो मंगल मुक्किठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमं सन्ति जस्स धम्मे सया मणो॥

दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का सार (संक्षेप) यह स्पष्ट करता है कि जिसका मन, उत्कृष्ट धर्मरूप मंगल-अहिंसा, संयम, तप में निरन्तर लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

अतः भव्य आत्माओं की श्रद्धा, जिनवाणी पर अविचल निशंक होनी चाहिये। जो तत्त्व हमें समझ में न आवे उसके लिए हमारे मुंह से यही शब्द

निकलें कि मेरी अभी बुद्धि इतनी निर्मल नहीं है कि मैं वीतराग देव की इतनी गहरी वाणी को बराबर समझ पाऊँ, भले ही आज मैं उसमें पूर्णरूपेण अवगाहन नहीं कर पा रहा हूं, पर यह मुझे अटल विश्वास है कि वीतराग भगवान के जो वचन हैं वे सत्य तथ्य हैं। उसमें शंका करने की किंचित् मात्र भी गुंजाइश नहीं है। जब मेरी बुद्धि कर्म निर्जरा के प्रशस्त पथ पर बढ़ते हुए निर्मल बन जायेगी, तब मैं वीतराग भगवान के सारे तत्त्वों को सरलतया समझ सकूँगा।

वीतराग वाणी की कई बातें आज भौतिक विज्ञान जगत् में भी प्रत्यक्ष हो रही हैं, जैसे कि अन्तिम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने बताया है कि जो शब्द हम बोल रहे हैं वे द्रव्य-वर्गणा है, पुद्गल वर्गणा है, गेन्द की तरह उन्हें इधर-उधर संप्रेषित किया जा सकता है। मनुष्य जिन शब्दों को बोलता है, उसके लिए वह तद् योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उन्हें शब्द रूप में परिणमित कर फिर बाहर निकालता है। यह बात संकेत रूप में प्रज्ञापना सूत्र के ग्यारहवें भाषा पद में मिलती है। उनमें जिनकी बुद्धि निर्मल नहीं थी वे यह कहते थे कि जो हमारी दृष्टि में आये वही सत्य है और जो नहीं आये, उसे हम नहीं मानते। अन्य दर्शनकारों ने भी कहा है कि "शब्द, आकाश का गुण है, हम उसे द्रव्य नहीं मानते।" कई वैज्ञानिक लोग भी यह बात नहीं मानते थे कि शब्द पुद्गल द्रव्य है। पर जब उन्होंने कुछ वर्षों पूर्व इसका प्रयोग किया, तब उन्हें यह मानना पड़ा कि यह शब्द मेटर (Matter) है और यह चारों दिशा में फैल सकता है, लोक के अन्तिम किनारे तक पहुँच सकता है। जैसे पानी में पत्थर डालने से उसकी तरंगें चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार शब्द की पुद्गल वर्गणा, बोलने के साथ चारों दिशा में विस्तारित होकर वायु मण्डल को प्रभावित करती है। इसी का परिणाम है कि आज आप रेडियो, टेलिविजन, ट्रांसमीटर, वायरलेस आदि अनेक साधनों से हजारों मील दूर के शब्द सुन लेते हैं। यह बारीक रहस्य की बात प्रभु महावीर के समय और उसके बाद भी कई-कई नहीं मानते थे, पर आज प्रभु महावीर का यह शब्द विषयक विज्ञान इतना विस्तृत हो गया है कि एक सामान्य व्यक्ति भी इस बात को बिना किसी गम्भीरता की अपेक्षा के सरलता से स्वीकार कर लेता है कि हम बोलते हैं, वह आवाज दूर-दूर तक पहुँच सकती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो तत्त्व कभी समझ में नहीं आये, वही तत्त्व बुद्धि की निर्मलता से विचार करने पर गहराई में पैठने पर समझ में आ सकते हैं। अतः हम कभी भी जिन वचनों पर शंका नहीं करें।

सम्यक्दर्शन का दूसरा आचार है निर्कांक्षा अर्थात् हमारे जीवन की स्थिति कांक्षा रहित हो। हम सही धर्म के सच्चे स्वरूप को जानकर अन्य जड़ धर्मों से प्रभावित नहीं होवें। आप जब प्रातःकालीन बेला में दर्पण के सामने

खड़े रहते हो और अपने रूप को निहारते हो तब मन में कैसी-कैसी विचार-धाराएँ उत्पन्न होती हैं, क्या कभी रूप की विनश्वरता पर आपको विचार नहीं आता है ? अरे ये पांच इन्द्रियों के विषय-सुख कपूर की टिकिया की तरह क्षणिक हैं। पांच इन्द्रियों के विषय में आसक्त बनी यह अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा अपने निजी स्वरूप को भूल जाता है । इन्द्रिय-रामी बनकर संसार में ही भटकता रहता है । आत्मा रामी वही बन सकता है जो इन्द्रियासक्ति से निरपेक्ष बनता हुआ आत्मचिन्तन करे ।

सम्यक्त्व के दिव्य आचार का कथन करते हुए मैं आपसे यही कहना चाह रहा हूँ कि पाँच इन्द्रियों के विषय में रमण कराने वाला जो धर्म है उससे प्रभावित होकर कभी भी आत्म स्वरूप की पहचान कराने वाले, वीतराग धर्म से विमुख नहीं बनें ।

बन्धुओ ! जरा विचार करो कि सम्यक्दर्शन जो कि बहुत गहरा दर्शन है । उस दर्शन की भूमिका यदि शुद्ध नहीं बनती है तो वह वीतराग प्रभु के अन्य गूढ़ तत्त्वों को भी नहीं समझ सकता । अत: मैं घूम फिर कर इस विशाल व्यापक सम्यक्त्व का स्वरूप बताना चाह रहा हूँ और कहना चाह रहा हूँ कि सम्यक्त्व की भूमिका हमारी तभी शुद्ध बन सकती है, जब हम सम्यक्त्व के आठों आचारों की स्थिति को जीवन में सम्यक् रूपेण विकसित करलें ।

मोटा उपाश्रय — १३-७-८५
घाटकोपर, बम्बई — शनिवार



१४ मूल्यांकन करो वर्तमान का

वर्तमान का समय ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अतीत का समय बीत चुका है, इसलिये उसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया है और भविष्य का समय अभी आया नहीं है और वह अपने लिए इस रूप में आएगा भी या नहीं, यह भी निश्चित नहीं है। अतः महत्त्वपूर्ण समय है तो वह वर्तमान का समय ही है।

वर्तमान का समय 'देहली दीपक न्याय' से भूत एवं भविष्य के समय को भी प्रकाशित करने में समर्थ हो जाता है। यद्यपि अतीत का समय बीत चुका है। बीते हुए समय का अब क्या परिवर्तन होना है, किन्तु फिर भी बीता हुआ जीवन परिवर्तित हो सकता है। उदाहरण के रूप में, क्यों न किसी व्यक्ति का अतीत का जीवन अन्याय, अनीति, अविवेक और कषाय के साथ बीता हो, लेकिन वही व्यक्ति जब संयम जीवन स्वीकार कर लेता है तो वह बीते हुए जीवन की विकृति को धोने के साथ भविष्य में आने वाले अन्धकारमय जीवन को भी शुभ प्रकाश से आलोकित कर लेता है।

आपने शास्त्र अन्तकृद्दशांग-सूत्र के माध्यम से एक बार नहीं, अपितु अनेक बार अर्जुनमाली के जीवन को सुना होगा, जो प्रतिदिन छः पुरुष और एक स्त्री को मारने वाला हत्यारा बन गया था। जिसका यह कार्य एक-दो दिन नहीं अपितु महीनों तक चला था। लेकिन जब उसे सुदर्शन श्रमणोपासक के साथ ही महाप्रभु का सान्निध्य प्राप्त हुआ कि उसके जीवन में हठात् परिवर्तन आया।

जिसके विचार कषायों एवं हिंसक वृत्ति से भरे रहते थे, वे परिपूर्णतः अहिंसक बन गए। जिसके हाथ में हर समय लोहमय भारी मुद्गर रहता था जीवों को हनन करने के लिए, उसी के हाथ में अहिंसा का प्रतीक जीवों की रक्षा करने वाला रजोहरण आ गया। जिसके मुख से हिंसा की हुंकार निकलती थी, जिसके कारण चरिन्दे और परिन्दे भी काँप उठते थे। और तो और राजगृह नगर के मुख्य द्वार बंद करवा दिये गये थे, लोगों का आवागमन बंद करवा दिया गया था। सम्राट श्रेणिक भी उसका कुछ नहीं कर सका था। उसके मुख पर वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिए भी मुखवस्त्रिका सुशोभित होने लगी थी। उसका आमूल-चूल जीवन बदल गया।

उस अर्जुनमाली की इस साधना ने उसके अतीत के जीवन को साफ करना प्रारम्भ किया और भविष्य के लिये सम्बद्ध हुए कर्म बन्धन को भी धोना प्रारम्भ कर दिया। अर्जुनमाली की कुछेक महिनों की साधना ने ही उसकी आत्मा को इस तरह से झकझोर दिया कि उसकी आत्मा का सारा का सारा कर्म कलिमस दूर हो गया और वह महाप्रभु से पहले ही मुक्ति में जा बिराजे।

बन्धुओ! यह है समय का सदुपयोग। जो आत्मा वर्तमान समय को पहचान कर अपने जीवन को शुभ कार्यों में नियोजित कर देती है तो उसका जीवन सफल बन जाता है, अतीत में चाहे जो कुछ अन्याय-अनीति, अधर्म आदि कार्य किये हों, किन्तु जब उसकी आत्मा उन सब कुछ को हेय समझकर उन्हें छोड़कर अहिंसक कार्यों में लग जाती है, अपने वर्तमान जीवन को सजा-संवार लेती है तो उसका भविष्य का जीवन भी सज-संवर जाता है।

'आचारांग' सूत्र में महाप्रभु ने उन भव्यात्माओं को यह स्पष्ट संकेत दिया है कि "खणं जाणाहि पंडिए" हे भव्य पुरुष तुम समय को पहचानो। जब तक समय के महत्त्व को नहीं समझोगे, तब तक अपने जीवन को सफल नहीं बना सकोगे। वर्तमान में ऐसे अनेक भाई-बहिन देखने को मिलते हैं, जिन्हें समझाया जाता है कि आप अपने जीवन के महत्त्व पूर्ण क्षणों को समझें और उन्हें सार्थक करने का प्रयास करें। जो समय व्यतीत हो चुका है वह पुनः लाख प्रयत्न करने पर भी आने वाला नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया है :—

"जा जा वच्चइ रयणी न सापडिनियत्तइ।"

जो-जो समय व्यतीत हो चुका है, वह पुनः आने वाला नहीं है। जो व्यक्ति धर्म कर लेता है वह अपनी व्यतीत हो रही दिन और रात्रियों को सफल बना लेता है, जो व्यक्ति अधर्म करता है, वह व्यक्ति उन्हें खो देता है।

महाप्रभु के इस शाश्वत सत्य उपदेश को सुन करके भी कई भाई-बहिन यह कहते हुए पाये जाते हैं—कि महाराज साहब! अभी तो जवानी है, कुछ मौज करलें, जब बुढ़ापा आयेगा तब धर्म ध्यान कर लेंगे। लेकिन मैं उनको पूछता हूँ कि क्या बुढ़ापा आयेगा? यह निश्चित है कि एक घण्टे बाद में क्या होने वाला है, यह भी निश्चित नहीं है तो बुढ़ापा निश्चित कैसे हो सकता है और बुढ़ापा आ भी जाय तो क्या उस समय अच्छी तरह धर्म ध्यान हो सकेगा। जिस बुढ़ापे में आप भौतिक सुख सुविधाएं भी अच्छी तरह नहीं भोग सकते, उस बुढ़ापे में अच्छी तरह धर्म-ध्यान साधना भी कैसे हो सकती है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—

"जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायई, ताव धम्मं समायरे ॥"

बन्धुओ! जब तक बुढ़ापा न आवे। शरीर में किसी तरह की व्याधि न

आवे। इन्द्रियाएं क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करलो। क्योंकि अगर शरीर में रोग भी आ गया तो फिर साधना सही ढंग से नहीं हो सकेगी।

इन सब अवस्थाओं को देखते हुए वर्तमान के इन अमूल्य क्षणों को सार्थक करना आवश्यक है। जो वीत गया है, उसे भूल जाइये और जो भविष्य में आ सकता है, उसके ताने-बाने बुनना छोड़ दीजिये। इसमें समय न लगाकर वर्तमान में क्या करना है, इस ओर अपने जीवन की सारी शक्ति को लगा देना आवश्यक है। शास्त्रकारों ने 'समय' को समझने वाले को पंडित कहा है, जो समय को न समझे और केवल पुस्तकीय ज्ञान को लेकर चले वह पंडित नहीं हो सकता। समय की स्थिति को समझने के लिए बड़े-बड़े योगियों ने गुफाओं में जाकर ध्यान लगाया था। लेकिन सभी साधक उसमें सफल नहीं हो सके। समय को सफल बनाने के लिए सबसे पहले अपने मन को परिष्कृत करना आवश्यक है। यदि मन मिथ्यात्व से अनुरंजित है तो उसका जीवन कभी भी सफल नहीं हो सकता। मिथ्यात्व अनुरंजित भले वह कितनी कठोर से कठोर साधना करले पर वह अपने जीवन को सफल नहीं बना सकता। सबसे पहले आत्मा में सम्यक्त्व की स्थिति आना आवश्यक है, सम्यक्त्व की स्वरूप व्याख्या तो आप लोग समझ ही गये होंगे। जैसे कि शास्त्रकार बतलाते हैं :—

अरहंतो महदेवो, जावज्जीवाए, सुसाहूणो गुरूणो।
जिण पण्णत्तं तत्तं, इह सम्मत्तं मए गहियं ।।

सुदेव अरिहंत, गुरु निग्रन्थ, सुधर्म अहिंसामय या निश्चित श्रद्धान होना सम्यक्त्व है।

जब सम्यक्त्व की स्थिति जीवन में आ जाती है तब उसका किया गया धार्मिक अनुष्ठान फलदायी होता है। वह जीवन को समुन्नत बनाने वाला होता है। कई बार ऐसा होता है कि अन्यतीर्थियों के सावद्य आडम्बर देखकर कई भद्रिक भाई-बहिनों का उस ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है। वे अपना मौलिक धर्म भूल-कर उस तरफ अनुरक्त हो जाते हैं, लेकिन इन सावद्य कार्यों में आसक्त होने वाले व्यक्ति हिंसात्मक वृत्ति को प्रोत्साहन देने वाले होते हैं, वे अपने जीवन को कभी सुसफल नहीं बना सकते। कुछ दिनों से आपके समक्ष सम्यक्त्व के आठ आचारों का वर्णन चल रहा है। जीवन की नींव को मजबूत बनाने के लिए इन आचारों का स्वरूप समझ कर उन्हें जीवन में उतारना आवश्यक है।

जो व्यक्ति सम्यक्त्व की स्थिति के साथ दृढ़ता के साथ आगे बढ़ता है, उसकी बिजय निश्चित होती है। ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र में आठवें अध्याय में अरणक श्रावक का वर्णन आया है, जिसे विचलित करने के लिए, धर्म को झूठा साबित करने के लिए, देव ने विविध प्रयास किये। उसे डराया, धमकाया।

लेकिन अरणक श्रावक ने समय को समझा था। वह जानता था कि वर्तमान समय को किस प्रकार महत्त्वपूर्ण बनाना, अपने जीवन को सफल कैसे बनाना। वह देव के इन कष्टों से घबराया नहीं। सब कुछ दृढ़ता के साथ सह गया। आखिर देव को झुकना पड़ा। देव ने एक श्रावक को नमस्कार किया था। अतः जीवन के इन वर्तमान क्षणों को शांति से जीने के लिए सम्यक्त्व को भूमिका पर आरूढ़ होना आवश्यक है।

जीवन को सही ढंग से जीने के लिए सम्यक् दर्शन के ये आचार अत्यन्त उपयोगी हैं। महाप्रभु ने जीने को कला बहुत ही संक्षिप्त सार रूप में बतला दी है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र के राजमार्ग पर अपने जीवन दशा को आगे बढ़ाया जाय। जब तक इस राज मार्ग पर जीव रक्षा सही ढंग से आगे बढ़ता रहेगा। तब तक वह आत्मा की सुषुप्त शक्तियों को जागृत करता हुआ लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता जाएगा।

जिस किसी भी व्यक्ति ने अपने जीवन को शांति से जिया है, तो वह इसी पथ पर बढ़कर ही अतः आप भी आगे बढ़ने का प्रयास करेंगे तो मंगल मय दशा प्राप्त कर सकेंगे।

मोटा उपाश्रय १४-७-८५
घाटकोपर, बम्बई रविवार



१५

स्याद्वाद और विचिकित्सा

(सम्यक्त्व का तृतीय आचार)

आत्मा की अत्यन्त पवित्र दशा को प्राप्त करने के लिये वीतराग देव के सिद्धान्त को शास्त्रीय वाणी के माध्यम से सुनें। स्थूल रूप से तो सभी जान रहे हैं कि वीतराग देव, जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर जो सिद्धान्त बताये हैं, वे हमारे जीवन को सरस बनाने वाले एवं बड़े उपयोगी हैं, पर वे सिद्धान्त किस रूप में जीवन में उतारे जाएँ, कैसे उनकी गहराई में हम उतर सकें, इस विषयक पात्रता अर्जित करना अति आवश्यक है।

वैसे एक आत्मा के स्वरूप में सभी आत्माओं के स्वरूप का समावेश हो जाता है। इसीलिये ठाणांग सूत्र में प्रभु महावीर ने कहा कि "एगे आया" अर्थात् सभी आत्माओं का आत्मीय स्वरूप एक समान है, पर विभाव पर्याय से आत्मा की जुदी-जुदी अवस्थाएँ हैं। जैसे एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि तथा नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवता आदि-आदि। एक स्वरूप में स्थित जीवों के अनन्त पर्याय हैं। अस्तित्व की दृष्टि से सभी आत्माओं का अस्तित्व अलग-अलग होने से, आत्माएँ अनन्तानन्त हैं। सभी स्थिति में सभी में आत्मा अलग-अलग है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि अनन्त आत्माओं को एक कैसे कहा ? ऐसी बातों को समझाने के लिये प्रभु ने नयों का स्वरूप बताया है। अलग-अलग अपेक्षाओं का कथन किया है। उनसे जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में समझा जा सकता है। ऐसे विधान से ही नयों का स्वरूप हमारे समक्ष आ सकता है। "आत्मा एक है" यह संग्रह नय की अपेक्षा से कथन है, पर "एक" कहने से समग्र जाति का बोध नहीं हो सकता है। अतः "आत्मा एक भी है, आत्मा अनेक भी है" इन दोनों वाक्यों को स्याद्वाद अथवा नयवाद का सहारा लेकर ही समझा जा सकता है। मनुष्य जाति में जो कृत्रिम अनेक जातियाँ हैं, उनका तथा मानव-मानव का पृथक्-पृथक् रूप समझने के लिये व्यवहार नय की अपेक्षा रखनी पड़ती है और सभी का एक स्वरूप समझने के लिये निश्चय नय का सहारा लेना पड़ता है। जैसे—एक ही पुरुष अपने लड़के की अपेक्षा पिता और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र कहलाता है। तो यहाँ पर वस्तु स्वरूप को समझने के लिये नय का सहारा लेना अति आवश्यक है। द्रव्यार्थ से पुरुष एक ही है, पर पर्यायार्थ से वही पुरुष अलग-अलग धर्मों से अनेक रूपों में हमारे सामने आता है।

"जैन धर्म का सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्त है" इसका तात्पर्य यह नहीं कि विज्ञान ने इन सिद्धान्तों को प्ररूपित किया, वरन् केवलज्ञान द्वारा जो सिद्धान्त प्ररूपित किये गये, वे वैज्ञानिक प्रयोगों में भी सौ टंच खरे उतरते हैं।

स्याद्वाद को समझने के लिये रूपक सामने रखिये—जैसे—जब बिलौना किया जाता है, तब एक रस्सी को खींचकर दूसरी रस्सी को ढीली छोड़नी पड़ती है, पर उस ढीली छोड़ी हुई रस्सी को हाथ में पकड़े रहना पड़ता है, तभी मक्खन निकल सकता है। इसी प्रकार प्रभु महावीर के सिद्धान्त जो स्याद्वाद रूप हैं, अनेकान्तवाद को लिये हुए हैं, उनमें, जिसका जब कथन किया जाता है, वह उस समय मुख्य रूप से रहता है और अन्य भी सभी उस समय उसमें विद्यमान रहते हैं, पर ढीली छोड़ी हुई रस्सी के समान गौण रूप में। हर वस्तु में हर धर्म, पृथक्-पृथक् समय में अलग-अलग रूप से कथित होते रहते हैं, पर सत्ता रूप से विद्यमान सभी धर्म उसमें एक साथ रह सकते हैं।

जब तक नय का स्वरूप समझ में नहीं आता, वहाँ तक किसी का भी स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। व्यवहार नय से भिन्न-भिन्न सभी जातियों का संग्रह हो जाता है। सम्यग्दर्शन का, आत्म स्वरूप का मक्खन यदि जैन दर्शन के सिद्धान्तों का बिलौना करते हुए हमें निकालना है तो नय रूपी रस्सी लेकर ही निकाला जा सकेगा और वह भी बिलौने की विधि से नयों का बिलौना करते हुए ही निकाल सकेंगे। एक ही नय की रस्सी को खींचने से काम नहीं चलेगा। आज कई विद्वान् मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं, अपनी श्रुतियों के अनुरूप, अनुभूतियों के आधार पर, कि जैन धर्म से भिन्न अन्य कोई भी धर्म श्रेष्ठ नहीं है। आचार्य विनोबा के कथन का भाव है कि मैंने जैन धर्म का अध्ययन किया, तब मुझे आत्म संतुष्टि हुई। और अंतिम समय में उन्होंने जैन विधि की तरह संथारा ग्रहण किया था।

नोखामंडी में एक बार का प्रसंग है—राजस्थान के मुख्य मंत्री हरिदेव जोशी व्याख्यान में उपस्थित हुए थे और व्याख्यान सुनने के पश्चात् कहने लगे कि "दुनिया में जितने भी धर्म हैं, उनमें से सर्वश्रेष्ठ धर्म स्याद्वादी जैन धर्म है।" एक दृष्टान्त उन्होंने दिया कि एक सेठ के पास एक आगन्तुक भाई आया और पूछा कि सेठ साहब कहाँ हैं? कर्मचारी मे उत्तर मिला कि सेठ साहब ऊपर हैं। ऊपर गया तो उत्तर मिला कि सेठ सा० नीचे हैं। नीचे आया तो सेठ सा० वहाँ नहीं थे। उसके मन में उथल-पुथल मच गई कि बात क्या है? मुझे नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे क्यों भेजा जा रहा है? वह खीझ उठा और लगा कि यह क्या बात है? कोई कहता है सेठ सा० नीचे हैं और कोई क है कि सेठ सा० ऊपर हैं। पर सेठ सा० तो दोनों जगह में से कहीं नहीं हैं किसी सुज्ञ व्यक्ति ने उसके तूफान को ठंडा करते हुए ता

कि भाई ! दोनों की बात सही है। कारण कि सेठ सा० बीच वाली मंजिल में हैं। वह मंजिल नीचे की अपेक्षा ऊपर और ऊपर की अपेक्षा नीचे है। इसी प्रकार स्याद्वाद का रूपक सामने रखकर वे कहने लगे कि वस्तुत: ऐसा धर्म अन्यत्र कहीं नहीं है। परन्तु जैन-धर्म के अनुयायी आज क्या कर रहे हैं ? यह थोड़ा विचारणीय प्रश्न है। यदि आज जैन-धर्म को पालने वाले, सम्यक्त्वी कहलाने वाले इस स्याद्वाद की दृष्टि को अपनाकर प्रत्येक तत्त्व की गहराई में पहुँचें तो वीतराग देव के प्रत्येक सिद्धान्त की गहराई, उनकी थाह, वे पा सकते हैं।

मैं जो सम्यक्त्व के आठ आचार बता रहा था, उसमें तीसरा आचार "निर्विचिकित्सा" है। अर्थात् धर्म करणी के फल में संदेह नहीं करना।

मनुष्य की चिंतन की शक्ति का केन्द्र मस्तिष्क है। अतः अपनी बुद्धि को निर्मल बनाकर, अन्तर्मुखी बनाकर हम सोचें कि जो धर्म क्रिया करते हैं, वह किसलिये करते हैं ? क्या संसार के लिये करते हैं अथवा निज स्वरूप को साधने के लिये क्रिया करते हैं ? क्रिया मन से भी होती है, वचन से भी होती है और काया से भी क्रिया होती है। पर ये सारी क्रियायें हमारे निज स्वरूप को साधने के लिये ही हों। फल की कभी आकांक्षा मत करो। आप आध्यात्मिक साधना के लिये क्रिया कर रहे हैं तो जरूर आपको आध्यात्मिक फल प्राप्त होगा, शांति मिलेगी। आत्मा की अनूठी शक्तियों की उपलब्धि होगी। पर कभी भी धर्म क्रिया करते हुए फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये एवं कभी भी फल अवाप्ति विषयक शंका भी नहीं करनी चाहिये।

ज्ञाता सूत्र में दो साथियों का रूपक आया है। दो साथी घूमने के लिए जंगल में गये। वहाँ देखा कि दो मयूर नृत्य कर रहे थे। उनका नृत्य देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। सोचा कि क्या ही अच्छा हो, यदि ये मयूर अपने घर में हों और इनका नृत्य हमें प्रतिदिन देखने को मिले। ऐसा सोच ही रहे थे, तभी उन्हें समीपस्थ स्थल में मयूर के दो अण्डे पड़े हुए दिखाई दिये। उन्हें देखकर दोनों बड़े हर्षित हुए और उन्हें लेकर अपने घर आ गये तथा एक-एक अण्डे की दोनों अपने-अपने घर में प्रतिपालना करने लगे। उन दोनों में से एक साथी सोच रहा था कि इस अण्डे की मैं सावधानीपूर्वक परिपालना करूँगा तो एक दिन जरूर इसमें से मयूर का जन्म होगा और उसका पालन कर मैं नित्य प्रतिदिन उसका मनोहारी रूप देखा करूँगा। लेकिन दूसरा मित्र जो बड़ा चंचल और उत्सुक था, वह हमेशा उसे उठाता और घूमता, फिरता देखता कि अण्डा जीवित है या नहीं ? बार-बार हाथ में लेने से वह अण्डा समय से पहले फूट जाता है और जिस मयूर के जन्म के लिये वह लालायित बना हुआ था, उस मयूर का जन्म न होने से शंकाग्रस्त बन जाता है और विचारने लगता है कि "अरे—रे !

मैं ठगा गया, यह अण्डा तो मयूर का नहीं था, अन्यथा क्या मुझे मयूर की प्राप्ति नहीं होती ? उधर दूसरे मित्र ने पूर्ण विश्वास के साथ सम्यक् रूपेण उस मयूरनी के अण्डे की परिपालना की और समय आने पर मयूर का जन्म उसके आंगन में हुआ, उस मयूर को पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ, प्रफुल्लित बना, उसे दाना-पानी खिला-पिलाकर बड़ा किया और उससे अपनो इच्छापूर्ति करने लगा।

एक दिन, जब वह दूसरा साथी उसके घर आया और वहाँ मयूर को नृत्य करते हुए देखकर बड़ा आश्चर्यचकित हुआ और सारी हकीकत पूछी, पूछने पर जाना कि वह अण्डा मयूर का ही था, पर चंचलता और उत्सुकता के कारण ही नष्ट हो गया। यह ज्ञातकर उसे बहुत पश्चाताप हुआ।

बन्धुओ ! यह तो एक रूपक है, चाहे वह शास्त्र में किसी भी रूप में आया हो। पर इससे यह शिक्षा लेनी है कि धर्म करणी करते हुए पहली बात तो यह है—कि हम कभी भी फल की आकांक्षा नहीं करें तथा दूसरी बात—फल के विषय में कभी शंकाशील नहीं बनें। जैसे कि मैं अमुक धर्म-कार्य कर रहा हूँ, उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं ?

मैं जब पढ़ता था, तब का एक प्रसंग है—एक दिन मेरे सामने ऐसा जटिल प्रश्न आया, जिसका मैं हल नहीं कर पा रहा था। तब मैंने सहज ही उपवास किया, उपवास वाले दिन तो शरीर शिथिल बना रहा, पर पारणे के दिन एकाएक जटिल प्रश्न का समाधान हो गया। एक उपवास में भी आत्मा इतनी निर्मल बन सकती है तो फिर लम्बी तपश्चर्या के द्वारा कितना अधिक फल प्राप्त होता है ? अतः इस विषय में कभी शंका नहीं करनी चाहिये और न ही उसके फल के विषय में संदेह ही करना चाहिये। तप आदि सभी क्रियाओं का फल अवश्य प्राप्त होता है। जिसका सम्यग्दर्शन भलीभाँति निर्मल है, वह कभी भी धर्म-कार्य करता हुआ न तो फल की आकांक्षा करता है और न ही उसके फल में शंकाशील बनता है। इस प्रकार वह अपने सम्यक्त्व के तीसरे आचार का सम्यक् रूपेण परिपालन करता है। कहने का सार यही है कि इस "निर्विचिकित्सा आचार" से यह शिक्षा जीवन में ग्रहण करें कि आपकी प्रत्येक धर्म-क्रिया, आत्म-शुद्धि के हेतु ही हो, और यह सुनिश्चित है कि उसका सुमधुर फल अवश्य ही अवाप्त होगा।

मोटा उपाश्रय ——— १५-७-८५
घाटकोपर, बम्बई ——— सोमवार

१६ सम्यक्त्व का चतुर्थ आचार-अमूढ़दृष्टि

वीतरागता से परिपूर्ण केवली भगवान् जिन कहलाते हैं। और उनके भी इन्द्र "जिनेन्द्र" कहलाते हैं। इस जिनेन्द्र शब्द से तीर्थंकर भगवान् का ग्रहण होता है। तीर्थंकर देव चतुर्विध संघ की स्थापना करके भव्यों के कल्याणार्थ मार्ग प्रशस्त बनाते हैं। तीर्थंकर भगवान् के अमृतोमय उपदेश सागरवत् गहन एवं विस्तृत हैं, उन्हें गागर में भरने तुल्य ग्यारह अंग और बारह उपांग आदि शास्त्र हैं।

ग्यारह अंग में सूचित, कथन मान्य है, अतः ग्यारह अंग कसौटी है। जैसे सोना कसौटी पर खरा उतरता है, ठीक वैसे ही ग्यारह अंग की कसौटी पर जितना भी कथन लेखन खरा हो, वह सभी मान्य है, जो कि आत्मकल्याणकारी होता है।

भगवती सूत्र बहुत बड़ा शास्त्र है, इसमें संक्षिप्त से साधना का स्वरूप रत्नत्रय की आराधना बताई है, उसी रत्नत्रयाराधना को समझकर हम संयम-भाव की आराधना में लगे हुए हैं। उस आराधना में सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीन रत्न समाहित हैं। उत्तराध्यान सूत्र के मोक्षमार्ग अध्ययन में "णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा" कहा है। यहां सम्यक्ज्ञान पहले बताया है, कई ग्रंथों में पहले सम्यक्दर्शन बताया है, जैसे कि तत्त्वार्थ सूत्र में पहले सम्यक्दर्शन का कथन किया है, यथा—"सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"। यहां विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पहले ज्ञान को समझें या पहले दर्शन को ? शास्त्र में जब ज्ञान को पहला नम्बर दिया है तो पहले ज्ञान ही मानना उपयुक्त होगा। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है "णाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए। रागस्स दोसस्स य संखाएणं, एगन्तसोक्खंसमुवेई मोक्खं ॥ आत्मा की जो अवस्था है, उस अवस्था में ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण, गुणी, अभेद सम्बन्ध से चलते हैं, ज्ञान आत्मा के साथ रहता है, पर संसारी आत्मा को जब तक मोक्षमार्ग का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह अज्ञान अवस्था में रहती है, ज्ञान, अज्ञान के अलग-अलग भेद बताये हैं। यहाँ आत्मा के मूल गुण की दृष्टि से ज्ञान का नम्बर पहला है और दर्शन का नम्बर बाद में है, क्योंकि पुत्र पैदा होने के बाद ही सुपुत्र-कुपुत्र का निर्णय होता है। ज्ञान आत्मा का पुत्र है, जब वह ज्ञान आगे बढ़ता है, प्रगति करता है, तब

सम्यग्दर्शन की स्थिति जीवन में प्राप्त होती है, उसी से सुज्ञान तथा कुज्ञान का भेद स्पष्ट होता है, क्योंकि पुत्रोत्पत्ति के साथ ही उसके कुपुत्र-सुपुत्र का निर्णय नहीं होता, यह निर्णय तो उसके आचरण से होता है, वैसे ही ज्ञान की उत्पत्ति पहले होती है, उसके बाद ही उसके आचरण से सम्यक्दर्शन या मिथ्यादर्शन की प्राप्ति होने पर सुज्ञान-कुज्ञान का निर्णय होता है। इस सुज्ञान से सुश्रद्धा आती है। अज्ञान जब तक रहता है, तब तक मिथ्या श्रद्धा (कुश्रद्धा) रहती है। ज्ञान को सुज्ञान बताने वाला सम्यग्दर्शन है। अतः उमास्वाति ने दर्शन को पहले कहा, इसमें भी कोई विरोध नहीं है, अपेक्षा भेद को लेकर नयवाद के सहारे से ही पहले और पीछे का कथन है, अतः इस विषयक अविरोध को समझने के लिए नय दृष्टि को समझें।

वीतराग देवों के वचनों पर श्रद्धा आ गयी तो दुनिया भर का सारा ज्ञान-विज्ञान सम्यक् हो जायेगा। यदि दुनिया भर का बाहरी ज्ञान है, सारे शास्त्र कण्ठस्थ कर लिये पर सब कुछ होते हुए भी वीतराग देव के वचनों पर एक निष्ठा- आस्था नहीं है, तो उसका ज्ञान सुज्ञान नहीं कहला सकता। अभवी भी बाहरी रूप में साधु बन सकता है, गौतम स्वामी जैसी करणी कर सकता है, फिर भी वह कुज्ञानी है, यद्यपि वह अपने उपदेश से कई भव्य मुमुक्षुओं को प्रतिबोधित भी कर देता है, कई आत्माएँ उसके निमित्त से मोक्ष भी प्राप्त कर लेती हैं, पर वह खुद मोक्ष नहीं जा सकता है, इसका कारण है कि उसकी वीतराग वाणी पर सच्ची श्रद्धा नहीं है। वीतराग वाणी को, शास्त्र के सिद्धान्त को ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही सुन सकते हैं, दोनों पढ़ सकते हैं पर पढ़ने-पढ़ने में सुनने-सुनने में अन्तर है। जो अटूट श्रद्धा के साथ अनन्य भाव से शंका आदि पांचों दोषों को टालकर, शुद्ध भावना के साथ चाहे कम पढ़े, कम सुने या ज्यादा पढ़े, ज्यादा सुने वह सम्यग्दृष्टि है। इसके विपरीत आचरण करने वाला मिथ्यादृष्टि है।

बहुत से भाई कहते हैं कि हम अज्ञानी हैं। अरे आप श्रावक हैं, आपको भगवान् की वाणी पर अचल आस्था है, अटूट श्रद्धा है तो फिर आप अज्ञानी कैसे ? अज्ञान-अंधकार है और भगवान् की वाणी के प्रति श्रद्धा यह प्रकाश है। मात्रा कम ज्यादा हो सकती है, पर प्रकाश के सामने अंधकार टिक नहीं सकता। श्रावक लोग यदि स्वयं अपने को अज्ञानी बनायेंगे तो सुज्ञ लोग आपकी मखौल उड़ायेंगे। लघुता की दृष्टि से यदि कहना ही है तो यह कहा जा सकता है, कि मेरे में विशेष ज्ञान कहाँ है, मैं तो वीतराग वाणी पर श्रद्धा लेकर चल रहा हूँ। विशेष ज्ञानी महापुरुष मेरे से भी अधिक बहुत हैं।

सम्यक्त्व के आठ आचार जिसमें आज चतुर्थ आचार का मैं आपके समक्ष वर्णन करना चाह रहा हूँ, वह है **अमूढ़ दृष्टि**—इसका तात्पर्य है, जिसकी

सम्यग्दृष्टि किसी भी अवस्था में मूढ नहीं बने, आपद्ग्रस्त अवस्था में भी किंकर्त्तव्य विमूढ नहीं बने। वीतराग देव के आध्यात्मिक रस को लेकर भव्य प्राणी चल रहे हैं तो कभी भी उनके प्रकाशमय जीवन में अज्ञान अंधकार का प्रवेश नहीं होता, वैसे भी अंधकार और प्रकाश का कभी मेल ही नहीं होता।

एक दृष्टान्त है—वैदिक संस्कृति की बात है। एक बार अंधकार, तथाकथित भगवान के पास गया और प्रार्थना करने लगा—भगवन्! आप रक्षक हैं, दयालु हैं, मेरी रक्षा करें। तथाकथित भगवान् ने पूछा—भाई तुम्हें कौन मार रहा है? अंधकार ने कहा—और तो कोई नहीं, पर यह प्रकाश मुझे छिन्न-भिन्न कर देता है। भगवान् ने प्रकाश को बुलाया और कारण पूछा तो प्रकाश ने कहा कि अंधकार कौन है? मैं तो उसे जानता ही नहीं? कभी मैंने उसे देखा भी नहीं तो मैं उसे कहाँ मार रहा हूँ और मार भी कैसे सकता हूँ? आप उसे मेरे सामने बुलवायें, अंधकार को जब सूचना करवायी कि तुम आओ फैसला करें, पर अंधकार ने आने से मना कर दिया, तब फैसला कैसे हो? देखिये प्रकाश के सामने अंधकार टिक ही नहीं पाता है। इसी प्रकार आप में भगवान् के वचन पर अटूट अडिग श्रद्धा है, तो आप ज्ञानी हैं, अतः भूलकर भी ऐसा मत कहना कि हम अज्ञानी हैं, क्योंकि ये शब्द सम्यग्दृष्टि श्रावक के लिए अनुपयुक्त हैं। क्योंकि सम्यक्त्वी के सामने अज्ञान टिक ही नहीं सकता।

जिसके पास छोटासा भी दीपक है, वह भले ही तेज प्रकाश न भी करे, पर है प्रकाश का ही पुंज। हम अमूढदृष्टि कैसे बनें, इसके लिए हमें दृढ़ता लानी अति अपेक्षित है। शास्त्र में वर्णन आता है कि अम्बडजी संन्यासी की पौशाक में थे, लेकिन भगवान् महावीर के अनुयायी और बारह व्रतधारी श्रावक थे। उत्कृष्ट श्रावक वर्ग के आराधक वीतराग वाणी पर अटूट श्रद्धा रखने वाले थे। लब्धि सम्पन्न भी थे, जिसके जरिये से जंगल की जगह नगर और नगर की जगह जंगल दिखाने में समर्थ थे। वे अम्बड संन्यासी एक वक्त भगवान् महावीर से पूछते हैं कि आपने जिस प्रकार मोक्ष मार्ग बताया और जिस प्रकार सुश्रद्धा का रूप बताया, ऐसी सुश्रद्धा को पालने वाले अभी कौन हैं? तब प्रभु महावीर ने फरमाया कि सुलसा नामक श्राविका जो भले नारी जाति में है, पर उसके जीवन में सम्यक्त्व इतना प्रगाढ़ है कि उसकी दृष्टि को कोई भी विमूढ नहीं बना सकता। वह किसी के प्रभाव में नहीं आती। अम्बडजी के जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या नारी जाति में इतनी ठोसता हो सकती है? जबकि नारी की प्रकृति चंचल, कोमल और जिज्ञासुवृत्ति को लिये हुए होती है, अतः मुझे सुलसा की दृढ़ता की परीक्षा करनी चाहिये। जहाँ सुलसा रहती थी, उस नगरी में अम्बडजी पहुँचे। वैक्रिय लब्धि से ब्रह्मा का रूप बनाया, नगर में हो हल्ला मच गया, लोग देखने के लिए उत्सुक हो उठे। सब गये पर वह श्राविका सुलसा नहीं गयी। कई

बहिनों ने उसको आग्रह भी किया कि देख तो लो, देखने में क्या हर्ज है, पर उसने कहा—यह इन्द्रियों का विषय है इसे क्या देखना ? मुझे तो आत्मा को देखना है, उसका समीक्षण करना है, आत्म सौन्दर्य के दर्शन करने हैं। अम्बडजी ने जब सुलसा को नहीं देखा तो दूसरे दिन अम्बडजी ने विष्णु का रूप बनाया, दुनिया उलट पड़ी, पर वह नहीं गई। तब अम्बडजी ने सोचा इसका श्रद्धान तीर्थंकर देवों के प्रति है। अतः मैं तीर्थंकर का रूप बनालूँ, तीर्थंकर का रूप बनाया, २५वें तीर्थंकर के रूप में मशहूर हो गये पर सुलसा दृढ़ रही। इस अवसर्पिणी काल में तीर्थंकर २४ ही होते हैं। ऐसी वीतराग वाणी है, और वीतराग वाणी के प्रति मेरी अचल आस्था है। अतः वह २५वें तीर्थंकर के दर्शन करने नहीं गई। अम्बडजी के तीर्थंकर रूप बनाने पर भी सुलसा दर्शन करने नहीं गई, तब उन्हें विचार आया। ओह ! कितनी निष्ठा है, कितनी दृढ़ आस्था है। अब भी विमूढ नहीं बनी। मुझे उसके दर्शन करने चाहिये। वे संन्यासी के रूप में उसके घर पहुँचे, श्रावकोचित आचार का पालन करते हुए, निस्सिही-निस्सिही शब्द का उच्चारण किया। सुलसा चौंकी, सोचा कोई श्रावकजी मेरे आंगन में पधारे हैं। साधर्मी भाई का स्वागत-सत्कार, सम्मान करना मेरा फर्ज है। वात्सल्य भाव दर्शाना मेरे सम्यग्दृष्टिपने का आचार है। वह उठी और बाहर आयी पर संन्यासी को देखकर रुक गई और सोचा—मानवता के नाते मुझे सत्कार अवश्य करना है, पर श्रावक का सम्बन्ध लेकर श्रावकोचित विनय की बुद्धि से नहीं। अम्बडजी इधर विचारने लगे कि मेरी वेशभूषा को देखकर उसे कुछ संशय हो रहा है। अतः उसके संशय का परिहार करते हुए अम्बडजी ने भगवान् महावीर के द्वारा कही हुई सारी हकीकत उसके सामने स्पष्ट की और कहा—मैं तुम्हारे दर्शन करके धन्य हुआ। श्रावक की कितनी धर्म वत्सलता है। पर आज क्या स्थिति है ? कहीं इससे विपरीत तो नहीं है ?

सवाईमाधोपुर के पास एक छोटासा गाँव है, जैन श्रावकों के घर हैं। वहाँ पर जब स्वर्गीय आचार्य श्री जी पधारे तो जयपुर के बड़े-बड़े जौहरी लोग वहाँ आये, गांव वाले इतने खुश हुए कि उन लोगों की इतनी अधिक आवभगत की कि जयपुर वाले मोटे-मोटे सेठ सभी बाग-बाग हो गये, और आचार्य भगवन् के समक्ष उनकी साधर्मी वात्सल्यता की भूरि-भूरि प्रशंसा की पर उस छोटे से गाँव वाले जब जयपुर आये तो उन सेठों ने क्या सत्कार-सम्मान किया ? यह बहुत विचारणीय स्थिति है। सत्कार-सम्मान करना तो दूर रहा पर उन सेठ लोगों ने आँख उठाकर भी उनकी तरफ नहीं देखा होगा। कहाँ है सम्यग्दृष्टि भाव ? कहाँ है साधर्मी वात्सल्यता ? उन्होंने जो उन सेठों का अपूर्व सत्कार सम्मान किया, उसे भी वे भूल बैठे। आज क्या कुछ स्थितियाँ बन रही हैं—यह सामने है। भेदभाव की नीति ने पैर जमा दिये हैं। यह जो पानी यहाँ बरस रहा है, वह पहाड़ पर भी उतना ही बरसता है, चट्टानों पर भी, मखमली दूब पर भी। यह वृष्टि भेदभाव नहीं रखती। वास्तव में यही सच्चा सम्यग्दृष्टि भाव है।

प्राकृतिक दृश्यों से भी शिक्षा मिल रही है कि समभाव रखा जाय, दृष्टि को समीक्षण बनाई जाय। सुलसा में जैसा सम्यग्दर्शन था, वैसा हजारों लाखों में भी नहीं मिल सकता। सुलसा अम्बडजी को नमस्कार करने लगी, पर उन्होंने सुलसा को मना कर दिया और स्वयं श्रद्धा विभोर भावों के साथ झुक गये और स्व को धन्य-धन्य कृत्य-कृत्य महसूस करने लगे। आप सभी अपने सम्यग्दृष्टि भाव पर चिंतन, मनन करें और सम्यक्त्व की नींव को सुलसावत् मजबूत बनाने का आत्म साहस, आत्म पुरुषार्थ जागृत करें। जरूर हमारा जीवन भी मंगलमय बनेगा। इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ............।

१६-७-८५
मंगलवार

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई



१७

उववूह

(सम्यक्त्व का पाँचवाँ आचार)

वीतराग देव द्वारा दिया गया जो पवित्र उपदेश है, उसकी तुलना करने योग्य, इस विश्व में कोई उपदेश नहीं है, कारण कि उन्होंने अपूर्ण अवस्था में न कोई विशेष उपदेश दिया एवं न चारतीर्थ की स्थापना की। तीर्थंकर देव स्वतंत्र रूप से साधना पथ पर अवतीर्ण होते हैं, एवं साधना की परिपक्वता होने पर केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय सम्पन्न बन जाते हैं। तदनन्तर भव्यों के उद्धार हेतु निस्पृह होकर केवलालोक की अनुभूतिपूर्वक उपदेश प्रदान करते हैं। वह उपदेश त्रिकाल अबाधित एवं शाश्वत स्वरूप अभिव्यक्त करने वाला होता है।

अनन्त प्रकाश स्वभावी तीर्थंकरों के द्वारा अमृतोपम आध्यात्मिक निर्झर का प्रवाह प्रवाहित हुआ, गौतमादि गणधरों ने उसे ग्रहण किया एवं सुधर्मास्वामी आदि पवित्र आचार्य परम्पराओं से आज भी वह आत्मकल्याण हेतु पर्याप्त मात्रा में समुपलब्ध है। आवश्यकता है, उसे आत्मसात् करने की। यह तभी सम्भव है, जबकि वीतराग देव द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर अटूट आस्था के साथ श्रुत धर्म एवं चारित्र धर्म को जीवन में साकार रूप दें। श्रुत धर्म में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का समावेश है। चारित्र धर्म में सम्यग्चारित्र एवं सम्यग्तप का समावेश है।

सम्यक्दर्शन जीवन की एक ऐसी पवित्र भूमिका है कि जिस पर आसीन होकर ऊर्ध्वगामी बनने का स्वर्णिम अवसर समुपलब्ध हो सकता है। उसी सम्यक्-दर्शन का प्रकरण चल रहा है। सम्यग्दर्शन भी अपने सम्यक्लक्षणादि के साथ आचार संहिता से व्यवस्थित जीवन में अभिव्यक्त हो सकता है।

यहाँ आचार संहिता का तात्पर्य—सम्यक्दर्शन से सम्बन्धित आठ आचारों से है। उनमें से चार आचारों के विषय में पूर्व के दिनों में कुछ विवेचन प्रस्तुत किया गया, आज पाँचवाँ आचार का प्रसंग समुपस्थित है, पाँचवाँ आचार है—उववूह। जिसे उपबृंहण भी कहा जा सकता है। उपबृंहण अर्थात् गुणवान पुरुषों के गुणों का प्रगटीकरण करना। गुणी पुरुषों के विद्यमान गुणों का कथन करने से सद्‌गुणों की अभिवृद्धि होती है। व्यक्ति में जब तक अपूर्ण अवस्था रहती है, तब तक गुण व अवगुण न्यूनाधिक मात्रा में यथास्थान प्रायः पाये जाते हैं। उनके गुणों को सन्मुख रखकर कथन करने पर जिस व्यक्ति के गुणों का कथन किया

जा रहा है, उसमें अपने गुणों को अधिक बढ़ाने की स्फुरणा पैदा होती है, और वह उसी कार्य में सतत प्रयास करने लगता है, एवं स्वयं के आइने में स्वयं को देखने लगता है, जिससे स्वयं के दुर्गुण उससे प्रायः अविदित नहीं रह पाते और वह उन दुर्गुणों को स्वयं देख-देख करके खिन्नता का अनुभव करता है, और अपने आपको गुणमय बनाने का भरसक प्रयत्न करता है। यह सम्यग्दृष्टि का पाँचवाँ आचार गुणों को बढ़ाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

कई सज्जन सामायिक करके बैठते हैं, और अपनी शक्ति तथा अनुभव एवं ज्ञान की मात्रा के अनुसार सामायिक की परिपालना करने की भावना रखते हैं। किन्तु वे जितनी मात्रा में सामायिक का स्वरूप अभिव्यक्त करना चाहिये, उतनी मात्रा में कर नहीं पाते। न उतनी मात्रा में जीवन में रूपान्तरण ही ला पाते हैं। उनके इस व्यवहार को देख कर कई पुरुष समालोचना करने लगते हैं, उनमें रहने वाले कुछ दोषों का उद्भावन कर यह प्रगट करना चाहते हैं कि ऐसी सामायिकादि में क्या पड़ा ? ये सामायिक करने वाले लम्बे समय से सामायिक कर रहे हैं, किन्तु अपने जीवन को संस्कारित नहीं कर पाये, इनके जीवन में कुछ रूपान्तरण नहीं आया, इसकी अपेक्षा हम अच्छे हैं, जो सामायिक का प्रदर्शन न रचकर जीवन को ठीक रखते हैं, ऐसा कथन करने वाले पुरुष सम्यक्त्व के आचार को नहीं जानने वाले होते हैं, और इस पाँचवे आचार के अभाव में वे सामायिक करने वालों के दुर्गुणों को ही अभिव्यक्त करते हुए उनको खिन्न करना चाहते हैं। इससे गुणों की वृद्धि का प्रसंग तो नहीं रहता, किन्तु अवगुणों को ही प्रश्रय मिलता है, अन्य भी कोई पुरुष इस प्रकार के कथन को श्रवण करता है तो वह जो सद्गुण प्राप्ति के लिये सामायिकादि साधना को प्रारम्भ की भावना रखता था, वह भी अपनी भावना को गौण करके वैसे ही निन्दा करने वाले व्यवित की मंडली में अपने आपको संलग्न कर लेता है, और जिन पुरुषों ने कुछ साधना प्रारम्भ की है, उसमें भी कई कच्चे मस्तिष्क वाले व्यक्ति छोड़ बैठते हैं। दुर्गुणों का कथन करने से दुर्गुणमय वातावरण बनता है, जो कि प्राणियों के लिए अकल्याणकारी अहित-स्वरूप होता है, दुर्गुण का कथन करने वाला व्यक्ति सही सम्यक्त्व आचार के बोध के अभाव में अपनी स्वयं की कमजोरी को आच्छादित करने के लिये ऐसा कथन करता है, वह अपनी कमजोरी को सरलतापूर्वक स्वीकार करने में स्वयं के अहं को ठेस पहुँचाना समझता है और दुनिया में जो अपवाद है कि ये सामायिकादि धर्म-ध्यान नहीं करते, उस अपवाद को मिटाने के लिए धर्म-ध्यान करने वालों पर दोषों का प्रगटीकरण करता है। यह मानव जीवन की बहुत बड़ी कमजोरी है, जिसको निकालना प्रत्येक व्यक्ति के बूते की बात नहीं है, कोई विशिष्ट महानुभाव ही स्वयं की त्रुटि को स्वीकार करता हुआ, अन्यों के सद्गुणों का कथन कर सद्वायु मण्डल का निर्माण करता हुआ, साधना पथ पर अग्रसर न होने वाले पुरुषों को भी अग्रसर होने की

प्रकारान्तर से प्रेरणा प्रदान करता है। यह कार्य सम्यक्त्व के इस पाँचवे आचार का जीवन में भलीभांति स्थान देने वाले ही कर सकते हैं।

चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य का परस्पर किसी न किसी रूप में धार्मिक सम्बन्ध रहा हुआ है, एक-दूसरे का एक-दूसरे पर विचार-विमर्श, देने-लेने का प्रसंग भी यदा-कदा आ सकता है। उस समय एक-दूसरे के दिल को गुणों की ओर बढ़ाने के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिये कि जिससे सुनने वाले का हृदय प्रसन्न हो जाय एवं वह भी यह महसूस करने लगे कि चतुर्विध संघ के इस सदस्य ने मेरे विद्यमान गुण का कथन करते हुए अपने मधुर वचनों से आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। मैं भी अब ऐसा प्रयत्न करूँ कि जो मेरे जीवन में आलस्य प्रमादादि के कारण दुर्गुण प्रवेश करते हैं, उन दुर्गुणों को जीवन से दूर करूँ एवं ऐसा सत्पुरुषार्थ करूँ कि जिससे मेरे जीवन में खोजने पर भी दुर्गुण न मिलें, और मैं भी अन्य सदस्यों को इसी प्रकार सम्बोधित कर उनके गुणों को आगे बढ़ाऊँ। कदाचित् मुझे लगे कि अमुक सदस्य कई वर्षों से सामायिक, पौषधादि क्रियाएँ कर रहा है, किन्तु उसके जीवन में कोई परिवर्तन दृष्टिगत नहीं हो रहा है, बल्कि दिन-प्रतिदिन उसकी प्रमादादि वृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। उसका व्यवहार भी अन्य के साथ अच्छा नहीं रह पा रहा है। उन सबकी यदि मैं समालोचना करूँगा तो उनके दोषों को प्रकटीकरण कर उनको खिस्ट करने की चेष्टा करूँगा तो उससे उनके जीवन में कोई भी परिवर्तन नहीं आ पायेगा, बल्कि वे क्रोधित होकर लड़ने लगेंगे। जिससे भी कषाय कभी न कभी भड़क सकती है और वातावरण दूषित होगा, यदि मुझे उनके जीवन में परिवर्तन लाना है, और वस्तुतः मैं इनका हितचिंतक हूँ तो मुझे चाहिये कि इनके साथ में रहकर इनके यत्किंचित विद्यमान गुणों का कथन करूँ एवं कहूँ कि "आप कितने सौभाग्यशाली हैं कि संसार के प्रपंचों में से अपने आपको अलग करके धर्म स्थान में पहुँचते हैं। जितने समय तक सावद्य योगों का त्याग करके चलते हैं उतने समय तक निर्जरा एवं पुण्य का बंध करते हैं। कई पुरुष ऐसे हैं कि बाजारों में बैठे हुए व्यर्थ में गपशप करते रहते हैं, व्यर्थ ही कर्म बंधन का कार्य करते रहते हैं। क्या ही अच्छा हो कि वे भी धर्म स्थान में पहुँचकर यथाशक्ति धर्माराधना करें, पर उनमें से कई ऐसा नहीं कर पाते, किन्तु आप कर रहे हैं, यह हमारे लिए प्रेरणा का प्रसंग है।" इस प्रकार उनके छोटे से छोटे गुण का कथन करके फिर उन्हें प्रेम से समझाया जाय कि आप इतना सब कुछ करते हैं, अतः थोड़ी इस भूल को सुधार लें तो सोना में सुहागा आ जाय। इस प्रकार कहने पर वे श्रावक भी अपनी गलती महसूस करेंगे और उसे निकालने के लिए भी प्रयत्न करेंगे। वह सफल साधना करने वाला व्यक्ति सामायिक, संवरादि क्रियाएँ करता हुआ अपने जीवन में वास्तविक परिवर्तन लावे। क्योंकि ऐसा करने में उसे कोई रोक तो नहीं रहा है, उसकी साधना उसके अधीन है। इनके

साथ रहकर भी उनके जीवन का प्रमाद आलस्य अपने जीवन में न आने दे, बनती कोशिश साधना की मर्यादा में रहते हुए उनकी यथाशक्ति सेवादि परिचर्या करता रहे एवं अपने जीवन को आदर्श बनावे। इससे कथन की अपेक्षा सद्-व्यवहार से वे अपने आप प्रभावित हो जायेंगे और वे भी अपने जीवन में परिवर्तन ले आयेंगे। परिवर्तन लायें या न लायें ये उनके अधीन की बात है, उसे तो अपनी आत्म-शुद्धि के लिए ही वास्तविक जीवन निर्माण कर लेना चाहिये। जो यह सोचता है कि मैं अपने जीवन में गुण ही गुण देखना चाहता हूँ तो वह तब ही देख पायेगा जबकि वह सभी के सद्गुण देखता रहे और उन सद्गुणों को बढ़ाने के लिये कथन करता रहे। जिससे सम्यक्त्व का यह पाँचवाँ आचार भली-भांति जीवन में प्रगट हो जाय। सदा गुण का ही चिंतन करने से दुर्गुण स्वतः क्षीण होते हुए चले जायेंगे एवं एक न एक दिन अपने जीवन को वह गुणों की असीम अभिव्यक्ति से भर लेगा। ऐसा करने से सद्गुण का वायुमंडल एवं क्लेश कंकाश समाप्त होंगे, राग-द्वेष की वृत्ति मंद होगी और मोक्ष के रास्ते पर अग्रसर होने का प्रसंग आयेगा। इस प्रकार इस पाँचवे आचार को श्रावक अपने जीवन में स्थान दें तो अनेक भव्यों का परिवर्तन होते हुए व्यक्ति, परिवार एवं समाज में भव्य वातावरण बन सकेगा।

पूर्व के ऐतिहासिक प्रसंगों से ऐसे पुरुषों का वृतान्त भी उपलब्ध हो सकता है। सुना गया है कि बीकानेर में मालूजी थे, वे शास्त्रों के अच्छे जानकार भी थे एवं धार्मिक आदि क्रियाओं में पीछे रहने वाले नहीं थे, आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न एवं लब्ध प्रतिष्ठित थे। वे समय पर धर्म स्थान में पहुँच जाते, वहाँ सामायिक, स्वाध्यायादि करते रहते और छोटे-से-छोटे सन्त या सती व्याख्यान बांचते तो सबसे पहले जाकर बैठते, बड़े ध्यान से सुनते और सुनने के पश्चात् एकान्त में सन्त या सती के पास बैठकर विनय भाव से नम्रतापूर्वक कहते कि "आपने व्याख्यान अच्छा बांचा, आपका उच्चारण भी अच्छा है, भाषा में माधुर्य है, वचन में ओज है, आप इसी तरह से बांचते रहो, आगे तरक्की करो, लोगों के कुछ कहने से अपने मन में अभिमान मत आने दो, और सदा प्रमाद छोड़कर सत्पुरुषार्थ में लगे रहो।" इस प्रकार उन छोटे संत-सतियोंजी के सद्गुणों का प्रकटीकरण करते हुए उनको आगे बढ़ाने में सहायक बनते। जिन संत सतियों का व्याख्यान कदाचित् ठीक तरह से नहीं होता, कुछ गलतियाँ हो जातीं तो उनको भी सभा के बीच कुछ भी न कहते हुए एकान्त में नम्रतापूर्वक निवेदन करते कि आपने बाकी तो सब अच्छा बोला, किन्तु अमुक-अमुक विषय का सही प्रतिपादन नहीं हो पाया, उस विषय में जिन शब्दों का आपने प्रयोग किया, वे भी शास्त्र सम्मत मालूम नहीं हुए, ऐसा करते हुए शास्त्र का पाठ भी बतलाने का प्रयास करते और कहते आप बाकी सब अच्छे बोलते हो, ऐसे ही बोलते रहना चाहिये। उनमें जो विषय शास्त्रीय हो, उस विषय को कहने के पूर्व

शास्त्रीय स्थल अच्छी तरह से देख लेना चाहिये। इस प्रकार करते हुए उनके गुणों का ही मुख्यतया प्रतिपादन करते और उनके उत्साह को बढ़ाते।

व्याख्यान उठने के अनन्तर भी पैसे वालों की तरफ उनकी दृष्टि कम जाती, किन्तु जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर होते, उनके पास जाकर स्वयं जय-जिनेन्द्र करते। वे कमजोर भाई नतमस्तक हो जाते, फिर उनके कन्धे पर हाथ रखकर एक तरफ ले जाते, उनके सुख-दुःख की बातें पूछते, वे भी उनकी गुण-ग्राह्यता व हार्दिक प्रेम देखकर दिल खोलकर सभी बातें रख देते। उसमें जो बातें गुणप्रद होतीं उन बातों को लेकर उनका उत्साह बढ़ाते और आत्मीय भावना से कहते कि मैं भी आपका भाई हूँ। साधर्मिक भाई के नाते आप कभी-कभी तो घर पर पधारा करो। किसी बात का संकोच मत करो, मेरे घर में भैंसें हैं, छाछादि पर्याप्त मात्रा में होती है, कभी बच्चों को छाछादि लाने के लिये भी नहीं भेजते, ऐसा क्यों? तब खुलकर वे कह देते---सेठ साहब! आपकी गुणग्राही दयालु भावना का ज्ञान आज ही हो पाया है, आप ऐसे गुणीजनों के गुण को बढ़ाने वाले हैं एवं आत्मीय भावना से गरीब-अमीर के भेद को दूर करने का प्रयास करते हैं, ऐसी भावना सर्वत्र नहीं पाई जाती। इतने दिनों तक हम यही सोचते थे कि "गरीबी अवस्था में धन वालों के यहाँ कोई वस्तु लाने के लिये जाना या किसी को भेजना योग्य नहीं रहता, क्योंकि धनवान लोग गरीबों की उपेक्षा करते हैं, उनके विद्यमान गुणों को ध्यान में नहीं रखकर कर्मों से दबे हुए उन गरीबों को और दबाने की चेष्टा करते हैं, जिससे उनके अन्दर जो साहस, धैर्य आदि गुण होते हैं, उनका भी विलुप्त होने का प्रसंग आ जाता है एवं सहानुभूतिपूर्वक कोई वस्तु देना तो दूर रहा, वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे अपने आपको अपमानित होना पड़ता है। कदाचित् कोई ऐसा नहीं भी करते हैं, किन्तु माँगी जाने वाली वस्तु सड़ी-गली बाहर फैंकने योग्य होती है उन्हें देने की कोशिश करते हैं, साथ ही देते हुए अपना अहसास बतलाने की चेष्टा भी करते हैं। कदाचित् साधारण वस्तु छाछ भी वहाँ से लाने का प्रसंग आता है तो वह भी भेदभावपूर्वक देते हैं, अन्यों को तो ओरिजनल छाछ देते हैं, किन्तु गरीबों को उसी ओरिजनल छाछ में अधिक पानी मिलाकर देते हैं, जिससे आत्मग्लानि होना स्वाभाविक है, अन्तराय कर्म के उदय से हमारे अर्थ की कमी हो सकती है, किन्तु आत्मीय गौरव का अवमूल्यन करना हम नहीं चाहते हैं। इसी कोटि में आपको भी समझ रखा था, इसीलिये आपके यहाँ छाछ के लिये भी बच्चों को नहीं भेजते, किन्तु आज मेरी भ्रान्ति दूर हुई कि सभी एक जैसे नहीं होते हैं, आपके उदार एवं स्नेही हृदय को आज मैं जान पाया हूँ। अब मुझे आपके यहाँ आना या बच्चों को भेजने में कोई संकोच नहीं होगा।"

इस प्रकार वे आर्थिक दृष्टि से कमजोर स्थिति वाले जब अपने बच्चों को छाछ लेने के लिए सेठजी के यहाँ भेजते, तब मालूजी छाछ का बर्तन एवं रुपयों

की थैली अपने पास लेकर बैठते, जब कभी बच्चे आते तो उनके पास में से बर्तन लेकर किसी बहाने से उनको अन्दर भेज देते, पीछे से मुट्ठी भरकर के रुपये उस बर्तन में रख देते और ऊपर से छाछ भर देते तथा बर्तन देते हुए कहते कि छाछ का यह बर्तन तुम्हारे माता या पिता को ही देना, अन्य को नहीं।

छाछ का बर्तन लेकर बच्चे अपने-अपने घर पहुँचते, जब वह छाछ का बर्तन उनके माता-पिता लेकर उसे अन्य बर्तन में खाली करते, तब रुपये निकलते। उन रुपयों को लेकर वे कभी मालूजी के पास पहुँचते और उनसे कहते कि ये रुपये छाछ में से निकले हैं, तो मालूजी कहते कि "बोलो मत। इनको भी काम में लो। जब आपकी स्थिति ठीक हो जाय तब देने की सोचना, अन्यथा कोई बात नहीं।" इस प्रकार उनके गुणों की वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक स्थिति में भी सहायक होते। इस प्रकार वे कभी किसी को कभी किसी को आर्थिक सहायता देते हुए उनके गुणादि की अभिवृद्धि करते हुए पाँचवे आचार का समीचीनतया पालन करते थे।

उन लोगों ने पूज्य श्री श्रीलालजी म० सा० के पास जाकर मालूजी के जीवन का वृतान्त सुनाया। जब एक रोज आचार्य श्री श्रीलालजी म० सा० के पास स्वयं मालूजी बैठे हुए थे तब प्रसंगोपात आचार्य श्री श्रीलालजी म० सा० ने फरमाया कि "मालूजी आप तो मानव जीवन को सार्थक करते हुए अन्य सार्धमिक भाइयों के विद्यमान गुणों की अभिवृद्धि करते हुए उनके जीवन को भी प्रशस्त बना रहे हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व के पाँचवें आचार की मुख्यतया पुष्टि करते हुए अन्य आचारों को भी प्राणवान बना रहे हो। इसी प्रकार सब सम्यग्दृष्टि एवं श्रावकवर्ग अपने जीवन को बना लें तो श्रावक समाज की समीचीन व्यवस्था हो सकती है।"

आचार्य देव के मुखारविन्द से इन शब्दों को श्रवण कर मालूजी कहने लगे—"भगवन्! आप ऐसा न फरमायें। मैं क्या कुछ कर सकता हूँ, जिनशासन में अन्य भी बहुत से गुणीजन विद्यमान हैं। मैं तो यत्किंचित कुछ करने का प्रयत्न करता हूँ। यह कचरा बहुत बढ़ता है, जैसे-जैसे मैं संवितरण करता हूँ वैसे-वैसे बढ़ता जाता है।"

यह श्रावक समाज को लेकर पाँचवे आचार का विषय बतलाया गया है। क्या ही अच्छा हो कि शासन में रहने वाले संत-सती वर्ग भी सम्यक्त्व के पाँचवें आचार को प्रमुखता देते हुए अन्य सभी आचारों को यथास्थान जीवन में स्थान दें एवं एक-दूसरे संत-सतीवर्ग के साथ विद्यमान गुणों को बढ़ाते हुए सौहार्दपूर्ण संव्यवहार करने लगें तो सुनिश्चित है, श्रमण श्रमणी वर्ग में भी एक हर्षोल्लास तथा आनन्द की लहर व्याप्त हो सकती है।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि संत-सती वर्ग दुर्गुणी हैं या महाव्रतों का पालन नहीं करते। आप देख ही रहे हैं कि ये संत-सती वर्ग किस प्रकार सुन्दर तरीके से संयम मर्यादाओं का पालन करते हुए स्नेह सौहार्द के साथ रह रहे हैं, लेकिन कभी किसी में छद्मस्थावश कोई दोष आ जाय तो प्रत्येक संत सतीवर्ग किसी भी संत सतीवर्ग की कमजोरी शासन नायक के अतिरिक्त किसी के सामने कुछ भी नहीं कहें एवं चतुर्विध संघ के सामने गुण प्रधानता से एक-दूसरे के गुणों को वृद्धिगत करते हुए कहें कि सब मोतियों की माला है, किसमें क्या गुण है ? ये सब प्रभु महावीर के एवं रत्नत्रय की अभिवृद्धि करने हेतु क्रान्ति के पगलिये उठाने वाले पूर्वाचार्यों के विविध पुष्पफलों से सुशोभित भव्य एवं सुन्दर चतुर्विध संघ की बगिया है। इस बगिया की सुवास कोई भी लेता है तो उसकी आभ्यन्तर एवं बाह्य दुर्गुण रूपी दुर्गन्ध समाप्त होती है। आप गुणों से सुरभित अपने जीवन को बनावें जिससे आप परम शांति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए वर्तमान में हो रही मस्तिष्क सम्बन्धी उलझनों को समाप्त कर सकते हैं। यह उपबृंहन का पाँचवाँ आचार सभी के लिये पालन करने योग्य है।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

१७–७–८५
बुधवार



१८ | यात्रा अगम देश की

परम पावन वीतराग दशा प्राप्त, अगाध शक्ति के धारक महाप्रभु का स्मरण करने के अनन्तर उनके द्वारा प्रवाहित जन-कल्याणी अमृतमयी देशना में अवगाहन कर, चिन्तन-मनन का यह भव्य प्रसंग उपस्थित हो गया है।

वीतराग देव के प्रति एक निष्ठा होगी, एकात्मक-भाव होगा, तभी उनकी वाणी का रस प्राप्त हो सकेगा। बिना निष्ठा के उनकी वाणी से आने वाला अनुपम रस प्राप्त नहीं हो सकेगा और जिनवाणी के रस की प्राप्ति के बिना मन एकाग्र नहीं हो सकता।

मन की एकाग्रता बनाए रखने के लिए भौतिक आकर्षणों से हटकर शक्ति का नियोजन एक ही दिशा में करना होगा। आज के व्यक्ति साधना भी करना चाहते हैं, मन को स्थिर करना चाहते हैं, और भौतिक तत्त्वों की आसक्ति भी छोड़ना नहीं चाहते हैं। एन्द्रियक सुखों को भी भोगना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी भी साधना में सफल नहीं हो सकते। जिस प्रकार एक विशाल लम्बी पाइप लाइन है, जिसके माध्यम से दूरस्थ क्षेत्रों में पर्याप्त पानी पहुंचता है, लेकिन उसी पाइप लाइन के मध्य में स्थान-स्थान पर छेद कर दिये जायं और उसमें पानी बाहर रिसता रहे तो क्या ऐसी दशा में उस पाइप लाइन से पानी दूरस्थ क्षेत्रों तक पहुंच सकेगा? उत्तर होगा—नहीं। क्योंकि उसकी शक्ति रास्ते में ही खत्म हो जाती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा की शक्ति भी मन रूप पाइप के माध्यम से अगम क्षेत्र की यात्रा करती हुई परमात्मा तक पहुंच सकती है। किन्तु उस पाइप लाइन के बीच में बहुत बड़े-बड़े छेद कर दिये हैं, जिसके कारण आत्मा की शक्ति परमात्मा तक पहुंच ही नहीं पा रही है। वे छिद्र हैं इन्द्रियों की आसक्ति के। आज का व्यक्ति कभी श्रोतेन्द्रिय के माध्यम से अपनी आत्मिक शक्ति को खर्च कर रहा है तो कभी चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से खर्च कर रहा है। अर्थात् वह अच्छे-अच्छे फिल्मी गाने सुन रहा है। अपनी प्रशंसा किये जाने से खुश हो रहा है। निंदा किये जाने पर रुष्ट हो रहा है। कान के माध्यम से मन के द्वारा आत्मा में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प पैदा कर उसकी शक्ति को खर्च कर रहा है। इसी प्रकार नेत्र से वह अनेक भले-बुरे चित्र देख रहा है। अच्छे चित्र पर मोहित हो रहा है तो कभी विकारी भावनाओं से अपनी आत्मा को दूषित बना रहा है तो कभी बुरे चित्र को देखकर घृणा

कर रहा है। जैसा कि कभी सुनने को मिलता है कि किसी ने प्रातः किसी व्यक्ति का मुँह देख लिया जो कि उसे पसंद नहीं है तो वह यह कहता हुआ पाया जाता है कि सुबह-सुबह किस कलमुंहे का मुंह देख लिया। पर यह नहीं सोचता कि किसी का भी मुख देखने से होता क्या है? होगा वही जो स्वयं के कर्मों में रहा है।

इस प्रकार कान, नेत्र की ही बात नहीं है, अपितु अन्य नाक, मुख, स्पर्श आदि इन्द्रियों के माध्यम से भी वह अपने मन की पाइप लाइन में जाने वाली आत्मिक शक्ति को रास्ते में ही खर्च कर डालता है, इस प्रकार का व्यक्ति कभी भी अगम देश की यात्रा कर परमात्म रूप को प्राप्त नहीं कर सकता।

परम शांति एवं परम सुख को पाने के लिए अगम देश की यात्रा को एक निष्ठा के साथ करनी होगी। इन्द्रियों के माध्यम से हो रही आत्म शक्ति के व्यय को रोकना होगा।

आप देखते हैं कि आज के युग में वैज्ञानिक लोग जब छोटी-मोटी वस्तु का आविष्कार करते हैं, तब भी मन को किस प्रकार उसमें लगा रखते हैं। सब कुछ भूल जाते हैं उस समय। खाने-पीने का भी ध्यान उन्हें नहीं रहता है। बस रात-दिन खोज करने में ही लगे रहते हैं। तब कहीं जाकर वे किसी वस्तु का आविष्कार कर पाते हैं। तो बंधुओ! आपको हमको तो इन भौतिक वस्तुओं का आविष्कार न कर इन सबकी आविष्कारक मौलिक शक्ति आत्मा को जागृत करना है। अब आप विचार कर सकते हैं कि उसे जागृत करने के लिए कितनी अवधानता—एकाग्रता की अपेक्षा होती है।

बड़े-बड़े योगी-महायोगी, एकनिष्ठ साधना करने के लिए सब कुछ छोड़-छाड़कर जंगलों में, गुफाओं में चले जाते हैं। और साधना करने में लग जाते हैं। तथापि कई साधक साधना से विचलित भी हो जाते हैं। अपने शास्त्रों में भी चरम शरीर रहनेमि का उदाहरण आता है कि जो गुफा में एक निष्ठ हो साधना कर रहे थे। किन्तु राजमति साध्वी का निमित्त पाकर साधना से विचलित हो गये थे। पर राजमति के संयोग से वे पुनः स्थिर भी हो गये थे। साधना में अस्थिरता के कई उदाहरण वैदिक संस्कृति में भी मिलते हैं। जैसे कि कोई संन्यासी साधना कर रहा था किन्तु उसके सामने स्वर्गलोक की उर्वशी—मेनका आकर नृत्य करने लगी तो जो संन्यासी अगम लोक की यात्रा पर था, वह रास्ते में ही विचलित हो गया।

इन सब उदाहरणों को मैं इसलिए बतला रहा हूँ कि आप चाहें कि हम भौतिक वस्तुओं में आसक्त रहते हुए ही साधना में सफल हो जायं तो वह केवल कल्पना ही होगी। साधना में सफल होने के लिए इन्द्रियों के माध्यम से जो बाहर

में शक्ति खर्च हो रही है उसे रोककर मन के पाइप लाइन में प्रवाहित आत्मा की शक्ति को सीधी परमात्म-अभिव्यक्ति तक पहुँचाना होगा ।

इन्द्रियों के ही नहीं मन के भी अनेक छिद्र हैं। जिनसे विचार सरणि बिखरती है, उन्हें भी प्रयत्न विशेष से बन्द करना होगा ।

उन सब छिद्रों को बन्द कर आगे बढ़ने के लिए सबसे पहले मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व की अभिव्यक्ति आवश्यक है । कुछ दिनों से आपके समक्ष सम्यक्त्व को लेकर विचार-विमर्श चल रहा है। सम्यक्त्व वह अमूल्य तत्त्व है जो आत्मा के पराङ्गमुखी प्रचार को स्वोन्मुखी बनाता है और जब तक प्रवाह स्वोन्मुखी नहीं बनता है तब तक किया गया सारा का सारा पुरुषार्थ व्यर्थ चला जाता है । सम्यक्त्व शांति से जीने का सबसे अनिवार्य अंग है । सम्यक्त्व में रहने वाली आत्मा ज्ञान पूर्वक चलती हुई भयंकर से भयंकर दुःख की स्थिति में सुखी रह सकती है ।

सम्यक्त्व को जीवन में सही ढंग से अपनाने के लिए महाप्रभु के आठ आचारों का बहुत ही सुन्दर ढंग से विवेचन किया है । जिन आचारों के माध्यम से शांति का अभिप्सु–इच्छुक अपने आन्तरिक एवं व्यावहारिक जीवन को निर्मल बना सकता है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति पर ही वीतराग देव की एक निष्ठ साधना सध सकती है - कृष्ण वासुदेव एवं श्रेणिक सम्राट इस बात के आदर्श हैं जिन्होंने सम्यक्त्व की विशिष्ट आराधना करके जीवन को सही ढंग से जीया था । श्रेणिक सम्राट जब वीतराग देव के एक निष्ठ उपासक नहीं बने थे, मिथ्यात्वावस्था में रहकर हिंसादि प्रवृत्तियों में अनुरक्त थे, तब नरकायु का बंधन कर चुके थे। किन्तु जब उन्हें महाप्रभु का सान्निध्य प्राप्त हुआ और उनसे धर्म का सही स्वरूप समझा । तब से उनके जीवन में एकदम रूपान्तरण आ गया और उनकी वीतराग देव के प्रति इतनी गहरी निष्ठा बनी कि परिणामस्वरूप वे आगामी चौबीसी के पहले तीर्थंकर होंगे । इसी प्रकार कृष्ण वासुदेव भी आगामी चौबीसी के बारहवें तीर्थंकर होंगे ।

जीवन का सही रूप अभिव्यक्त करने के लिए सम्यक्त्व की नितान्त आवश्यकता है । उववूह–उपबृंहन का वर्णन आपके सामने आ ही रहा है । अर्थात् दूसरे के गुणों का उद्भावन करना । दूसरों के गुणों को बतलाने से स्वयं के गुणों का विकास होता है । दूसरों के अवगुणों को प्रकट किया जायेगा तो स्वयं के अवगुणों की वृद्धि होगी । क्योंकि दूसरे के ऊपर कीचड़ उछालने से पहले स्वयं के हाथ कीचड़ से भरते हैं ।

आज के लोगों की जो सबसे बड़ी समस्या स्वयं के जीवन को जीने की हो रही है। जिस समस्या का कइयों के पास समाधान न होने से वे अपघात तक कर बैठे हैं। मानसिक कुंठाओं से ग्रस्त हो जाते हैं, तो कई अनेक व्याधियों से पीड़ित हो जाते हैं। इन सबका एक ही कारण है कि उन्हें जीना नहीं आया है।

मैं आप सबसे यही कहूँगा कि आप प्रभु द्वारा प्रतिपादित जीने की कला सीखें। उसे सीखकर तदनुसार चलेंगे तो अगम देश की सही यात्रा होगी और अवश्य ही आपके जीवन में शांति का उपवन महक उठेगा.......।

मोटा उपाश्रय — १८-७-८५

घाटकोपर, बम्बई — गुरुवार



१६

स्थिरीकरण

(सम्यक्त्व का छट्ठा आचार)

आज के मानव-समुदाय के जीवन का जो व्यवहार चल रहा है, उसमें बहुत से मनुष्य जीवन की समस्याओं में उलझे हुए हैं। जीवन को किस ओर ले जाना, क्या कार्य करना, किस प्रकार जीवन का व्यवहार रखना, ये सब बातें मनुष्य के जीवन में, मानवीय मस्तिष्क में हलचल मचा रही हैं, इस सभी बातों की उलझन को मिटाने के लिए वीतराग सिद्धान्त हैं।

वीतराग देव ने जो सिद्धान्त व समाधान दिये हैं उन सिद्धान्तों को जीवन में रमाकर प्रत्येक मनुष्य यदि अपने जीवन की समस्याओं का हल करे तो उसकी सारी समस्याएँ हल हो सकती हैं। वह अतीव शांति का अनुभव कर सकता है। जो अशांति की अनुभूतियाँ वह कर रहा है, उसका निर्माता वह स्वयं है। वह यदि स्वयं के निजी स्वरूप को सम्यक् रूप से समझ लेता है तो उसको ज्ञात हो सकता है कि दुनियां में सुख-दुःख उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नहीं है। वह स्वयं ही स्वयं के सुख-दुःख का कर्त्ता है। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। जैसी कि प्रभु की वाणी है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।।

यह अडोल आस्था जिनके जीवन में है, सम्यक्त्व की भूमिका पर आरूढ़ होकर वीतराग देव की वाणी में अवगाहन करते हुए सम्यक्त्व के आचारों का सम्यक्रूपेण अपने जीवन में निर्वाह कर सकते हैं। सम्यक्त्व का छठवाँ आचार है स्थिरीकरण ।

अपने जीवन में यह समीक्षण करना है कि हम वीतराग वाणी में स्थिर हैं या अस्थिर ? यदि हम सुदृढ़ रूप से स्थिर हैं तो हम अन्य को भी स्थिर कर सकते हैं। जो स्वयं को सम्भालने में सक्षम है, वही दूसरों को सम्भाल सकता है। यह संसार वैतरणी नदी है और इसका तट सम्यक्त्व की आचार भूमि है जो मनुष्य स्वयं तट पर सुरक्षित अवस्था में खड़ा रहने में समर्थ बन चुका है वही, अन्य जो प्राणी संसार रूपी वैतरणी नदी में गिर रहे हैं, बह रहे हैं, उन्हें भी गिरने से, बहने से बचा सकता है।

संसार से तिरने हेतु जो आगे बढ़ने का पुरुषार्थ करते हैं, उनको जो बाधक बन कर रोकते हैं, सांसारिक, भौतिक पदार्थों का प्रलोभन देते हैं, उनकी धर्म के प्रति निष्ठा को हटाते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और महा मोहनीय कर्म को बांध कर अनन्त संसार को बढ़ा लेते हैं। वे स्वयं भी डूब रहे हैं, और दूसरों को भी डुबोने का प्रयास करते हुए अनन्त संसार बढ़ा रहे हैं।

प्रभु महावीर का अमृतोपम उपदेश है कि—

"परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्व बले य हायई, समयं गोयम मा पमायए ।।

अर्थात्—शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं, सभी इन्द्रियों का बल घट रहा है, अतएव हे गौतम ! समय-मात्र का भी प्रमाद मत करो। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक कर्म करने की शक्ति है, तभी तक धर्म भी हो सकता है। कहावत भी है कि—

"जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा।"

अतः सम्यक् दृष्टि का यह कर्त्तव्य है कि जो संसार में गिर रहे हैं, संसार बढ़ा रहे हैं, उन्हें समझावे और सांसारिक कुकृत्यों से उदासीन बनावे, उन्हें धर्म के सम्मुख करे, धर्म में स्थिर करे। ऐसा करता हुआ वह महान् निर्जरा की स्थिति में आगे बढ़ सकता है, दूसरों को तिराता हुआ स्वयं तिर जाता है। पर खेद होता है कि आज के अधिकांश मनुष्य जिन परिस्थितियों में बह रहे हैं, उससे वे इतने बोझिल बने हुए हैं कि स्वयं के निजी स्वरूप को पहचानने की किञ्चित् मात्र फुर्सत भी उन्हें नहीं है। धर्म के प्रति रुचि न होने से वे स्वयं धर्म नहीं कर पाते हैं और अन्य करने वालों के लिये भी समझ न होने से येन-केन-प्रकारेण बाधक बन जाते हैं।

धर्म पर स्थिरता-अस्थिरता एवं श्रावक सम्यग्दृष्टि के कर्त्तव्यों को समझने के लिए जमाली का उदाहरण दे देता हूँ। प्रभु महावीर की अमृतोपम वाणी जब जमाली के मन में प्रविष्ट हुई, तब उसने विचार किया कि प्रभु महावीर मेरे अनन्त उपकारी हैं। जब प्रियदर्शना के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ा, तब मैंने यही विचार किया कि प्रभु महावीर की असीम कृपा से मुझे इस प्रियदर्शना का बहुत अच्छा संयोग मिला, पर आज मुझे वास्तविक लक्ष्मी के साथ संयोग कराने के लिए प्रभु महावीर ने कैसा अच्छा मुझे प्रतिबोध दिया और ऐसा प्रतिबोध पा वह जमाली जामाता अपने पाँच सौ साथियों के साथ दीक्षित हो गया। पर दीक्षित होने के बाद भगवान् से अलग विचरण की अनुमति माँगी, तब प्रभु मौन रहे, दो-तीन बार पूछने पर भी जवाब नहीं दिया तो उस जमाली अणगार ने

बिना भगवान् की आज्ञा के अलग विचरण करना प्रारम्भ कर दिया। विचरण करते हुए एक स्थान पर अशाता वेदनीय कर्म के उदय से शरीर में तीव्र व्याधि हो गई। अतः सोने के लिये शिष्यों को शय्या बिछाने का निर्देश दिया। शय्या बिछाने में देरी होने के कारण इस निमित्त मात्र से उनकी विचारधारा वीतराग वाणी के प्रतिकूल बनी और वह मिथ्या दृष्टि हो गया।

घटना इस प्रकार घटी कि जब शिष्यों से पूछा गया कि मेरी शय्या बिछ गई? तब शिष्यों ने कहा कि हाँ! बिछ गयी है। किन्तु जब जमाली ने देखा कि शय्या अभी तक बिछी नहीं है, फिर भी ये कैसे कह रहे हैं कि "शय्या बिछ गई।" ये भगवान् के सिद्धान्त का अनुसरण करके कह रहे हैं। पर आज मैं यह प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि भगवान् का यह सिद्धान्त सर्वथा गलत है। जो कार्य पूरा नहीं हुआ है, उसे पूरा हुआ कैसे कह रहे हैं। इस गलत मान्यता का आग्रह सिर्फ जमाली ने ही नहीं पकड़कर रखा वरन् उसके साथ वाले साथी और महासती प्रियदर्शना भी उस गलत मान्यता के आग्रह को लेकर विचरने लगी।

एक बार का प्रसंग है। प्रियदर्शना विचरती हुई ढंक श्रावक के यहाँ पर पहुँची। वह जाति से कुम्भकार था, पर प्रभु महावीर का पक्का श्रावक था। जिनवाणी का रसिक, प्रभु महावीर के सिद्धान्तों का जानकार, सुज्ञ और गम्भीर था। उसने जब यह जाना कि, जमाली प्रभु महावीर के सिद्धान्तों से विरुद्ध प्ररूपणा करके विचर रहा है तथा यह प्रियदर्शना भी मूढ़ मति को प्राप्त हो जमाली के द्वारा प्ररूपित गलत सिद्धान्त को स्वीकार कर प्ररूपणा कर रही है कि—"जो कार्य अभी तक पूरा नहीं हुआ, उसे पूरा हो गया—ऐसा नहीं कहना।" कुम्भकार ढंक श्रावक अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से एक उपाय ढूँढ निकालता है और वीतराग वचन से अस्थिर बनी साध्वी प्रियदर्शना को पुनः वीतराग वचनों पर स्थिर कर देता है, जैसा कि उसने यह प्रयोगात्मक कार्य किया। बर्तन पकाने के स्थल से अंगारा लेकर उस साध्वी की चादर के एक किनारे पर डाल दिया। तब वह साध्वी बोल उठी—"अरे! यह क्या किया? मेरी चादर जला दी।" तब कुम्भकार ने कहा कि तुम्हारी चादर अभी पूरी कहाँ जली है? सिर्फ एक किनारा ही तो जला है। तुम्हारा तो सिद्धान्त है कि जब तक कोई वस्तु पूरी नहीं जल जाय, तब तक उसे जला हुआ नहीं कहना। तीर ठीक निशाने पर लगा। वह हलुकर्मी आत्मा साध्वी प्रियदर्शना तुरन्त समझ गयी कि प्रभु महावीर का जो सिद्धान्त है—"चलमाणे चलिए इत्यादि" वह सही है और मैं जो वर्तमान में प्ररूपणा करने के लिये तत्पर हुई हूँ, वह सर्वथा गलत है। तब साध्वी प्रियदर्शना अपने साध्वी परिवार के साथ महाप्रभु के सान्निध्य में आलोचना-प्रतिक्रमण कर पुनः सम्मिलित हो गई। महाप्रभु का सत्य सिद्धान्त समझाया गया तो कितने ही सन्त, जमाली अणगार को छोड़कर महाप्रभु के सान्निध्य में चले आए। किन्तु जमाली अपने मिथ्या-सिद्धान्त पर डटा रहा और अन्त तक मिथ्यादृष्टि ही बना रहा।

इस प्रकार अन्य भी उदाहरण हैं धर्म से, संयम से अस्थिर होते हुए को पुनः धर्म में, संयम में स्थिर करने विषयक। जैसे—जब अरिष्टनेमि भगवान् के छोटे भाई रथनेमि साधना में स्थित, गुफा में ध्यान कर रहे थे और इधर साध्वी राजमति प्रभु अरिष्टनेमि के दर्शन करने के लिये उसी रास्ते से साध्वी-समुदाय के साथ जा रही थी, पर बीच में भयंकर आँधी-बरसात के कारण सभी साध्वियाँ इधर-उधर हो गयीं। संयोग की बात है, राजमति उस स्थिति में अपने वस्त्र सुखाने की दृष्टि से उसी गुफा में चली गयी, जिसमें रथनेमि थे। बाहर प्रकाश से आने के कारण उसे मालूम न हुआ कि भीतर में कोई है। अतः वह तो अपने वस्त्र यतनापूर्वक सुखाने की दृष्टि से शरीर से पृथक् कर रही थी और उधर उन रथनेमि अणगार की दृष्टि ज्यों ही महासती पर पड़ी, वे मोहग्रस्त बन उसके सौन्दर्य को निहारने लगे, वैषयिक आमन्त्रण देने लगे। पर वह संयमनिष्ठ साध्वी राजमति सिंहनी की तरह उसे ललकार कर कहने लगी—

"धिरत्थु तेऽजसंकामी, जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥"

"हे अपयशकामी रथनेमि! तुझे धिक्कार है, जो तू असंयम रूप जीवन के लिये वमन किये हुए को पुनः ग्रहण करना चाहता है। इस असंयम रूप जीवन से तो तेरा असयम को प्राप्त होने से पूर्व ही मर जाना ही श्रेष्ठ होगा।" इस प्रकार उस संयमव्रती साध्वी के उपर्युक्त सुभाषित वचनों को श्रवण कर वे चरम शरीरी रथनेमि अणगार संयम में उसी प्रकार स्थित हो गये, जिस प्रकार अंकुश से हाथी वश में हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एकान्त स्थान में साधना करते हुए बड़े-बड़े योगी भी कदाचित् मोहनीय कर्म के उदय हो जाने से धर्म से, संयम से विचलित हो जाएँ तो सम्यग्दृष्टि आत्मा का कर्त्तव्य है कि वे उन्हें पुनः धर्म का दिव्य स्वरूप समझाकर धर्म में, संयम में स्थिर करें। अपने सम्यक्त्व के छट्ठे आचार का परिपालन करें।

प्रभु महावीर ने कहा है—यह अब्रह्मचर्य जीवन को गहरे पतन में ले जाने वाला है। चरम शरीरी रथनेमि भी, जब ब्रह्मचर्य की स्थिति से विचलित हो गये, तो सामान्य साधकों का तो कहना ही क्या? प्रभु महावीर ने तो इतनी तक मर्यादा बनाई है कि ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए जहाँ नारी आदि का आवास हो, वहाँ साधु को और जहाँ पुरुषों का आवास हो, वहाँ साध्वी को नहीं रहना तथा विकाल में साध्वी के स्थान पर पुरुष और साधु के स्थान पर स्त्री नहीं आवे। जिस प्रकार साधु-साध्वी के लिए महाप्रभु ने संकेत किया, उसी प्रकार ब्रह्मचारी श्रावक-श्राविकाओं को भी इस विषय में विवेक र... आवश्यकता रहती है। जब श्रावक-श्राविका पौषध करते हैं, सामायिक संवर आदि धर्म क्रिया करते हैं, तब ब्रह्मचर्य का अनुपालन किया ज।

समय उन्हें भी साधुओं के नियमों की तरह सूर्योदय होने के पहले व सूर्योदय के पश्चात् श्राविकाओं के धर्मस्थान में श्रावकों को और श्रावकों के धर्म स्थान में श्राविकाओं का रहना प्रतिक्रमण, धर्मचर्चा, प्रार्थना आदि करना मर्यादा से प्रतिकूल है। कभी-कभी इन प्रक्रियाओं से श्रावक-श्राविकाओं की धर्म के प्रति स्थिरता तो दूर रही, धर्म के प्रति अस्थिरता आ जाती है। लोगों को उनके चारित्र पर शंका हो जाती है। कई स्थलों पर श्रावक-श्राविकाओं के विकाल में धर्म थानक पर रहने से अस्थिरता के दुष्परिणाम आये हैं। अतः इस विषय में श्रावक-श्राविकाओं को भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। तीर्थेश मल्लिनाथ भगवान्, जो स्त्रीलिंगी थे, वे भी रात्रि में आभ्यन्तर परिषद् के साथ रहते थे, जबकि वे कल्पातीत थे, उनका कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं था। फिर भी उन्होंने लोक व्यवहार का ख्याल रखा।

इस प्रकार स्थिरीकरण आचार की पुष्टि करने वाले अन्य भी बहुत से उदाहरण हैं। उन सबसे यही शिक्षा ग्रहण करें कि आप भी अपनी निजी अनन्त शक्तियों का, अपने आत्मबल का विकास करें। जीवन में सम्यग्दृष्टिपने के बल-बूते से, आत्मीय गुणों में रमण करते हुए, निष्ठापूर्वक अपने व्रतों का परिपालन करते हुए स्वरूप का विकास करें और फिर अन्य जो धर्म से विमुख बने हुए हैं, उन्हें भी धर्म में स्थिर कर कर्म निर्जरा का पथ प्रशस्त करें।

मोटा उपाश्रय, घाटकोपर, बम्बई — १९-७-८५ शुक्रवार



२० स्वधर्मी वात्सल्य

(सम्यक्त्व का सप्तम आचार)

वीतराग दशा को प्राप्त तीर्थंकर देवों के परम पावन उपदेश का निष्कर्ष जीवन में प्राप्त करने हेतु जिन वीतराग देव की स्तुतिपरक गाथाओं का उच्चारण किया है, उन्हें चिन्तन में लेने की नितान्त आवश्यकता है।

आज मनुष्यों की जो दयनीय दशा बन रही है, वे किनकी शरण में जाएँ? दुःख से निवृत्ति लेने हेतु, जो परिपूर्ण सुखी हैं, उनकी शरण लेने से ही वे सुखी बन सकते हैं। पर दुःखी व्यक्ति के पास जाने से वे अपने दुःखों से निवृत्ति नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जैसे—एक भिखमंगा दूसरे भिखमंगे से भूख-निवारण करने हेतु कहे, तो क्या वह भिखारी उस भिखमंगे की भूख मिटा सकता है? उत्तर होगा—नहीं। ठीक इसी प्रकार संसार में सभी व्यक्ति दुःखी हैं। उनके पास जाने से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थों की याचना करने वाले, भौतिक पदार्थों में आसक्त संसारियों को भिखमंगे की उपमा दे दी जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि प्रायः सभी संसारी, तृष्णा के आवेग में बहते हुए भिखमंगे के रूपक को ही धारण किये हुए हैं। यही नहीं देव, जो अमित ऐश्वर्य के स्वामी हैं, उनकी भी तृष्णा का अन्त नहीं है। बड़ी विचारणीय स्थिति है कि निजी स्वरूप को छोड़कर जीव पर-स्वरूप में रमण कर रहा है, उनमें ममत्व रख रहा है। ऐसी तृष्णा वाले चाहे लखपति, करोड़पति भी क्यों न हों, दूसरों के दुःख दूर करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। पर जो पर-पदार्थों के व्यामोह में न पड़कर साधना के बलबूते पर आध्यात्मिक सम्पत्ति के स्वामी बन चुके हैं, उनका सान्निध्य, उनकी शरण ग्रहण करने से ही दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है। शांतिनाथ भगवान् जब चक्रवर्ती थे, तब उनके पास छः खण्ड की ऋद्धि थी, फिर भी आध्यात्मिक सुख की अपेक्षा रखने वाले, आध्यात्मिक लक्ष्मी को प्राप्त करने हेतु छः ही खण्डों का राज्य उन्होंने छोड़ दिया। उन्होंने सोचा कि आत्मिक ऋद्धि अभी तक मुझे मिली नहीं है। यदि इस भौतिक ऋद्धि में ही खुशी मनाता रहा तो मैं भिखारी ही रहूँगा। अतः छः खण्ड का राज्य छोड़कर वे अणगार बन गये। जैसा कि 'उत्तराध्ययन' सूत्र में यह बतलाया गया है कि—

"चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महड्ढिओ।
'सन्ती' सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरम्॥"

अर्थात्—शांति देने वाले शांतिनाथ नामक महासमृद्धिशाली चक्रवर्ती इस लोक में भरत क्षेत्र के, छः खंड के राज्य को छोड़कर अर्थात् अतीव रमणीय कामभोगों का परित्याग करके प्रधान गति मोक्ष को प्राप्त हुए। जिनके ज्ञान में, जिनके हृदय में संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति अपूर्व वात्सल्य-भाव था, ऐसे भाव के स्वामी, सभी के कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाले वीतराग देव बन गये। यदि हमारी आत्मा कर्म प्रवाह से संसार रूपी वैतरणी में बहती हुई वीत-राग भगवान् के वचनों पर दृढ़ आस्थावान् हो जाय, जो कि सम्यक्त्व का लक्षण है, उस लक्षण पर इतनी दृढ़ीभूत हो जाय कि सम्यक्त्व के सभी आचारों का भलीभाँति अपने जीवन में निर्वाह करती हुई एक दिन उस आध्यात्मिक शक्ति रूप श्री का वरण कर सके और उस प्रधान गति मोक्ष को प्राप्त कर सके।

आचरण करने योग्य आठ सम्यक्त्व के आचारों को भव्यात्माओं को आन्तरिक जीवन में ओत-प्रोत कर लेना चाहिये। सातवें स्थान पर जिस आचार का वर्णन आया है, वह है वात्सल्य। माता का पुत्र के प्रति अद्वितीय वात्सल्य रहता है, वह पुत्र के लिए सब कुछ सहन कर लेती है, अनन्य भाव से उसका परिपालन करती है। यह सारी चर्या उस माँ की वात्सल्य भावना का प्रतीक है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी पर सम्यक् दृष्टि का निःस्वार्थ वात्सल्य बन जाय तो प्रत्येक आत्मा के साथ अनन्य भाव पैदा किये जा सकते हैं। प्रत्येक के साथ आत्मवत् व्यवहार की स्थिति प्राप्त होती है। रूपक है—बिल्ली स्वयं की सन्तान को जन्म देने के बाद उन्हें अपने दाँतों के बीच में दबाकर सात घरों तक फिराती है, तब उन बच्चों की आँखें खुलती हैं—ऐसा कहा जाता है। पर जब वह सात घरों तक बच्चे को दांतों के बीच में दबाकर घूमती है, तब अपने बच्चे को जरा भी आँच नहीं आने देती। लेकिन यदि किसी पक्षी का बच्चा उसके मुख में आ जाय तो वह उसको खा जाती है। यह तो अज्ञानवश पशु जाति की मोह अवस्था है, पर जो मानव चिन्तनशील है, वह अपने वात्सल्य भाव का विस्तार करना सीखे। स्व-पर का भेद भूलकर सबके साथ आत्मवत् व्यवहार करे। बच्चा जन्म लेता है और माता के स्तन में से दूध एकाएक आने लगता है, यह बच्चे के प्रति माता की वात्सल्यता का ही परिणाम है। जब भगवान् महावीर को चण्ड-कौशिक ने डंक मारा, तो भगवान् के पैर के अंगुष्ठ से दूधवत् धारा छूट पड़ी। यह उनकी प्रत्येक आत्मा के प्रति अपूर्व आत्मीयता, अद्वितीय वात्सल्यता का प्रतीक थी। यह माता के जीवन से भी बढ़कर भगवान् के जीवन का वात्सल्य भाव था। डंक मारने वाले के प्रति भी वह निःस्वार्थ वात्सल्य भावना दूध की धवलता के रूप में निर्झरित हुई। प्रतिबोधित कर दिया उस चंडकौशिक को। पर आज कहाँ है निःस्वार्थ वात्सल्य भावना? कहाँ है वह सम्यग्दृष्टि का आचार? कहाँ है साधर्मी के प्रति सहयोग की भावना?

एक समय का प्रसंग है। दुष्काल का समय था। तब कई सम्पन्न स्थिति वालों ने अन्न खरीद लिया और अपने परिवार वालों का पोषण करने लगे। पर

कई गरीब लोग क्षुधा से तड़फड़ाते हुए मरने लगे। ऐसी परिस्थिति में "वहुरत्ना वसुन्धरा" इस कहावत को चरितार्थ करने वाला एक सुदत्त नामक सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रभु महावीर का अनुयायी विचार करने लगा कि मेरी यह सम्पत्ति यदि मैं साधर्मी भाइयों की मदद में नियोजित कर दूँ, तो इससे वढ़कर इस नश्वर सम्पत्ति का और क्या सदुपयोग होगा। ऐसा विचार कर खुले दिल से वह साधर्मी भाइयों के लिये हर तरह से साधन जुटाने लगा, वड़ी हवेली वना कर सव अनाथों का, गरीवों का पोषण करने लगा, वड़ी विनम्रता और आत्मीय भावना के साथ। तीन साल तक वरावर उनका परिपालन कर उन लोगों का भी धर्म के प्रति अहोभाव उत्पन्न किया।

समय परिवर्तनशील है। समय ने पलटा खाया, दुष्काल जव सुकाल में परिवर्तित हुआ तो सभी दुष्काल पीड़ित भाई-वहिन अपनी विनम्रता, कृतज्ञता जतलाते हुए वड़े विनम्र भावों के साथ उन सेठ सा. को कहने लगे कि— "महानुभाव! आपने हमारी वहुत सुरक्षा की। आपने वात्सल्य भाव का वहुत सुन्दर अनूठा रूपक जगत् के सामने रखा। हम आपके वहुत आभारी हैं। अव हमें छुट्टी दीजिये। हम अपने घर जाना चाहते हैं।" तव सेठ कहने लगा कि यह तो आपने मुझे स्वर्णिम चान्स दिया। मेरा अहोभाग्य है कि मुझे आपकी सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपने मेरे पर वहुत उपकार किया।

ख्याल करिये कि उपकार किया सेठ ने उन लोगों पर, पर कह क्या रहा है कि "आपने मुझ पर वहुत वड़ा उपकार किया।" कितनी विनम्रता थी, सेठ के जीवन में। सेठ ने यथार्थ में प्रभु महावीर के सिद्धान्तों का रसपान किया था। सम्यक् दृष्टि के आचारों का भली-भांति ज्ञान कर दृढ़ता से उसका पालन किया था।

आज के युग में तो देखने को मिलता है कि प्रथम तो कोई ऐसा स्वधर्मी वात्सल्य का व्यवहार ही नहीं करते हैं। यदि कहीं करते भी हैं तो उसके पीछे नाम कमाने की, यश फैलाने की भावना अधिक काम करती है। काम कम, नाम अधिक होना चाहिये। इस वात को मानने वाले व्यक्ति कभी भी स्वधर्मी वत्सलता का पूरा-पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। वह सेठ, ऐसे लोगों में से नहीं था। वह दिये गये दान को भूमि में गये वीज की तरह गुप्त और सुरक्षित रखने वाला था।

जव सुकाल हुआ और लोग जाने की तैयारी करने लगे तो सेठ ने उन्हें एक निवेदन किया कि एक प्रतिभोज और देना चाहता हूँ। कृपा कर मुझे संतुष्ट कीजिये। लोगों ने वात मान ली। प्रीतिभोज की जोरदार तैयारियाँ की जाने लगीं। सभी को वह अपने हाथ से परोसकर जिमाने लगे। देखिये स्वधर्मी सेवा!

मुझे इसी वीच स्वर्गीय गुरुदेव के समय का प्रसंग याद आ रहा है।

गुरुदेव का जब बगड़ी चातुर्मास था, तब चातुर्मास कराने वाले सेठ लक्ष्मीचंदजी धाड़ीवाल स्वयं स्वधर्मी भाइयों की सराहनीय सेवा करते थे। भोजनादि सभी कार्यों में स्वयं भाग लेते थे। एक बार का प्रसंग है—कुछ भाई भोजन में अपनी खुराक का ध्यान नहीं रख पाये, जिससे उन्हें हैजे की शिकायत हो गयी। चेप की बीमारी होने से उनकी सेवा करने में नौकर-चाकर भी संकोच करने लगे। तो सेठ-सेठानी ने स्वयं ने उनको सम्भाला, उनकी सभी प्रकार से सेवा की और उन्हें स्वस्थ कर विदा किया। यह है साधर्मी के प्रति नि.स्वार्थ वात्सल्य भाव।

हाँ! तो उस सेठ की बात कह रहा था मैं, जो सेठजी सभी को परोस रहे थे, उस समय उनके लड़के ने कहा—"पिताजी! मैं भी परोसूँगा।" तो उसे सहर्ष अनुमति दी गयी। वह लड़का जब परोस रहा था तो एक बहिन ने, जिसे किसी चीज की जरूरत थी, उसे माँगने हेतु उसने उस लड़के के वस्त्र को पकड़ कर कहा—"यहाँ भी परोसते जाइये।" पर वह नादान, वात्सल्य भावना से अनभिज्ञ, बोल उठा कि तीन-तीन साल हो गये, यहाँ टुकड़े खाते-खाते फिर भी अभी तक तृप्ति नहीं हुई क्या? पल्ला पकड़ते नहीं छूटा? बन्धुओ! ये कठोर शब्द, उस बहिन को क्या! जीमने वाले सभी भाई-बहिनों को इतनी ठेस पहुँचाने वाले हुए कि सबके सब एक साथ उठ गये, बिना पूरा भोजन किये ही रवाना होने लगे। जब सेठजी ने यह दृश्य देखा तो विचार करने लगे कि तीन साल तक जो वात्सल्य भावना का स्रोत मैंने बहाया, उस पर लड़के ने थोड़े से कठोर शब्द कहकर पानी फेर दिया। सेठजी उन लोगों को हाथ जोड़कर, पैरों में गिरकर माफी माँगने लगे। कहने लगे कि लड़के ने नादानी कर दी, आप उसे क्षमा कर दें। सभी सेठ की अपूर्व वात्सल्यता, विनम्रता से गद्गद् हो उठे। सेठ का पूरा सत्कार ग्रहण करके, सेठ को अन्तर आशीष देते हुए विदा हुए। अस्तु!

वात्सल्य भावना तो अन्तर की होती है। प्रभु महावीर ने कहा कि—"हे आत्मन्! तू सम्पूर्ण विश्व के साथ वात्सल्य भाव रख। यदि इतना न हो सके तो कम से कम परिवार वालों के प्रति और साधर्मी भाइयों के प्रति तो अपनी वात्सल्य भावना का विस्तार होना चाहिये। वात्सल्य भाव करने वालों को सबक लेना है कि समाज में रहते हुए कभी कुछ बोलने अथवा सुनने का प्रसंग आ जाए तो भी अपने क्षमा गुण का विकास कर, आत्मवत् व्यवहार का ख्याल कर अपने वात्सल्य का निर्झर बहाते रहें। अपने जीवन में समागत समूल दु:खों से निवृत्ति पाने हेतु वीतराग वाणी में अवगाहन करते हुए सम्यक्त्व के सातवें आचार को जीवन में स्थान देंगे तो जीवन अतीव मंगलमय बन जाएगा। इन्हीं शुभ भावों के साथ।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२०-७-८५
शनिवार

२१ भौतिकता से हटो— आत्मलक्ष्यी बनो

वीतराग देव का परम पावन स्वरूप, जन-जन की अन्तर चेतना को उल्लसित करनेवाला है। उस उपदिष्ट मार्ग का, उनकी देशना का चिन्तन-मनन करने का यह भव्य अवसर है।

मनुष्य जन्म, आर्यभूमि, संत-समागम और वीतराग-वाणी का श्रवण जिसे उपलब्ध होता है, उसका मनुष्य जीवन अनंत पुण्यवानी के उदय का शुभ फल एवं अंतराय कर्म का क्षयोपशम समझना चाहिये।

वर्तमान की पर्याय वर्तमानस्वरूप ही रहती है। वैसी पर्याय भूत और भविष्य की भी होती है। पर्याय का तात्पर्य परिवर्तन से है। यह तीनों काल में होता रहता है। सम्यग्दृष्टि भाव यह विवेक देता है कि जिस समय जो पर्याय वरत (चल) रही है, उस समय उसी पर्याय का कथन करो। भविष्य में आप आत्मा की शुद्ध पर्याय को प्राप्त कर सकते हैं, पर वर्तमान में उस पर्याय का एकान्त आरोप करना सम्यक् नहीं है। जैसे— वर्तमान में मनुष्य चोले को लेकर चल रहा है और उसे सिद्ध कहें तो अनुचित है। नय की दृष्टि को लेकर हम कह सकते हैं कि हमारी आत्मा सिद्ध जैसी है, पर वर्तमान में उसे सिद्ध नहीं कहा जा सकता। यदि वर्तमान की पर्याय को, हम भविष्य में प्राप्त होने वाली पर्याय मान लेते हैं, तो इसमें मिथ्यात्व की स्थिति बन सकती हैं। जैसे—आप वर्तमान में भोजन कर रहे हैं और यह कह दें कि मैं व्यापार कर रहा हूँ तो आपका यह कथन गलत है भले ही आप भविष्य में व्यापार करेंगे ठीक वैसे ही वर्तमान में जिस पर्याय में आप चल रहे हैं और अतीत या भविष्य की किसी पर्याय का आरोप वर्तमान में करते हैं तो यह अनुचित होगा।

संयमी जीवन भी एक पर्याय है। वह पर्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सीमा में सार्वभौम होती है। उस पर्याय को किसी भी प्रान्त या काल की परिधि में ही मान लेना गलत होगा। प्रभु महावीर की संयमीय पर्याय सार्वभौमता से प्रारंभ हुई और जब घनघाती कर्म क्षय कर उनकी पर्याय केवलज्ञानादि की पर्याय में परिणित हुई तब वे महाप्रभु सारी सीमाओं को पार कर असीम बन गये थे। असीम बनने के बाद उन्होंने जन कल्याण के लिये जो आध्यात्मिक उपदेश दिया, वह उपदेश प्राणीमात्र के लिये था। जैसा कि प्रश्नव्याकरण

में कहा गया है—"सव्व जग जीव रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं" जगत् के सभी जीवों की रक्षा के लिये भगवान् ने प्रवचन दिया था। वह प्रवचन आज सुनने, पढ़ने को मिलता है तो हम कितने सद्‌भाग्यशाली हैं। पर अवधानतापूर्वक श्रवण से प्रत्येक तत्त्व समझा जा सकता है।

प्रभु महावीर ने यह नहीं कहा था कि मैं क्षत्रिय जाति का हूँ, अतः मेरा उपदेश सिर्फ क्षत्रिय जाति के लिये ही है। उन्होंने तो फरमाया कि मेरा उपदेश कल्याण चाहने वाले प्राणिमात्र के लिये है। आप उसे सुनें क्योंकि सुनकर ही अपना हित-अहित पहचाना जा सकता है। जैसे—

"सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयंऽपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।" (दशवै०सू०अ० ४)

अर्थात् कल्याण मार्ग भी सुनकर ही जाना जा सकता है और अकल्याण मार्ग भी सुनकर ही जाना जा सकता है। दोनों सुनकर जाने जा सकते हैं। अतः जो तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है उसका तुम आचरण करो।

आज हम देख रहे हैं कि श्रवण की स्थिति तो बहुत अधिक व्यापक है, पर वह श्रवण कर्णेन्द्रिय तक ही सीमित हैं या मन तक भी पहुँचता है। मन तक पहुँचता है तो क्या कभी चिंतन की स्थिति भी बनती है कि मैं जो सुन रहा हूँ, उसके अनुसार अपना जीवन भी बनाऊँ। जीवन के क्षेत्र में श्रवण तब तक उपयोगी नहीं होता है, जब तक वह श्रवण विचार क्षेत्र में पहुँचकर निर्णायक स्थिति में परिणित न बने। गहन चिन्तन की भूमिका तैयार न करे।

आज के युग में विचार की स्थिति से हटकर निर्विचार बनने की स्थिति भी बन रही है पर निर्विचार है क्या ? क्या पशुवत् विचारों से रहित बन जाएँ ? उत्तर होगा—नहीं। मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। विचार करनेवाली बुद्धि कुछ और होती है। विचार जब चलता है, तब समुद्र में उठनेवाली तरंगों की भाँति अनेक विचार तरंगें उठती हैं। उस समय उन सारी विचार तरंगों से ऊपर उठकर, जो विचार उपादेय हैं, उन्हें स्वीकार करने की निर्णायक बुद्धि ही यथार्थ में हेय विचारों से निर्विचार स्थिति को प्राप्त करा सकती है। विचार जड़ के नहीं होते, विचार चैतन्य के ही होते हैं। जो सुन ही नहीं सकता, वह विचार क्या करेगा ? सुनने की क्षमता चैतन्य में ही है। तात्पर्य यह है कि सुनना, विचार करना, सम्यक् निर्णायक बुद्धि का विकास करना और निर्विचार यानि मोहजनित संकल्प-विकल्पों से मुक्ति पाकर विचारों पर नियन्त्रण पाना यह सब चैतन्य का ही कार्य है। विचार की तरंगें मन की भूमिका पर उठ रही हैं, पर उसे तरंगित करनेवाली आत्मा ही हैं। वही आत्मा उन विचारों पर नियंत्रण कर निर्विचार बन सकती है, अर्थात् निर्विचार स्थिति में अपनी पहुँच बना सकती है।

जो लोग यह मानते हैं कि विचारों को समाप्त कर दो तो उनका यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। विचारों को समाप्त नहीं किया जा सकता बल्कि रूपान्तरित किया जा सकता है। **प्रवाह को रोका नहीं जा सकता, मोड़ा जा सकता है।** एक रूपक है समझने के लिये—जिस व्यक्ति को कम दिखाई देता है, वह डॉक्टर के पास जाकर अपनी आँखें दिखाता है और रोशनी बढ़ाने की फरियाद करता है, तब डॉक्टर उसे नम्बर वाला चश्मा देता है, जिसे लगाकर वह व्यक्ति स्पष्ट देख सकता है। पर, यदि उस नम्बर वाले चश्मे पर लाल रंग का लेप करदें तो उसे प्रत्येक चीज लाल-लाल दिखाई देगी। यह विकृति रंग के कारण ही उस चश्मे में आती है। नम्बर में कोई विकृति नहीं होती। यदि वह नम्बर में कोई विकृति मानता है तो उसका चिन्तन उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के विचार नम्बर हैं और इन विचारों पर अहं का, ममत्व का, राग-द्वेष का रंग चढ़ जाता है। तब वह सही स्वरूप को नहीं जान पाती है। उसी रंग के कारण आज मानव विचारों की गलत उलझनों में पड़ा प्रान्तीयता के धर्मों में, गलत साम्प्रदायिक व्यामोह में, आत्मीयता रहितपना आदि को प्राप्त हो रहा है। जो अहं, राग, द्वेष, ममत्व के रंग को हटाकर समताभाव में उपस्थित होकर उन शुद्ध विचारों के नम्बरों से आत्म भाव की समीक्षा करता है, वह इतना समर्थ बन सकता है कि लोक-अलोक, सब को जान सकता है। स्वयं का समुज्ज्वल स्वरूप प्राप्त कर सकता है।

आज वैज्ञानिक युग में जो बड़े-बड़े आश्चर्यकारी आविष्कार हुए हैं, उन आविष्कारों ने बहुत ही प्रज्ञाशील जनों को भी विचारों की स्थिति से गुमराह बनाया है। वे यही मानने लगे हैं कि भौतिक विज्ञान ही सब कुछ है। पर यह सर्वमान्य है कि इन अनेक आविष्कारों को करनेवाली हमारी अनंत-अनंत शक्ति सम्पन्न आत्मा ही है। आज सवालों का जवाब देनेवाले जिस कम्प्यूटर का आविष्कार हुआ है, वह जो उत्तर देता है तो वह उत्तर देने वाला कौन है ? क्या वह कम्प्यूटर जानता है कि वह कौन है ? उसमें तो जो भर दिया जाता है, वही सामने आता है। जो उसमें नहीं है, वह उससे पूछें तो ज्ञात होगा ? कम्प्यूटर से पूछें—तुम कौन हो ? क्या वह उत्तर दे सकता है कि मैं अमुक हूँ ? वह तो जड़ है, उसका निर्माता है तो आत्मा ही। आचारांग सूत्र का दिव्य सूत्र है— "जे आया से विन्नाया" जो आत्मा है वही विज्ञाता है। आत्मा की अनंत शक्ति से ही ये आविष्कार हो रहे हैं। भीतर का संचालक कौन है ? यह भौतिक औजारों से नहीं जाना जा सकता। इस विज्ञान स्वरूपी आत्मा को जानने का प्रसंग जब तक नहीं बनेगा तब तक कितना ही विकास हो जाय, वह अधूरा है। अगर अन्तर चेतना का विकास हो जाय तो अन्य सभी तरह का विकास होते कोई देर न लगेगी। दृश्य जगत् में दिखने वाले सभी पदार्थ भौतिक हैं। और उनका निर्माणकर्ता अभौतिक आत्मा ही है।

आज भौतिक विज्ञानवादी भी आध्यात्मिक स्थिति में आगे बढ़ रहे हैं। वर्त्तमान में आप जिन भौतिक पर्यायों को जान रहे हैं। यदि उनकी भीतरी स्थिति का ज्ञान नहीं है तो आप किञ्चित् मात्र भी अध्यात्म विकास की स्थिति में आगे नहीं बढ़ पाएंगे। भौतिकता से आज क्या कुछ दयनीय स्थिति इस मानव की बनी हुई है। भौतिकता के रंग में रंगा मानव ईर्ष्या, राग-द्वेष की द्वन्द्वात्मक स्थिति में झूलता हुआ बहिर्दर्शी बना अपने जीवन को किस भाँति जी रहा है—इस विषयक एक घटना का उल्लेख कर देता हूँ। कुछ वर्ष पूर्व की बात है, क्षेत्रपुर गाँव में एक वेणी माधवसिंह नामक जागीरदार था। वह एक बार बीमार हो गया। बीमार भी ऐसा कि पलंग से उठने की स्थिति भी नही थी। डॉक्टर, वैद्य, हकीम आदि ने अलग-अलग जाँच की और एक ही निर्णय दिया कि इनको हृदय की बीमारी है। इनके सामने कुछ भी चिन्ता की स्थिति उपस्थित मत करना। इनको ज्यादा बोलाना मत। एक बार उनका भानेज सदाशिव अपने मामा की शाता पूछने के लिये अपने मित्र के साथ उनके घर गया और पूछा कि तबियत कैसी क्या है? पर उसके मामाजी ने उसे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया। उसने जब मामाजी की चिकित्सा के विषय में खोज की तो ज्ञात हुआ कि चिकित्सा तो बराबर चल रही है फिर भी उनकी व्याधि समाप्त नहीं हुई है। इसमें जरूर कोई आन्तरिक कारण होना चाहिये। बात-चीत के दौरान उसे ज्ञात हुआ कि मामाजी को चन्द्रनाथ ठाकुर से ईर्ष्या है। उसके विकास को सुनकर ही यह इतने दुःखी हुए हैं। जिससे इन्हें हार्ट-अटैंक हो गया है। अतः इन्हें स्वस्थ करने के लिये मनोविज्ञान से काम लेना होगा। वह भानजा मनोविज्ञान का भी जानकार था। वह मामा का मनोरंजन करने लगा, जिससे उनको कुछ प्रसन्नता की अनुभूति हुई। तब मामा सदाशिव से चन्द्रनाथ जागीरदार के विषय में पूछताछ करने लगा, कहने लगा कि तुम्हारे प्रान्त में खेती बहुत हुई है। तुमने तो चन्द्रनाथ ठाकुर के विषय में कुछ भी समाचार नहीं बताये। तब भानजा कहने लगा कि—मामाजी! चन्द्रनाथ ठाकुर के खेती तो बहुत हुई पर टिड्डी लग गयी जिससे फसल नष्ट हो गयी। जो दूसरों को ठगता है वह भी ठगा जाता है। प्रकृति के घर में देर है, पर अंधेर नहीं है। यह श्रवणकर मामा अतीव प्रसन्न हुआ। पुनः भानजे से कहने लगा कि सुना है उसकी लड़की का संबंध किसी धनिक परिवार में हुआ है। तब पुनः भानजे ने प्रत्युत्तर दिया कि "नहीं-नहीं! यह किसने कहा? ज्योतिषी ने तो साफ मना कर दिया कि चन्द्रनाथ की लड़की का लगन होगा ही नहीं।" यह श्रवण कर तो उसे इतनी अधिक खुशी हुई कि वह एकदम उठकर बैठ गया तथा अपने आपमें एकदम स्वस्थता का अनुभव करने लगा तथा भानजे को धन्यवाद देता हुआ विदा किया और यह भी कहा कि भाई! तुम्हें कभी समय मिले तो आया करना और उस जागीरदार चन्द्रनाथ का हाल सुनाया करना।

लौटते वक्त रास्ते में सदाशिव को उसका मित्र कहने लगा कि तुमने

इतना झूठ क्यों कहा ? तब वह कहने लगा कि यदि मैं अपने मामा को ये झूठी बातें नहीं कहता, तो आज ही उसका हार्ट-फेल हो जाता। मेरी दवाई मेरे मामा को लागू हो गई। वे चन्द्रनाथ के समाचार श्रवण कर एकदम स्वस्थ हो गये। चन्द्रनाथ की तरक्की के समाचार सुनकर ही मामा को हार्ट की बीमारी हुई थी। बन्धुओ ! यह क्या है ? ये ईर्ष्या, राग-द्वेष आदि परिणतियाँ ही हृदय-रोग आदि-आदि कैसे-कैसे भयंकर रोग खड़े कर देती हैं। स्वस्थ को अस्वस्थ बना देती हैं। विषमता का यह भयानक रूप व्यक्ति के अन्तरंग और बाहरी दोनों ही प्रकार के जीवन को क्षत-विक्षत कर देता है।

जो व्यक्ति राग-द्वेष को मंद करता हुआ नैतिकता के साथ निर्लोभ-वृत्ति से चलता है, उसके पास भौतिक सम्पत्ति चाहे कितनी भी कम क्यों न हो, वह चैन से रह सकता है। इस प्रसंग पर एक और छोटा-सा उदाहरण सुना देता हूँ। राजा भोज सादी पोषाक में जंगल में घूम रहा था, तब उसने एक मस्त लकड़हारे को देखा और विचार किया कि यह इतना गरीब है पर है कितना मस्त हाल ! पूछा उससे—"तुम कौन हो ?" पर वह बिना उत्तर दिये आगे बढ़ गया। यह देख राजा भोज ने सोचा कि यह कितना निर्भीक है। पुनः राजा ने आगे बढ़कर पूछा कि तुम कौन हो ? तब उत्तर मिला कि मैं राजा भोज हूँ। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। भोज उसके साथ-साथ चलने लगा। वह जहाँ बैठा, राजा भोज भी वहाँ बैठ गया और पूछने लगा कि क्या राजा भोज भी लकड़ी का भार ढ़ोता है ? क्या तुम सचमुच राजा भोज हो ? तब वह कहने लगा—"अरे ! राजा भोज जितना राजसी आनंद का उपभोग नहीं करता, उतना मैं करता हूँ। मुझे नित्य प्रतिदिन लकड़ी बेचने में छः टका मिलता है, जिसमें से एक टका बोरा को देता हूँ, एक टका आसामी को, एक टका मंत्री को, एक स्वयं के लिये, एक अतिथि सत्कार में तथा एक भण्डार में डालता हूँ।" राजा ने पूछा—"तुम्हारा बोरा कौन है ?" तो वह बोला—"मेरे माता-पिता हैं क्योंकि उन्होंने मुझे पाल पोसकर बड़ा किया और इस योग्य बनाया। इसलिये वे अब मेरे लेनदार हैं। आसामी मेरे पुत्र-पुत्रियाँ हैं क्योंकि वे मेरे से ऋण ले रहे हैं। मंत्री मेरी धर्मपत्नी है. क्योंकि वह मुझे नेक सलाह देती है। इसलिये मैं माता-पिता को एक टका, पुत्र-पुत्रियों के लिये एक टका, पत्नी के लिये एक टका, शेष तीन में से एक भण्डार में, एक अतिथि के लिये व एक मेरे लिये खर्च करता हूँ। मैं अपनी इसी आमदनी में इतना मस्त हूँ जितनी मस्ती विशाल समृद्धि सम्पन्न राजा भोज के भी नहीं है।"

भोज सोचने लगा कि ऐसी सुन्दर व्यवस्था तो मेरे पास
कठियारे की मस्ती में मूल कारण संतोष और आत्मनिर्भरता
सम्राट में भी नहीं पायी गयी। यह तो भौतिक तत्त्वों में संत

था कि उसे इतना सुख मिला। किन्तु जब व्यक्ति भौतिक आसक्ति से परे हट-कर अध्यात्म-साधना करता हुआ परिपूर्णतः आत्मलक्ष्यी बनता है, तब विचार कीजिये उसको कितने सुख की अनुभूति होती होगी। उसकी कल्पना भौतिक तत्त्वों से नहीं की जा सकती। अतः स्पष्ट है कि भौतिकता में सुख नहीं है। सुख का मूल स्रोत आध्यात्मिकता है। जो भी व्यक्ति आध्यात्मिकता में प्रवेश कर परिपूर्णतः दृष्टि को समीक्षणमय बनाता हुआ आत्मलक्ष्यी बनता है, वह निश्चय ही परम सुख को प्राप्त करता है।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२१-७-८५
रविवार



२२ प्रभावना

(सम्यक्त्व का आठवाँ आचार)

सारे जगत् में सार रूप, अनन्य स्वरूप जिसके समान दूसरा कोई रूप नहीं हो सकता है, ऐसे वीतराग प्रभु का संस्मरण करने से वीतराग भाव भीतर में जागृत होते हैं। जिन-जिन तत्त्वों के गुण समक्ष आते हैं, उन-उन गुणों को भीतर में प्रकट करने की लालसा जागृत होती है। जब तक राग रहता है, तब तक बहुत सारे दुर्गुण, बहुत सारी कर्म बन्धन की स्थिति आत्मा के साथ संबंधित रहती है। जब राग आत्मा से दूर हो जाता है, तब आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र होकर वीतराग दशा में रमण करती है। वीतराग दशा में प्रभु ने जो उपदेश दिया है, उस उपदेश को प्रवचन रूप में संबोधित किया जाता है।

वचन और प्रवचन में अंतर है। वचन तो सभी बोलते हैं, अपने भावों की अभिव्यक्ति करने के लिये। वचनों का तो कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वह एकमात्र वादित्र की भाँति ध्वनि वाचक है। जैसे वादित्र बजता है, तो लोग सामान्य रूप से सुन लेते हैं। पर जब घड़ी का घंटा लगता है, तब मनुष्य कितने उपयोगपूर्वक व सावधानी से सुनते हैं। आप निर्णय करिये कि महत्त्व वादिंत्र की आवाज का है या घड़ी के टणकारे का। इसी प्रकार वचन तो वादित्र की तरह हैं और प्रवचन घड़ी के टणकारे की भाँति।

एक न्यायाधीश जो परिवार में रहकर नन्हें-नन्हें बच्चों के साथ बात करता है, तब जो वचन वह बोलता है उसका इतना महत्त्व नहीं होता है। लेकिन वही न्यायाधीश जब न्याय की कुर्सी पर बैठकर न्याय देता है, तब लोग कितने ध्यानपूर्वक सुनते हैं। उन वचनों का कितना अधिक महत्त्व होता है। इसी प्रकार भगवान् के वचन जो प्रवचन रूप हैं वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु के प्रवचन का जितना-जितना रहस्य सामने आता है, उतनी-उतनी मुमुक्षु आत्माएँ आह्लादित होकर उसमें अवगाहन करने को उत्सुक रहती हैं। वर्तमान में अनेक पुस्तकें निकल रही हैं, पर उनका उतना महत्त्व नहीं है, जितना संसार में घट रही घटनाओं का है, जिन्हें देखकर, सुनकर या पढ़कर उसका असर उन देखने, सुनने व पढ़ने वालों के जीवन में पड़ता है। उसका महत्त्व विशेष है। वीतराग प्रवचन का महत्त्व, कथन की अपेक्षा अनुभव से अधिक किया व जाना जा सकता है।

यह चैतन्य आत्मा जब निर्विकार बनकर अर्थ से परिपूर्ण शब्दों को निसृत करती है, तब उसमें गूढ़तम रहस्य परिपूरित रहता है। पर जो सांसारिक मनुष्य हैं, वे सभी प्रवचन का श्रवण नहीं कर सकते हैं। जो श्रवण करते हैं, वे भी सिर्फ कर्णों से, सभी हृदय से नहीं सुनते। ऐसे व्यक्ति उसका कुछ भी महत्त्व नहीं जान सकते हैं। पर जो हृदय से श्रवण करते हैं, वे ही इस वीतराग प्ररूपित प्रवचन के महत्त्व का मूल्यांकन कर सकते हैं तथा उससे प्रभावित होते हैं। जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रवचन सुनते हैं उनको देखा जाता है कि असर कम रहता है। किन्तु जो कभी-कभी प्रवचन सुनते हैं उनमें कभी चमत्कारिक असर देखने को मिलता है। इससे यह मतलब नहीं कि प्रतिदिन प्रवचन न सुना जाये। सुनने से यत्किंचित् निर्जरा तो होती ही है। पर जैसे नगारे की आवाज को सुनने वाला मन्दिर का कबूतर बिल्कुल नहीं घबराता और उसी थोड़ी सी आवाज से जंगल का कबूतर उड़ जाता है। ठीक वैसे ही मन्दिर के कबूतरों की तरह के श्रोताओं के जीवन में परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु जंगल के कबूतरों की तरह के व्यक्ति जो कभी-कभी सुनने वाले हैं, उनमें विशेष परिवर्तन देखा जाता है। जिनवाणी तो विस्तृत और व्यापक है। उस सब की बात तो जाने दीजिये। सिर्फ एक छोटा सा नवकार मंत्र जिसमें अनन्तानन्त तीर्थंकरों की वाणी का सार है यदि सच्चे श्रद्धान के साथ उसके अर्थ का अनुसंधान किया जाये तो मालूम होगा कि यह मंत्र कितना गूढ़ है, स्यमय एवं चमत्कारी मंत्र है तथा अन्यों को बहुत प्रभावित करने वाला है।

मेरी अनुभवगम्य बात है—स्वर्गीय गुरुदेव ने मुझे करोली गाँव फरसने के लिये भेजा। आज्ञा प्राप्त कर मैंने तीन संतों के साथ विहार किया। आहार, पानी दो कोस तक ही चलता (ले जा सकते) हैं। अतः आहार पानी करके आगे बढ़े तो आधा घंटा ही दिन अवशेष था। अतः गाँव के बाहर पंचायत भवन जो प्रासुक था, उसकी एक व्यक्ति से आज्ञा मांगी तो उसने कहा कि मैं तो हरिजन हूँ, अतः आप यहां नहीं ठहर सकेंगे। पर जब उसको बताया गया कि इसमें हमें कोई बाधा नहीं है। क्योंकि यह पंचायती मकान है। तब उसने आज्ञा दे दी। और हम सब वहीं ठहर गये। कुछ समय के बाद उसको जिज्ञासा हुई और उसने पूछा कि आपके धर्म का मंत्र क्या है। तब उस व्यक्ति को नवकार मन्त्र का स्वरूप बताया तो वह बड़ा प्रभावित हुआ। और कहने लगा कि हमने तो जैन धर्म की निन्दा ही निन्दा सुनी है। किन्तु आज आपसे मालूम हुआ कि दुनिया को वास्तविक शान्ति प्रदान करने वाला, यह नवकार मंत्र ही है। हमें ऐसे ही धर्म की आवश्यकता है। इस विषयक मुझे और भी आप ज्ञान प्रदान करियेगा। तब प्रतिक्रमण करने के बाद बहुत सारे भाइयों को लेकर वहां आया। उन सबको मैंने नवकार मन्त्र, अर्थ सहित सुनाया। उससे सभी प्रभावित हुए

और पाँव छूने की अनुमति माँगी। तब मैंने कहा कि वैसे तो मैं इसे महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। फिर भी छूना चाहो तो मना नहीं है। तब उन्होंने हर्ष के साथ पैर छूए और चले गये। सबके चले जाने के बाद वह हरिजन पुनः आया और अपनी वस्तु स्थिति बताने लगा। महाराज मैं ७०० गाँव के हरिजनों का मुखिया अर्थात् अध्यक्ष हूँ। मैंने आज ही इतना महिमामय मंत्र सुना है। मुझे आप ऐसा धर्म बताओ कि मैं भी आपके चरणों में समर्पित हो जाऊँ। मेरा आपको इतना-सा कहना है कि आप मेरे अधीनस्थ सभी हरिजन भाइयों को यह उपदेश देवें और जो आपके समाज के मुखिया हैं, उन्हें भी समझावें कि वे हमसे छुआछूत नहीं करें। मानवता के नाते मानव रूप में हमारा सत्कार करें, अपमान नहीं। उसके ७०० गाँव जिसमें उनके जाति भाई रहते थे वहां तो मैं गुरु आज्ञा बिना नहीं पहुँच सका, उन्हें उपदेश नहीं दे सका पर वह भाई इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने जीवन को सुसंस्कारित बना लिया।

सज्जनो! सुख की मृगतृष्णा में दौड़ने वाले लोगों की सुख पाने की समस्या का एक ही समाधान होगा कि वे जैनत्व का सही स्वरूप समझें। जो भौतिकता के रंग में ही अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं उसे अध्यात्म में लगावें। यह तो स्पष्ट है कि यदि परम शांति के महाद्वार में प्रवेश करना है तो वह इसी जैन दर्शन के द्वार से ही होगा। अतः इसे समझिये। जैन धर्म में प्रवेश करने के लिए सम्यक्-दर्शन सबसे पहले आना आवश्यक है। यदि सम्यक्त्व अवस्था के साथ समतापूर्वक जो व्यक्ति चलता है तो वह अपने जीवन में चमत्कारिक सुखद परिवर्तन ला सकता है।

जितने भी वर्तमान में जैनी हैं वे यदि सम्यक्त्व के आचारों को जीवन में स्थान देकर चलने लगें तो आज भी जैनियों की संख्या बढ़ सकती है। जो वीतराग वाणी के प्रवचनों पर अटल आस्था रखता है, वह सम्यग्दर्शनी है। उसके आठ आचार हैं। उसमें अन्तिम आठवां आचार है **प्रभावना**।

प्रवचन प्रभावना कैसे हो? जैन शासन की प्रभावना अनेक प्रकार से की जा सकती है। दान देकर, सेवा करके, उपदेश देकर आदि अनेक प्रकार से प्रभावना का प्रसंग उपस्थित किया जा सकता है। प्रत्येक धार्मिक वृत्ति वालों को स्वाध्यायादि के माध्यम से भगवान् के प्रवचन का बोध देना भी प्रभावना है। एक प्रसंग है। भोपाल में डेढ़ सौ घर पक्के स्थानकवासी के थे। वहाँ जब मैं गया तब मौढ़ जाति के अन्य बहुत से लोग व्याख्यान में आये। [illegible] न्हों बाद जब मैं दोपहर में बैठा था, तब उन मौढ़ जाति का मुखिया [illegible] कहने लगा कि मैं जल रहा हूँ? तब मैंने पूछा कि यह तुम क्या [illegible] कहा—आप स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के [illegible] का प्रचार करने के लिये आये हो, आपका व आपके पि[illegible]

जीवन तो बड़ा ही शुद्ध निर्मल एवं पवित्र है। पर एक बार पहले भी मैंने देखा कि कुछ संत धर्म प्रचार करने हेतु आये थे वे माइक में बोलते थे, तथा बहनों से विना पुरुष की साक्षी से घण्टों बातें करते रहते, यही नहीं उन्हें जरा भी अपनी साधु मर्यादा का ख्याल नहीं था। मैंने देखा वे एक बार एक बहिन के कंधे पर हाथ रख कर खड़े थे। सिनेमा हॉल में भी उन्हें पकड़ा। मैं उनके विषय में क्या कुछ कहूँ। गुरुदेव, ऐसे साधुओं को देखकर विचार आता है, कि लोगों की धर्म के प्रति कैसे श्रद्धा बने। धर्म प्रचार के नाम पर साधु-मर्यादाएं क्यों तोड़ी जा रही हैं। उस साधु के इस आचरण को देखकर हमने स्थानकवासी धर्म ही छोड़ दिया। और जो स्थानक बनाया हुआ है, उसमें यज्ञादि कार्य करने लगे हैं। अब हम आपके जीवन से अत्यन्त प्रभावित हैं! आप वहां पधारिये, प्रवचन फरमाइये। हमें नया दिशा निर्देश दीजिये। मैं उनकी भावना को देखकर वहां गया। दो प्रवचन भी दिये। उन्होंने और रुकने के लिये आग्रह किया पर कल्प की स्थिति पूर्ण हो जाने से आगे रुकने की स्थिति नहीं बनी। कल्प तोड़ कर धर्म प्रचार करने से भी एक के बाद एक मर्यादा टूटती जाती है। अतः मैंने विहार कर दिया। रास्ते में जब उन्होंने मांगलिक सुनी तब वे बोले—गुरुदेव! पहले मैंने अमोलक ऋषिजी का जमाना देखा था। वे अच्छे थे। और अब आपको उसी रूप में देख रहा हूँ।

बन्धुओ! उस एक साधु के गलत आचरण से उन सभी घरों की धर्म के प्रति श्रद्धा विचलित हो गई। प्रभावना की जगह और हानि का प्रसंग आ गया। एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है। वैसे ही उस एक साधु के गलत आचरण से पूरी साधु समाज बदनाम हो गई।

[आचार्य प्रवर का कल्प पूर्ण हो चुका था। यानि २९ दिन तक उन्होंने साधु मर्यादा का परीक्षण कर उसके बाद वे बोले थे कि आपका जीवन कितना पवित्र है। यह हमने प्रत्यक्ष देखा है।—सम्पादक]

आप लोग धर्म का दिव्य स्वरूप समझें। धर्म से विचलित नहीं बनें। बन्धुओं! ऐसी स्थिति में प्रवचन की प्रभावना कैसे क्या हो सकती है। क्योंकि जबकि साधु स्वयं बहुरूपियों की चर्या अपना कर चलता है। समुद्र में ही तूफान आ जाये तो प्रलय होगा ही। वैसे ही साधु जीवन ही दूषित हो जाये तो फिर जिन शासन की प्रभावना कैसे हो सकती है। मेरा तो आप सभी से यही कहना है कि आज के युग में यह आवश्यक है कि अगर आप महावीर के सच्चे भक्त हैं और जिन शासन की प्रभावना करना चाहते हैं तो साधु-साध्वी के जीवन को पवित्र बनाने में सहयोग दें। यह जिनशासन की सर्वोत्कृष्ट प्रभावना होगी। क्योंकि आप साधुओं के जीवन को पवित्र रखेंगे तो सारा जैन संघ पवित्र रहेगा। यदि साधुओं के जीवन को दूषित करने का प्रयास किया गया, उन्हें गिरने में

सहयोग दिया गया, जैसे कि—आप तो वहुत विद्वान हो गये हैं आप यह क्रिया छोड़िये। लाउडस्पीकर में वोलिये, प्लेन में यात्रा करिये, रात्रि में वहनों के सामने प्रवचन दीजिये। भोजन हम वना के दे देते हैं। पानी के लिये भी क्या परहेज करना है। सामान आदि उठाने की क्या जरूरत है। हम आपके साथ भाई रख देते हैं। वह सामान उठा लेगा आदि वातें करके यदि साधु-साध्वियों को इस पवित्र संस्कृति से नीचे गिराने का प्रयास किया गया तो यह प्रभु महावीर की एवं जिनशासन की वहुत वड़ी कुप्रभावना होगी। वहुत वड़ा जघन्य अपराध होगा। आप लोग यदि जिनशासन की प्रभावना नहीं कर सकते तो कम से कम ऐसी कुप्रभावना से तो परहेज रखिये। संत जव अपनी मर्यादा में रहकर वीतराग के प्रवचन से जनता को प्रतिवोधित करें, तो कभी भी जैनी स्वयं श्रद्धा से विचलित नहीं हो सकते हैं। यही नहीं अन्य भी कई जैनेतर जैनी वन सकते हैं। एक वार का प्रसंग है। देशनोक के भूराजी जव रायपुर चातुर्मास में दर्शनार्थ आ रहे थे। रास्ते में जव रेल में वैठे हुए थे उसी ट्रेन में अन्य-अन्य प्रान्तों के वड़े-वड़े राजकर्मचारी भी वैठे हुए थे। उन्होंने पूछा कि तुम कहां जा रहे हो? उन्होंने कहा कि मैं अपने गुरु के दर्शनार्थ जा रहा हूँ। उन्होंने जिज्ञासा की कि तुम्हारे गुरु का क्या स्वरूप है, वे कैसे रहते हैं, क्या पहनते हैं, क्या खाते हैं? जव उन्होंने अपने गुरु की संयमी मर्यादाओं का परिचय दिया तो उन्होंने आश्चर्य करते हुए पूछा—क्या ऐसी स्थिति में भी तुम्हारे गुरु जीवित हैं? तव उन्होंने कहा कि जीवित हैं तभी तो मैं दर्शन करने के लिए जा रहा हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि संयमनिष्ठ साधु जीवन, अतीव महत्त्वपूर्ण जीवन है। अतः उसे मर्यादाओं में सुरक्षित रखा जाये, कारण कि मर्यादाओं को सुरक्षित रखकर ही प्रवचन प्रभावना सम्यक् रूपेण हो सकती है। आपने कपिल केवली का नाम सुना होगा। श्रावस्ती नगरी के जंगल में ५०० चोर थे। उनको प्रतिवोध देने के लिये वे कपिल केवली वहाँ पहुँचे। पर चोर क्या जानें कि ये केवली हैं। केवली ही केवली को जान सकता है। गौतम स्वामी को प्रभु महावीर ने कहा कि हे गौतम! तुम्हें जिन नहीं दिखते हैं। क्योंकि छद्मस्थ जिन को नहीं देख सकता है। सिर्फ अनुमान से जान सकता है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन में वताया गया है।

"न हु जिणे अज्ज दीसइ, वहुमए दीसई मग्गदीसए।"

चोर केवली प्रभु को नहीं समझ पाये और उन्हें दण्डित करने ल यातनाएँ पहुँचाने लगे। तव चोरों का सरदार जो अनुभवी था वह उनके ते प्रशान्त मुखमण्डल की दिव्य आभा को देखकर क — मारो, ये महान् विभूति हैं। इनसे कुछ सुनो। तव सूत्र का आठवाँ अध्ययन सुनाया। उस अध्यय

में श्रवण कर ५०० ही चोर प्रतिबोधित हो गए। यह है प्रवचन की प्रभावना।

प्रभावना करने के अन्य भी कई तरीके हैं। जैसे तपस्या भी प्रवचन प्रभावना का अंग है। पर यह विचारना कि तपस्या में हमारी कोई इहलोक-परलोक और काम भोग आदि के हेतु भौतिक ऐश्वर्य की कामना तो नहीं बनी हुई है। जो तपस्या सिर्फ आत्म-शुद्धि हेतु प्रशस्त कर्म-निर्जरा का ख्याल करके की जाती है, उसी तपस्या से प्रवचन की सम्यक् रूपेण प्रभावना हो सकती है। जो तपस्वी का गुणानुवाद करता है। वह भी प्रवचन की प्रभावना करता है।

वीतराग वाणी का अद्भुत ही प्रभाव है कि तपोवन में आत्मार्थी आत्माएँ निरन्तर आगे बढ़ती हैं। तप का कोई कम महत्त्व नहीं है। आत्म-शुद्धि के साथ-साथ स्वास्थ्य लाभ में भी तप अतीव महत्त्व रखता है। प्राकृतिक चिकित्सा वाले गर्म पानी के आधार से ४०-४० दिन के उपवास कराते हैं। सुना है एक व्यक्ति जिसका सारा शरीर इंजेक्शनों से बींध गया था, उसकी जब प्राकृतिक चिकित्सा की गई, गर्म पानी के आधार पर उपवास कराये गये तब तेरहवें दिन ही उसके शरीर का विकार मल द्वार से बाहर निकल गया और ४०वें दिन वह एकदम स्वस्थ हो गया। यह है तप का प्रभाव जो कि जैन धर्म में जैन आगमों में विविध भाँति से दर्शाया है।

संथारा यह भी एक प्रवचन-प्रभावना का विषय है। उनका गुणानुवाद भी प्रवचन की प्रभावना का विषय है। अभी-अभी आपने सुना कि भीनासर में सरल स्वभाविनी महासती श्री वल्लभ कंवर जी के संथारे का ६७वाँ दिन चल रहा है। जीवन-मरण के क्षेत्र में, दृढ़ता एवं साहस के साथ आगे बढ़ना कोई मामूली बात नहीं है। महासती जी ने आत्म बल का सराहनीय परिचय दिया है। बहुत वर्ष पहले इसी सम्प्रदाय में स्वर्गीय महासती श्री सरदार कँवरजी म० सा० के ६२ दिन का संथारा आया था। उसके पहले और अब तक ६७ दिन का संथारा सुनने को नहींवत् मिला। फिर महासती ने २-३ दिन से तो चौविहार का भी प्रत्याख्यान कर लिया है। अर्थात् पानी भी छोड़ दिया है। यह दृढ़ता भी एक तरह से शासन की अपूर्व प्रभावना है।

शास्त्र के गूढ़ रहस्य को प्रकट करने से भी प्रवचन की प्रभावना होती है। शास्त्रीय मर्यादानुसार व्याख्यान देना यह भी महान् निर्जरा का काम है। प्रवचन प्रभावना है।

निष्कर्ष यह है कि हम इस प्रकार प्रवचन प्रभावना के विविध आयामों का सम्यक् रूपेण ज्ञान करें और यथाशक्ति उन आयामों को जीवन में स्थान देकर प्रवचन की प्रभावना करें। विशाल, व्यापक जैन धर्म की उन्नति करें। जैन धर्म के गुणों को दिपावें। ज्यादा कुछ नहीं बन सके तो धर्म-दलाली करें। कृष्ण वासुदेव व श्रेणिक राजा की तरह। सम्यक्त्व के आठों आचारों का दिव्य मंगलमय जो स्वरूप है उसे समझ कर जो भी भव्य मुमुक्षु आत्मा अपनी सम्यक्त्व की भूमिका को उत्तरोत्तर निर्मल बनायेगी, उसका कल्याण सुनिश्चित रूप से होगा। इन्हीं मंगलमय भावों के साथ।

मोटा उपाश्रय   २२-७-८५
घाटकोपर, बम्बई   सोमवार

• □ •

२३ आराधना और प्रभावना

परम पिता परमात्मा, परम स्वरूप को संप्राप्त, वीतराग देव ने भव्यात्माओं के लिये जो उपदेश दिया, उस उपदेश में समत्व रूप आत्म हित की बात बतलाई है।

भगवती सूत्र के शतक आठवें में आराधना का प्रकरण आया है। महाप्रभु से गौतम स्वामी ने पूछा कि—

> कतिविहाणं भंते। आराहणा पण्णत्ता? गोयम्मा।
> तिविहा आराहणा पण्णत्ता तंजहा-नाणाराहणा,
> दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा।

भगवन्! आराधना कितने प्रकार की कही गई है? तब महाप्रभु ने फरमाया—गौतम! भगवती सूत्र $\frac{८}{१०}$ में आराधना तीन प्रकार की कही गई है। ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना।

"आराध्यते इति आराधना" सामान्य रूप से आराधना का तात्पर्य है, किसी की उपासना करना। अर्थात् उसी के साथ मनसा, वाचा, कर्मणा संयुक्त हो जाना आराधना है। जीवन में जो सौम्य भावनायें बनती हैं उन्हें ही आचरण की भूमिका पर जब उतारा जाता है, तब वे ही भावनायें उस जीवन की महत्त्वपूर्ण आराधना बन जाती हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना को एकरूप कर उन्हें आराधना शब्द से संबोधित किया है।

आराधना करने वाली आत्मा है। उसके असंख्य प्रदेश हैं। जिसके संकोच-विस्तार को समझना भी आवश्यक है। शरीर में जब तक आत्मा है, तब तक वह शरीर सार रूप है। हाथी के शरीर में जो आत्मा है, वही आत्मा ऐसे कर्म बांध लेती है जिससे वह हाथी का शरीर छोड़कर गाय के शरीर में समाहित हो जाती है। हाथी के स्थूल-शरीर में जो असंख्यात आत्मप्रदेश थे, वे सभी हाथी की अपेक्षा छोटे गाय के शरीर में समाहित हो जाते हैं। और गाय यदि अशुभ कर्म करे तो वह चींटी के रूप में उत्पन्न होकर अपने असंख्यात आत्म-प्रदेश को उस चींटी के शरीर में समाहित कर लेती है। यही नहीं चींटी का जीव मरकर यदि जमीकंद में, निगोद में चला जाता है तो उसमें अपने

शरीर को अति संक्षिप्त रूप में सर्वात्म-प्रदेशों को संकुचित कर लेता है। और ऐसे निगोद में जाकर अनन्त काल तक भी जन्म-मरण कर सकता है। जमीकंद में जीवों की बहुलता बतलाने की एक प्रणाली बतलाई है कि सुई के अग्र भाग पर जमीकंद का जितना अंश आवे, उसमें असंख्यात प्रतर हैं, उन असंख्यात प्रतरों में से प्रत्येक में असंख्यात-असंख्यात श्रेणियां हैं, लाइने हैं। उन असंख्यात श्रेणियों में से प्रत्येक में असंख्यात-असंख्यात गोले हैं। उन गोलों में से प्रत्येक में असंख्यात-असंख्यात श र हैं, और उन शरीर में से प्रत्येक में अनन्त-अनन्त जीव हैं। और उन जीवों के प्रत्येक के तीन-तीन शरीर हैं।

देखिये जो आत्म-प्रदेश हाथी के शरीर में व्याप्त थे, वे ही किस प्रकार निगोद आदि के ोर में संकुचित हो जाते हैं। यह संकोच-विस्तार आत्म-प्रदेशों में चलता रहता है। तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्ययन में आया है कि—

प्रदेश-संहार-विसर्गाभ्यां प्रदीपवत्"

आत्म प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की तरह कर्मों के आवरण से संकोच विस्तार होता रहता है। अर्थात् जैसे १००० पॉवर का बल्ब हॉल में लगा हुआ है, पर उस प एक मिट्टी का बर्तन रख दिया जाय तो जो प्रकाश सारे हॉल में फैल रहा था, वह संकुचित होकर मिट्टी के बर्तन की परिधि तक ही प्रकाश करेगा। यही स्वरूप आत्मा का है। वह जिस—शरीर को प्राप्त करती है। उसी शरीर के अनुरूप अपने असंख्यात आत्म प्रदेशों का अवगाहन कर लेती है।

यह विषय विस्तार की अपेक्षा रखता है, अतः फिलहाल तो संकेत ही कर रहा हूँ। शुभाशुभ कर्म करने में आत्मा स्वतंत्र हैं, पर कर्म करने के बाद जब अशुभकर्म का उपभोग होता है तब वही दुःखी हो जाती है। दुःख को प्राप्त होती हुई अगर वह सम्यक् ज्ञान की अवस्था को प्राप्त नहीं है तो और अधिक अशुभ कर्मों का बंध कर लेती है। जैसे मदिरा पीने वाले किसी भाई को मदिरा से होने वाली वेभान अवस्था का ज्ञान कराया जाय तो वह उस समय तो कह देगा कि हाँ अब मैं मदिरा नहीं पीऊँगा। परन्तु वृत्ति जो चिर-काल से उसकी मदिरा पीने की बन चुकी है, उसमें वह कुछ समय बाद पुनः मदिरा पीना चालू कर देगा। उसी प्रकार मानव का भी यही हाल हो रहा है। अनादिकालीन बुरी प्रवृत्तियों में अभ्यस्त बनी आत्मा उपदेश श्रवण कर थोड़ी देर तो उन प्रवृत्तियों से विरक्त हो जाती है, पर पुनः वे ही प्रवृत्तियाँ चिर-अभ्यास होने से वापस जीवन में चालू हो जाती हैं। जब तक अशुभकर्मों का जबरदस्त उदय रहता है तब तक उस आत्मा को कितना ही उपदेश दिया जाय तो भी वह उपदेश उसके आचरण का विषय नहीं बन सकता। पंचेन्द्रिय अवस्था में रहकर वह यदि क्रूर कर्म करे तो नारकी में भी जा सकती है

बन कर व्याख्यान श्रवण कर लेना, ज्ञान हासिल कर लेना और बात है तथा उस ज्ञान को आचरण की भूमि पर उतारना, ज्ञान की आराधना करना और बात है। कर्मों की वृत्तियाँ वैभाविक हैं। उन्हें आत्मा से अपुनर्भाव से अलग किया जा सकता है। आवश्यकता है प्रकृष्ट सत्पुरुषार्थ की।

भगवती सूत्र में जो तीन आराधना बताई गई हैं, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के रूप में हैं। सम्यक्त्व के आठ आचार जो आपने श्रवण किये हैं, उसमें अंतिम आचार है, प्रभावना। प्रभावना प्रवचन की भी होती है। प्रभावना तप कीभी होती है। प्रभावना आचरण की भी होती है। जो मनुष्य अपना सुन्दर आचरण रखता है। उसकी प्रतिष्ठा ऐसी जम जाती है कि जिससे वर्तमान में किसी प्रकार की कोई कष्ट की स्थिति जीवन में नहीं आ सकती भले ही प्रारम्भिक अवस्था में उसे कष्टों से संघर्ष भी करना पड़, पर अपनी सत्यनिष्ठा पर जो दृढ़ रहता है वह कष्ट से अपने अशुभ कर्मों को निर्जरित कर समुज्ज्वल भविष्य के कगार पर आकर खड़ा हो जाता हैं, उससे स्वयं का जीवन तो सौम्य बनता ही है, अन्यों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। धर्म प्रभावना का, वह व्यक्ति एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है।

एक समय का प्रसंग है—ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी म० सा०, जब प्रतापगढ़ में विराजमान् थे। तब पूज्य गुरुदेव ने फरमाया कि जो मनुष्य सत्यनिष्ठा रखते हैं उनके प्रति सभी विश्वास रखते हैं। उनकी प्रतिष्ठा का प्रसंग बनता है, कि उन्हें कभी आर्थिक आदि संकटों का भी मुकाबला नहीं करना पड़ता। यह बात श्रवण कर एक सेठ साहब जो बड़े भव्यात्मा एवं हलुकर्मी थे उन्होंने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा ले ली और व्यापार की स्थिति से उनके जो कपड़े की दुकान थी, वे उस दुकान में बड़ी सत्यनिष्ठा के साथ अपना व्यापार चलाने लगे। अपने ग्राहकों को कहने लगे कि इस कपड़े की कीमत १ रुपये है, और १ आना मैं मुनाफा का लेता हूँ। तब ग्राहक की आदत होती है कीमत कम कराने की तो वहाँ अब गुंजाइश ही नहीं रही। अतः वे अपनी बताई हुई कीमत पर ही अटल रहते। ऐसा करने से १ साल तक उनका व्यापार एकदम बन्द सा रहा, पर वे अपनी सत्यनिष्ठा से विचलित नहीं हुए। उनकी सत्यनिष्ठा पर ग्राहकों पर स्वतः ही ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे ग्राहक जो दूसरी दुकानों पर उन्हीं कपड़ों की बढ़ी चढ़ी क़ीमत श्रवणकर विचार करने लगे, कि इससे तो उस सेठ की दुकान पर कम कीमत में ये ही कपड़े मिल रहे हैं। सभी ग्राहक पुनः उनकी दुकान पर आने लगे और खरीद-दारी शुरू करने लगे। ग्राहक पूछने लगे कि तुम अपनी एक कीमत पर कैसे स्थिर हो, बाजार में तो बहुत भाव बढ़ गया है। तब सेठ ने कहा—कि मैंने जितने रुपये में यह कपड़ा खरीदा है, तदनुसार १ रुपये पर १ आना मुनाफा के हिसाब से ही बेचूंगा, अतः मेरे यहाँ कीमत में उतार-चढ़ाव नहीं है। मैंने सत्य बोलने

की प्रतिज्ञा की है, उस पर दृढ़ हूँ, यह श्रवण कर सभी ग्राहक इतने प्रमुदित हुए कि सभी कपड़ा वहीं से लेने लगे। अपने सम्बन्धी दूसरे लोगों को भी कहने लगे कि अमुक सेठ सा० की दुकान प्रमाणित है, तब और भी लोग वहीं पर ही पहुँचने लगे। बाजार की अन्य सभी कपड़े की दुकानों में व्यापार ठंडा पड़ गया, और उसकी दुकान पर ग्राहकों की संख्या इतनी अधिक बढ़ती गई कि उसका व्यापार बहुत सुन्दर रीति से चलने लगा। यही नहीं, सभी ग्राहक लोग उसकी सत्यनिष्ठा से प्रभावित होकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। अहो जैन धर्म के अनुगामी सेठ सा० का जीवन कितना सत्यनिष्ठ है। इस प्रकार जैन जैनेतर सभी में उसके सौम्य सत्यनिष्ठ आचरण से जैन धर्म की बहुत अधिक प्रभावना हुई। आज बहुत से लोग पतासा, शक्कर इत्यादि बांटकर प्रभावना करने की भावना रखते हैं, पर विचार करिये कि उस प्रभावना का उतना मूल्य नहीं है, जितना कि यदि वे ज्ञान की प्रभावना करें, दर्शन की प्रभावना करें।

जैन धर्म की प्रभावना करने वाले बहुत से ऐसे सुज्ञ लोग हैं, जो दहेज में भी अन्य-अन्य भौतिक पदार्थ न देकर शास्त्र, प्रवचन की पुस्तकें आदि साहित्य देते हैं और धर्म की प्रभावना करते हैं। दान, शील, तप, ब्रह्मचर्य, भद्रिक स्वभाव, मधुर भाषीता बनने से भी स्वयं आत्मा की शुद्धि के साथ जैन धर्म की भी प्रभावना होती है। क्योंकि आत्मीय गुणों के प्रकाशन से उसका प्रभाव सार्धमियों पर पड़ता है। पर खेद होता है कि आज दिखावा इतना आ चुका है, कि प्रशंसा के भूखे प्रभावना तो बांटते हैं, पर जहाँ कोई साधर्मी की सहायता का प्रसंग सामने आता है तो बहुत विरले ही उसमें सहयोग प्रदान करते हैं। आज के धनाढ्य व्यक्ति शादी विवाह आदि प्रसंगों पर हजारों रुपयों के उपहार दे देंगे। इन संसारी चीजों से मोह ही बढ़ता है, जो दूसरों को भी कर्मों का बन्ध करवाते हैं। किन्तु जो सत्साहित्य कर्म निर्जरा का, आत्म-शुद्धि और पुण्यार्जन का हेतु है, उससे धर्म की प्रभावना नहींवत् करेंगे।

भव्यात्माओ ! आप महाप्रभु महावीर के उपासक हैं, तो जरा उनके द्वारा प्ररूपित धर्म की प्रभावना करना सीखिये, केवल वाह-वाही, यशलिप्सा एवं सांसारिक प्रपंचों में ही रह गए तो आत्म-शुद्धि होने वाली नहीं है। बिना आत्म-शुद्धि के परमात्मा रूप प्रगट नहीं हो सकता। अतः प्रभावना की विविध विधाओं पर ध्यान रखते हुए, यथाशक्ति आचरण की परिधि में उन्हें उतारेंगे तो आपका जीवन धन्य बनेगा। इसी भावना के साथ—

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२३-७-८५
मंगलवार

२४ स्नात करें आत्मा को ज्ञानालोक से

इस काल चक्र में चौवीस तीर्थंकर भगवन्तों ने इस भू-धरातल को पावन किया था। तीर्थंकर केवल-ज्ञान-दर्शन से युक्त होने के बाद समान शक्ति के धारक हो जाते हैं, फिर उनमें कोई अन्तर नहीं रहता, शक्ति में कोई न्यूनता नहीं होती। उनमें एक समान ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द एवं सुख शक्तियाँ होती हैं। तीर्थंकर देव के वाणी रस को अलग-अलग तरीके से कवि अपनी कविता के माध्यम से अनुगुंजित करते हैं।

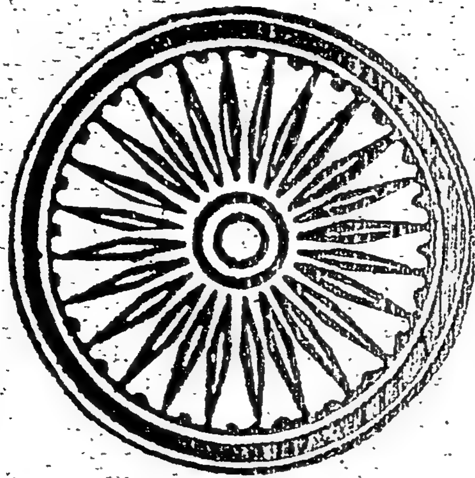
यह तो वतला दिया गया है कि आत्म-प्रदेशों में संकोच और विस्तार होता है, दीपक के प्रकाश के समान। जव जीव चरम शरीरी बनता है, जिस शरीर से उसे मोक्ष जाना होता है उस शरीर में मरण अवस्था में दो तिहाई भाग में आत्म-प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं, जो कि सारे शरीर में फैले रहते थे। शैलेशीकरण में आत्म प्रदेश शरीर के प्रत्येक हिस्से से निकल कर पोलार भाग में इकट्ठे होने के बाद शैलेशीकरण की अवस्था में आ जाते हैं। शैलपर्वत को कहते हैं, जो कभी डिगता नहीं, विचलित, कम्पित नहीं होता, मानलो कदाचित् पर्वत तूफान से प्रकम्पित हो भी जाय, क्योंकि तीर्थंकर महावीर के जन्म के समय उत्सव मनाने के लिये उनको मेरु पर्वत पर ले गये थे। इन्द्र, भगवान् की छोटी काया देखकर चिन्तित हो गये थे, कि इतना अभिषेक किस प्रकार सहन करेंगे। पर भगवान् को तो जन्म से ही अवधिज्ञान था, जिससे उन्होंने इन्द्र की शंका को जानकर निवारण के लिये पैर के अंगूठे से पर्वत को हिला दिया, यह जानकर सभी आश्चर्य में डूब गये। प्रसन्नता का पार न रहा, इससे तीर्थंकर की शक्ति का पता चला। इन्द्र की शंका का समाधान हो गया, इतनी शक्ति के धारक तीर्थंकर जब अन्तिम भव में शैलीशीभूत बनें, तब दुनिया में किसी के पास ताकत नहीं है कि उनके आत्म-प्रदेशों को हिला सके, कम्पित कर सके। ऐसी निष्प्रकम्प आत्मा, अन्त में निर्वाण को प्राप्त कर लेती है, जहाँ जाने पर वह उसी रूप में अनन्त काल तक रहती हुई शाश्वत सुख का अनुभव करती रहती है।

शाश्वत सुख की अनुभूति उपलब्धि के लिये सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक् ज्ञानाराधनादि का प्रसंग चल रहा है। यह चिन्तन का विषय है, कि आराधना का अन्तिम फल क्या होगा ? तो सभी यही कहेंगे कि मोक्ष। परन्तु

उससे पहले हमारे आत्म प्रदेशों में, मन में जो चंचलता हैं, मन बाहर की ओर भाग रहा है, आत्म प्रदेश ऊँचे से नीचे-नीचे से ऊपर की ओर भाग रहे हैं, जिस प्रकार कडाई में उवलता हुआ तेल नीचे से ऊपर-ऊपर से नीचे की ओर जाता है, उसी प्रकार मस्तिष्क के आत्म-प्रदेश पैरों की ओर और पैरों के आत्म-प्रदेश मस्तिष्क की ओर चलते रहते हैं।

जिसका कारण है—आठ कर्म और इनके पैदा होने में निमित्त तीन मन, वचन, काया की अप्रशस्त प्रवृत्ति। सबसे पहले जिन कारणों से कर्म बंधते हैं, उन्हें रोको, बाहर से लगता है कि शरीर पाप कर्म कर रहा है, पर यह मालूम है कि वह स्वतः कुछ भी नहीं करता है, उससे करवाया जा रहा है, वह तो आज्ञा का पालक है। विचार करना है कि भावना कहाँ पैदा होती है मन में, मस्तिष्क में? शरीर को तो जैसी आज्ञा होती है, तदनुसार उसमें हलचल हो जाती है। वैसे लोग कहते हैं कि शरीर चल कर आया, पर वास्तव में मन चलकर आया है। शरीर तो मन का वाहन है, आप कहते हैं कि कार आ गई पर क्या वास्तव में कार चलकर आ सकती है। नहीं, कार तो आप चला रहे हैं, आप ड्राइवर हैं, वह तो साधन मात्र है। वैसे ही आत्मा की कार शरीर है एवं ड्राइवर मन है, वही कार को चलाता है। मन भी अकेला कुछ नहीं करता, वह भी आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है, शरीर से कर्म होता है, वह मन कराता है और मन को भी आत्मा कर्म कराती है, यह सांकल जुड़ी हुई है, उसको ठीक करने के लिए जीवन को समझने का प्रसंग है, पर किस प्रकार? सम्यग्ज्ञान से ज्ञान के बाधक तत्त्वों को रोकने का प्रसंग है, मनुष्य अन्दर आने की कोशिश करता है पर दरवाजा वन्द है तो जब तक वह दरवाजा बन्द होने का कारण एवं उसको खोलने का पुरुषार्थ नहीं करेगा, तब तक वह न तो भीतर जा सकेगा न बाहर आ सकेगा, ज्ञान तो प्रकट होने की कोशिश करता है, पर रास्ता बन्द है, क्योंकि दिवार का अवरोध है, पूर्व जन्म के ज्ञानावरणीयादि कर्मों ने आकर ज्ञान को आवृत्त कर दिया है, वे हटें तभी ज्ञान प्रकट हो सकता है। ज्ञान को प्रकट करने के लिये यह जान लें कि इसके बाधक कारण क्या हैं, और उन्हें कैसे दूर किया जाय? सम्यक्ज्ञान के जो आचार हैं, उन्हें जानना आवश्यक है। तभी हम कर्मों के आश्रव को रोककर बद्ध कर्म का आवरण हटा पायेंगे। ज्ञाना-वरणीय कर्म, आयु कर्म बांधना मनुष्य के हाथ की बात है, और वह उसे तोड़ भी सकता है, पर अज्ञान अंधकार में रहकर नहीं।

एक रूपक है कि एक व्यक्ति आँखों से देख सकता है, पर वह कमरे में जाकर द्वार वंद कर दे, और विस्तर पर रजाई ओढ़कर सो जाय और फिर विचार करे कि मैं देखूं तो क्या वह देख सकेगा? चाहे आँखें खुली हो या वंद, आगे रजाई का आवरण है। वहाँ वह देखने की कोशिश भी करे और रजाई को भी ओढे तो कभी भी देख नहीं सकेगा, जब तक रजाई नहीं हटेगी तब तक



सम्यक् ज्ञान

[वैचारिक जीवन जीने की कला]

आठ आचार

- कालाचार
- विनयाचार
- बहुमानाचार
- उपधानाचार
- अनिह्नवाचार
- व्यञ्जनाचार
- अर्थाचार
- तदुभयाचार

२५ कालाचार

(सम्यक् ज्ञान का प्रथम आचार)

तीर्थंकर महापुरुषों का मनुष्य जीवन पर इतना अधिक उपकार है कि उस उपकार का प्रत्युपकार चुकाना वहुत ही कठिन है। उन्होंने प्राणी मात्र पर कितनी परम कृपा दृष्टि वरसाई और सभी प्राणियों की सुरक्षा के लिये उपदेश दिया कि जो जीवन आज जी रहे हैं, वह जीवन शरीर पिंड के साथ संसार अवस्था में रहा हुआ है, सिद्धात्मा में एक भी शरीर नहीं रहता है। वर्तमान में यहाँ पर मनुष्य के औदारिक, तैजस और कार्मण तीन शरीर हैं।

व्यक्ति जो जीवन का निर्वाह कर रहे हैं, वह दो रूप में है, एक शरीर की दृष्टि से और दूसरा आत्मा की दृष्टि से अर्थात् शरीर और आत्मा की सहावस्थान स्थिति से ही यह जीवन चलता है। उसी को जीवन की संज्ञा दी जाती है, दोनों में से एक की भी कमी हो तो उसे जीवन नहीं कहा जा सकता है। शरीर की सुरक्षा के लिये मनुष्य शरीर को भोजन देता है, उसके तीन माध्यम हैं, पानी, अन्न और हवा। यदि ज्ञानी है तो वह इस शरीर को ये तीनों चीजें आध्यात्मिक साधना के लिये देता है। और अज्ञानी है तो वह ये तीनों चीजें सिर्फ इहलौकिक सुख का उपभोग करने की दृष्टि से देता है। यह ज्ञानी और अज्ञानी का छोटा-सा अन्तर है। यदि शरीर को भोजन न दिया जाय तो कितने समय तक शरीर का संयोग रह सकता है। पानी के अभाव में व्यक्ति १४ दिन निकाल सकता है और ऐसा सुना है कि अन्न के बिना तो आज कई लम्बी तपश्चर्या हो ही रही हैं। अन्न खुराक है, पानी उसे पचाने में मददगार है और हवा प्राणों की सुरक्षा में सहायक वनती है। जिस पुरुष को यह विश्वास हो जाता है कि ये तीनों तत्त्व लेने से जीवन सुरक्षित रह सकता है, वही इन तीनों को ग्रहण करता है। जव प्यास और भूख दोनों हैं तो पहले वह पानी ग्रहण करेगा और वाद में अन्न। ठीक वैसे ही शरीर को खुराक देने तक ही आप सीमित न रहें, प्रत्युत जीवन के दो मुख्य अंग हैं, इसका ख्याल रखें।

आत्मा को खुराक देने के लिये आप क्या कुछ सोच रहे हैं? आत्मा की खुराक शरीर की खुराक से भिन्न है। आत्मा का पानी, आत्मा का खाद्य पदार्थ और आत्मा के लिये हवा कुछ और ही प्रकार की है। इसके लिये ही **आपको** वीतराग वाणी श्रवण कराई जा रही है। आत्मा की शक्ति, आत्मा स्वरूप अधिक से अधिक पुष्ट अवस्था को प्राप्त होता जाय, ऐसी पु

खुराक इसको नित्य-प्रतिदिन खिलाई जाय तथा सम्यग्ज्ञान रूपी पानी पिलाया जाय। साधना के साथ यदि आत्मा को सम्यक्ज्ञानरूपी पानी जब तक नहीं मिलेगा तब तक आत्म-साधना में निखार नहीं आ सकता। अतः जैसा श्रद्धान किया, उसके अनुरूप आत्मा को खुराक भी दी जाय। आत्मा को बराबर योग्य खुराक प्राप्त होती रहे, इसका ख्याल रखें।

शास्त्र जो पुस्तकों में अक्षर रूप से समाहित हैं ये मात्र अक्षर ही परिपूर्ण रूप से आगम नहीं हैं। वे तो सिर्फ निमित्त हैं, उन अक्षरों को पढ़कर आगमज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञानादि प्राप्त किया जा सकता है। आत्मा को आध्यात्मिक ज्ञान की खुराक देने के लिये सर्वप्रथम आगमों का अध्ययन करें। जैसे शैलड़ी के टुकड़े के भीतर ही उसका रस रहा हुआ है। ठीक वैसे ही जो यह पुस्तकों में अक्षर रूप श्रुत निहित है उसी में आध्यात्मिक आदि ज्ञान का रस भी भरा हुआ है। अतः अपने ज्ञानाचार का निर्वाह करने हेतु सर्वप्रथम अपने जीवन में स्वाध्याय की सम्यक् प्रणाली अपनायें। जो लिपि आज हमारे सामने अर्ध मागधी भाषा में निबद्ध है, वह सभी के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अर्ध मागधी भाषा को देव भाषा भी कहते हैं। आपको विशिष्ट श्रुतरूप ज्ञानरूपी पानी को पीने के लिये ज्ञानाचार का स्वरूप समझना अतीव आवश्यक है। उसके आठ भेद हैं, उसमें सर्वप्रथम भेद है **कालाचार**—जिस समय स्वाध्याय का काल है, उस समय ही स्वाध्याय करना है और जो काल स्वाध्याय का नहीं है, उस समय स्वाध्याय नहीं करना। आगमों का अध्येता, विज्ञाता स्वाध्याय-अस्वाध्याय के काल का पूरा-पूरा ख्याल रखे। शास्त्र दो तरह के हैं, कालिक और उत्कालिक। कालिक सूत्र को स्वाध्याय दिन के व रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में ही की जाय और सूर्यास्त आदि के संधिकाल को सभी में छोड़ दें।

शास्त्र में वर्णन आता है कि साधु प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करते थे, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में गोचरी और चौथे प्रहर में स्वाध्याय। और यही क्रम रात्रि में भी बताया है, सिर्फ तीसरे प्रहर में गोचरी की जगह निद्रा लेना कहा है। परन्तु यह कार्यक्रम हर समय लागू नहीं हो सकता है। क्योंकि जिस क्षेत्र में गोचरी का जो काल हो, उसी काल में गोचरी करने का भी शास्त्र में विधान है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन की चौथी गाथा में बतलाया है—

"कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे॥"

अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही यह सारी शास्त्रीय विधि लागू होती है। शास्त्रकारों ने दिन के चारों प्रहरों में से विहार करने का किसी भी प्रहर में नहीं बताया, जब कि आगमों में साधु के लिये नव कल्पी विहार का विधान है,

तो वह विहार कब करे ? अतः स्पष्ट है कि विहार के समय स्वाध्यायादि कार्यक्रम गौण करे, इस प्रकार करने से प्रकल्प मर्यादा का भी उल्लंघन नहीं होता, शास्त्र में साधक को संकेत दिया है—

"काले कालं समायरे" यह सूत्र साधक को आह्वान कर रहा है कि हे साधक ! जिस कार्य का जो समय हो, वही कार्य उस समय करना योग्य है। अर्थात् जिस क्षेत्र में गृहस्थी के घर जिस समय भोजन बनता है, उसी समय साधक गोचरी के लिये जा सकता है। कई लोग कहते हैं, कि साधु के लिये तो सिर्फ एक टाइम भोजन करने का शास्त्र में विधान है, पर उनका यह कथन सार्वकालिक नहीं है। शास्त्र में साधु के लिये यदि एक वक्त ही भोजन करने का विधान होता, तो भगवती सूत्र में ऐसा उल्लेख क्यों आता कि "साधु पहले प्रहर का आहार-पानी चौथे प्रहर में नहीं भोगें। इससे यह स्पष्ट होता है कि जैसी-जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से शास्त्रीय मर्यादानुसार अनुकूलता होवे, उसी प्रकार साधु अपना आहारादि कार्य करता हुआ, स्वाध्याय के काल का ध्यान रख कर स्वाध्याय करे। क्योंकि अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करने पर उस समय यदि आकाश मार्ग से देवों का गमनागमन हो रहा हो तो जो स्वाध्याय प्रेमी सम्यग्दृष्टि देव होते हैं। वे कष्ट तो नहीं देते हैं किन्तु किसी न किसी रूप में अस्वाध्याय का संकेत करा देते हैं। पर जो मिथ्यादृष्टि देव होते हैं वे अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने वाले पर उपद्रव भी कर सकते हैं।

अतः ज्ञानाचार के पहले आचार कालाचार का बोध प्राप्त कर विवेक रखना आवश्यक है।

एक महात्मा, संध्या के समय प्रतिक्रमण करने बाद आकाश की प्रतिलेखना करके स्वाध्याय करने के लिये बैठे, पर वे स्वाध्याय करते हुए इतने आत्मविभोर बन गए कि शब्द-उच्चारण रूप स्वाध्याय का काल परिपूर्ण हो गया, उसका यह ध्यान ही नहीं रहा अतः अकाल में भी स्वाध्याय करते रहे, उस समय एक सम्यग्दृष्टि देव जो आकाश मार्ग से जा रहा था। उसका उपयोग उस तरफ लगा और विचार किया कि यह साधु प्रशस्त भावों से स्वाध्याय तो कर रहे हैं, पर अस्वाध्याय काल आगया है, इनका इन्हें ध्यान नहीं है, कहीं मिथ्यादृष्टि देव इन पर प्रकुपित होकर कष्ट न दे, इससे पूर्व इन्हें संकेत कर देना चाहिये। यह सोचकर वह देव उन्हें प्रतिबोध देने हेतु अहीर का रूप बनाकर दही बेचने की दृष्टि से जोर-जोर से उस साधक के उपाश्रय के नीचे गुजरते हुए आवाज लगाने लगा कि दधि लो दधि लो इत्यादि। ये शब्द श्रवण कर वे साधक बीच में स्वाध्याय रोककर उस अहीर को कहने लगे-अरे अभी तो सभी लोग सोये हुए हैं, तुम्हारा दही कौन खरीदेगा ? इतने जोर-जोर से क्यों बोल रहे हो, क्या यह कोई अभी दही बेचने का समय है ? तब देव ने प्रत्युत्तर में कहा कि महाराज ! यह ठीक है कि अभी दही बेचने का समय तो नहीं है पर मैं **आपको**

पूछता हूँ कि क्या अभी स्वाध्याय करने का समय है ? यह बात सुनते ही वह साधु एकदम चौंका और समय का ख्याल किया, तब उसे पता चला कि "अहो मैं अस्वाध्याय काल में भी स्वाध्याय कर रहा हूँ। मैंने कितनी बड़ी ग़लती कर दी।" बड़ी सरलता पूर्वक वे साधक अपनी ग़लती को स्वीकार करते हैं, और उस देव का बड़े नम्र शब्दों से आभार मानते हैं।

बन्धुओ ! जो सरल होता है, और सरलतापूर्वक अपनी ग़लती स्वीकार कर लेता है, वही अपनी आध्यात्मिक स्थिति कोसुरक्षित रख सकता है। शास्त्र में उल्लेख आया है कि एक चक्रवर्ती महाराज छः खंड का राज्य छोड़कर मुनि बन जाय और यदि उनसे कुछ ग़लती हो जाय, तब उसकी अदना दासी भी यदि उन्हें प्रतिबोध देवे तो भी उनका कर्तव्य होता है कि वे अहं न करके उस दासी का उपकार मानते हुए सरलतापूर्वक अपनी ग़लती को ग़लती के रूप में स्वीकार कर प्रायश्चित, आलोचना, पश्चाताप कर ले।

बन्धुओ ! ज्ञान की प्यास शांत हो सके इसके लिए ज्ञान की वास्तविक स्थिति जीवन में लाने के लिए कालाचार आदि ज्ञान के सभी आचारों का स्वरूप समझना है। कालाचार का स्वरूप सम्यक्तया समझकर शास्त्र में जिस समय जिस आगम की स्वाध्याय करने का विधान आया है, उस समय अस्वाध्याय के सारे बोलों का ख्याल रखते हुए चिन्तन मनन पूर्वक स्वाध्याय करें तो जरूर आप आध्यात्मिक ज्ञान की खुराक आत्मा को बराबर देते हुए, आत्मिक शक्तियों को पुष्ट बना सकेंगे। इन्हीं मंगलमय शुभ भावों के साथ—

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२५-७-८५
गुरुवार



२६ ज्ञान हो पर अनुभूति के साथ

वीतराग देव की पवित्र वाणी का रसास्वादन भव्य मुमुक्षुजन प्रतिदिन कर रहे हैं, यह वाणी ही ऐसी है कि इस वाणो को यदि जीवन में उतारने का प्रसंग आ जाय तो आत्मा की जितनी भी दुःखमय अवस्थाएँ हैं, वे सभी समाप्त हो सकती हैं।

प्रत्येक संसारी आत्मा दुःख की अनुभूतियाँ कर रही है, पर सबसे अधिक दुःख मृत्यु के समय में होता है, मृत्यु कोई नहीं चाहता, मृत्यु का नाम सुनते ही कंपकंपी छूट जाती है। जन्म लेते समय भी दुःख होता है, पर वह अवस्था अबोध होने से, उस समय दुःख की विशेष अनुभूति नहीं हो पाती है, पर मृत्यु का नाम श्रवण करते ही जो दुःखद अनुभूति होती है, वह जन्म के समय होने वाले दुःख से बहुत अधिक है। जन्म और मृत्यु ये दोनों ही अवस्थाएँ आत्मा को, किस कारण से होती हैं, इस विषय में शास्त्रकार कहते हैं, कि यदि तुम्हें जन्म लेने की इच्छा न हो, सदा-सदा के लिए आनन्दमय स्थिति को प्राप्त करना हो तो अन्य को जन्म मत दो, जो दूसरों को जन्म देता है, वह स्वयं जन्म ग्रहण करता है, तथा जो अन्यों को मारता है (आसक्ति पूर्वक) कषाय पूर्वक तो वह अत्यधिक जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है।

आचाराङ्ग सूत्र में कहा है कि जो मनुष्य पृथ्वीकायादि षट्काय के जीवों को मारता है, उनका हनन करता है, वह अपनी जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाता है। मनुष्य पृथ्वीकाय के जीवों का हनन कैसे करता है, जैसे कि उदाहरण के तौर पर समझ लो, कोई मनुष्य अपने मकान की नींव खुदवा रहा है, तो वहाँ असंख्य पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा का प्रसंग बनता है, यदि कोई कहे कि यह कार्य तो मजदूर करता है। अतः सारा पाप उसे लगेगा, पर उसका यह मानना ग़लत है कारण कि वह मजदूर तो लाचारीवश कर रहा है, अतः उसको कम पाप लगता है पर जो करा रहा है, आदेश दे रहा है, उसे विशेष पाप लगता है। जैसे—सेठ मुनीम से वहीखाता का काम कराता है, पर यदि कभी ग़लती पकड़ली जाती है तो सारा दण्ड मुनीम भोगता है या सेठ? ~ सेठ। इसी प्रकार नींव आप मजदूर से खुदवा रहे हैं, पर पाप सिर्फ ही नहीं लग रहा है, मजदूर से विशेष पाप आपको लग रहा है। ५ है, कि आज के युग में जो पंच महाव्रत-धारी साधु कहलाते हैं,

रक्षक माने जाते हैं, उनमें भी कई छः काया के जीवों की हिंसा में भाग ले रहे हैं, कई प्रसंग ऐसे सुनने में आ रहे हैं, कि साधु स्वयं नींव खोदना आदि-आदि कार्य में सक्रिय सहयोग प्रदान करते हैं। भले वो स्थानक बनाने का कार्य हो या फिर सार्वजनिक धर्मशाला, हॉस्पिटल, स्कूल आदि किसी भी मकान का किसी भी नाम से निर्माण कार्य हो। सभी में हिंसा तो होती ही है। जिसका साधु के लिये सर्वथा त्याग होता है, वह तो अपनी सीमा में रहकर दान, शील, तप, भावना का उपदेश दे सकता है, बाकी आरम्भ-जनक कार्यों में सहभागी बनना उसके लिए कतई अभीष्ट नहीं है।

बन्धुओ! व्याख्यान के प्रसंग से भी स्वाध्याय का प्रसंग उपस्थित होता है, ज्ञानीजन कहते हैं कि हिंसा करने वाले प्राणी भी स्वाध्याय में संलग्न बन पश्चाताप की स्थिति से अपनी असंख्य जन्म-मरण की शृंखला तोड़ सकते हैं। श्रावक सोचे कि मेरा भी वह दिन धन्य होगा, जब मैं भी समस्त सांसारिक प्रपंच छोड़कर अणगार प्रवृत्ति को अंगीकार करूँगा। ऐसी भावना भाते हुए भी वे अपने कर्मों की निर्जरा कर सकते हैं। शास्त्रों की स्वाध्याय करने से अत्यधिक लाभ की उपलब्धि हो सकती है। जब भगवान् से पूछा गया कि स्वाध्याय करने से क्या लाभ है? तब प्रभु ने फरमाया कि स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होती है। उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में बतलाया है—

"सज्झाएणं भंते। जीवे किं जणयइ?
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।।"

स्वाध्याय भी दो प्रकार की है—एक तो शास्त्रीय स्वाध्याय, पुस्तक के माध्यम से की जाने वाली। दूसरी है "स्वस्मिन् अध्याय इति स्वाध्याय:" अर्थात् अपना चिन्तन करने वाली स्वाध्याय। आप शास्त्रों की स्वाध्याय करते हैं, इससे भी निर्जरा होती है। पर स्वाध्याय के बाद ध्यान यदि आप करते हैं तो वह ध्यानरूपी स्वाध्याय, अक्षरीय स्वाध्याय का रस लेने का एक अत्युत्तम साधन बनती है। यह एक प्रकार की अनुप्रेक्षा है, अनुप्रेक्षा का तात्पर्य गहराई से अर्थ का एवं स्वयं का चिन्तन मनन करना, इससे स्वयं के जीवन की स्वाध्याय होती है। स्व के अध्याय का प्रसंग उपस्थित होता है। यह स्वाध्याय का दूसरा प्रकार है।

आप आधा घंटा पुस्तक से स्वाध्याय करें तो आधा घंटा ध्यान रूपी स्वाध्याय अवश्य करें। पुस्तकीय स्वाध्याय भी आवश्यक है, पर उसका रस लेने के लिए आत्मरमण की स्थिति से ध्यान करना अतीव उपयोगी होगा। ध्यान रूपी स्वाध्याय में स्व का अध्याय करते समय यह चिंतन करें कि हम बहुत लम्बे समय से अशुद्ध विभाव के साथ रमण कर रहे हैं, पर अब सम्यक्त्व के

साथ स्वभाव से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। आत्म शक्तियों को निरन्तर वृद्धिगत करते हुए चेतन के भेद विज्ञान से आत्मान्मुखी बनें। स्वयं के जीवन का समीक्षण करें कि मेरा जीवन किस ढंग से चल रहा है, मैं जन्म-मरण की शृंखला बढ़ा रहा हूँ या कम कर रहा हूँ ? यदि पारिवारिक आसक्ति एवं धन वैभव की तृष्णा में ही जिन्दगी व्यतीत कर दूँगा, तो अवश्य ही मेरी भव-शृंखला बढ़ जाएगी। अतः इसे तोड़ने के लिए स्वाध्याय, स्व का चिन्तन करना आवश्यक है।

आज व्यक्ति अक्षरीय ज्ञान प्राप्त कर बड़ी डिग्रियाँ तो प्राप्त कर रहा है, पर स्व के ज्ञान के अभाव में कितनी हास्यास्पद स्थिति जीवन में बन जाती है, इसे आप कथानक के माध्यम से समझें।

प्राचीन काल में काशी के विश्वविद्यालय में बहुत से विद्यार्थी पढ़ते थे। एक गाँव का विद्यार्थी भी वहाँ पढ़ने आया, वह वहाँ का सारा अध्ययन बड़ी लगन पूर्वक करके उत्तीर्ण हो गया, तत्पश्चात् उसने अपने माता-पिता को समाचार प्रेषित किये कि "मेरा विद्याध्ययन पूर्ण हो गया है, मैं आ रहा हूँ, मुझे लेने के लिए आप जल्दी ही आना।" सारे गाँव वालों को यह सूचना जब मिली कि अमुक का लड़का विद्वान् बन पंडित की पदवी को पाकर काशी से आ रहा है तो सभी गाँव वाले उत्सुकता पूर्वक उसके स्वागत की तैयारी करने लगे। इधर वे पंडितजी अपने गाँव के बाहर पहुँचकर, गाँव वाले लोग, जो स्वागत करने के लिए आने वाले हैं, उनकी प्रतीक्षा करने हेतु एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। तभी चार बहिनें जो पनघट पर पानी भरने के लिए आईं, वे परस्पर बातें करने लगीं—उन्हीं पंडितजी के विषय में, जो काशी से पढ़कर आये हैं, और वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं। वे अनुभवी बहिनें परस्पर कहने लगीं कि ये पंडितजी काशी से पढ़कर भले ही आये हैं, पर लगता ऐसा है कि सिर्फ इन्होंने अक्षरीय ज्ञान ही प्राप्त किया है। कहावत के अनुसार इन्होंने पढ़ा है, पर गुना नहीं है।

अपनी इस अनुभूति को साक्षात्कार करने हेतु वे बहिनें उनके पास पहुँचीं और इधर-उधर की बातें करती हुई बोलीं—पंडितजी ! आप तो पढ़ लिख करके आ गये, पर क्या कहूँ....? पंडितजी ने पूछा—क्यों क्या बात हुई ? कहो-कहो जल्दी कहो। तब वे बहिनें कहने लगीं—पंडित साहब क्या कहूँ। कहने की हिम्मत नहीं हो रही है। पंडितजी बोले अरे बहिनो। आप संकोच क्यों कर रही हो ? जो कुछ भी है, साफ-साफ कह दो, मैं जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ। तब वे बहिनें बोलीं—पंडित साहब आप तो....काशी पढ़ने के लिए गये थे, प पीछे से आपकी पंडितानीजी....आपकी पंडितानीजी....। पुनः कहती-कहती गईं तो पंडितजी झुंझलाते हुए कहने लगे—अरे तुम चुप क्यों हो गईं, ना पंडितानीजी को क्या हुआ ? पंडितजी आपकी पंडितानीजी अर्थात् आ

धर्मपत्नी विधवा हो गई, ज्यों ही यह बात पंडितजी ने सुनी तो वे बड़े दुःखी दिल होकर फूट-फूट कर रोने लगे, उनको रोते देख उन बहिनों को बड़ी जोर से हँसी आने लगी, पर बड़ी मुश्किल से हँसी रोककर पंडितजी को ढांढस बंधाने लगी, कहने लगी कि पंडित सा ! अब रोने से क्या होने वाला है, जो होना था सो हो गया । आप चुप रहिये और चलिये घर की तरफ पर पंडितजी के अश्रुओं का निर्झर बंद नहीं हुआ और इधर परिवार वाले तथा गांव के सभी लोग उनका स्वागत करने के लिए वहाँ आ पहुँचे थे । वे बहिनें जिन्होंने बड़ी मुश्किल से हँसी रोक रखी थी, उस भीड़ का लाभ उठाते हुए वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गईं । इधर परिवार वाले और गाँव वाले सभी सदस्यों ने उन पंडित साहब को इस प्रकार जोर-जोर से रोते देखकर अनुमान लगाया कि शायद किसी "ग़मी" के समाचार इन्हें मिले हैं, इसलिए ये इस तरह रो रहे हैं, वे सभी लोग भी रीति रिवाज के अनुसार पंडित सा. के रोने में साथ देने लगे और सभी रोते-रोते घर पहुँचे, घर पहुँचने के बाद भी बहुत देर तक रोने का कार्यक्रम चलता रहा । आखिर रोते-रोते पंडित सा. जब कुछ चुप हुए तो सभी ने पूछा कि क्या हुआ पंडित साहब । किनकी मृत्यु के समाचार मिले हैं आपको ? तब पंडित साहब ने आश्चर्यपूर्वक कहा कि "किसकी मृत्यु ? अरे ! आप गाँव में रहते हो फिर भी आपको पता नहीं ? बेचारी मेरी पंडितानीजी विधवा हो गई ।" यह सुनकर सभी लोग एक साथ खिलखिलाकर हँस पड़े और उनकी विधवा बहिन जो अपने भैया का स्वागत करने के लिए आई हुई थी, कहने लगी कि वाह भाई वाह ! आपने भी खूब अपनी हँसी करवाई । अरे ! आपके रहते हुए मेरी भाभी विधवा कैसे हो सकती है ? तभी पंडितजी जो काशी से पढ़ लिखकर विद्वान् बनकर आये थे, तर्क देते हुए कहने लगे ओह ! तुम भी कैसी बात करती हो ? मेरे रहते हुए तुम्हारी भाभी "विधवा" नहीं हो सकती है तो मैं पूछता हूँ कि मेरे रहते हुए तुम कैसे विधवा हो गई ? यह सुनकर सभी लोग पुनः खिल-खिलाकर हँस पड़े । बहिन भी अपनी हँसी को रोक नहीं सकी, कहा कि भाई ! मेरे पतिदेव मर गये हैं इसलिये मैं विधवा हो गई हूँ पर मेरी भाभी के पतिदेव तो आप हैं अतः आपके रहते हुए मेरी भाभी विधवा नहीं हो सकती है । अब कुछ बात पंडित सा. को समझ में आई और गहराई से सोचकर कहा कि अच्छा । अब समझा, ऐसी बात है क्या ! ओह ऽऽ मैं कितना उल्लू बन गया । उन बहिनों ने भी मेरी अच्छी हँसी करवाई । पूछा गया किन बहिनों ने ? तब पंडितजी ने उनका परिचय दिया तब घर के सदस्य इस बात का रहस्य पूछने उनके पास गए तब उन्होंने बताया कि हमने जब यह देखा कि पंडितजी जहाँ बैठे थे वहाँ कीड़ी-नगरा था । जब पंडितजी को बैठने के स्थान का भी विवेक नहीं हैं तो हमने अनुमान लगाया कि ये काशी से पढ़कर भले ही आये हैं पर इनमें विवेक-ज्ञान का अभाव है, इसीलिये हमारे अनुमान का प्रत्यक्षीकरण हमने किया और हमारा अनुमान शतप्रतिशत ठीक निकला ।

बन्धुओ ! इस कथानक से यह सबक ग्रहण करना है कि ज्ञान सीखें अवश्य पर, विवेक का जागरण जीवन में अवश्य हो, केवल तोता रटन ज्ञान से जीवन का सद् विकास नहीं हो सकता है। आज स्वाध्याय करने के प्रसंग से प्राय: मनुष्य मात्र मूल-मूल को रट लेते हैं, पर उसका अर्थ क्या है ? उनका रहस्य क्या है ? यह नहीं जानते हैं, ज्ञान के आचार क्या हैं ? इनका भी उन्हें ज्ञान नहीं रहता, यही कारण है कि प्रभावमय स्वाध्याय जिसका महान् फल आत्मशुद्धि है, वह प्राप्त होने के बजाय कभी-कभी उल्टा प्रसंग भी उपस्थित हो जाता है।

अत: आप स्वाध्याय को स्थिति जीवन में अपनाने से पहले सर्वप्रथम ज्ञानाचार का भेद कालाचार व इसके स्वरूप का सम्यक् बोध करें और यथा-समय स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रक्रियाओं से आत्मशुद्धि रूप प्रशस्त पथ के पथिक बनें। इन्हीं मंगलमय शुभ भावों के साथ—

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२६-७-८५
शुक्रवार



२७ महाप्रयाण

(महासती श्री नगीनाकुंवरजी)

आज का प्रसंग सर्वविदित है, कि ब्यावर में महासती श्री नगीना कुंवरजी का स्वर्गवास हो चुका है, अतः व्याख्यान का प्रसंग तो नहीं है, सिर्फ उन महासतीजी के जीवन पर कुछ प्रकाश डालने का प्रसंग है।

बन्धुओ ! संयमी जीवन कितना महत्त्वपूर्ण जीवन है, इस जीवन में जो व्रत अंगीकार करते हैं, वे व्रत कितने विशाल एवं व्यापक होते हैं, यह विचारने का प्रसंग है। कई मनुष्य विचारते हैं, कि "व्रत प्रत्याख्यान तो जीवन में बंधन हैं, ये बंधन तो मैं नहीं ले सकता हूँ। पर विचारना है कि ये व्रत-प्रत्याख्यान बंधन हैं या बंधन से मुक्ति हैं।"

जो मनुष्य परिवार में जन्म लेकर परिवार के सदस्यों के साथ अपना सम्बन्ध करके चलता है, उन्हीं को अपना मानता है वह अपने विराट् जीवन को एक संकुचित घेरे में रखकर चलता है, अपने परिवार के बन्धन में ही बन्धा रहता है। वह व्यक्ति कहीं भी जाता है पर पुनः लौटकर शीघ्र घर जाने की ही भावना बनी रहती है। इस प्रकार घर के बन्धन में बन्धा हुआ होने पर वह अपना संसार और भी अधिक संकुचित कर लेता है, सिर्फ अपनी पत्नी को ही अपना मानता है। और विचार करता है कि हमारा यह दाम्पत्य जीवन अमर रहे। इस आसक्ति बन्धन में फंसा, अन्य सभी के प्रति परायापन की वृत्ति रखता है। आंतरिक बन्धन से घिरा हुआ, वह इस संकुचित सांसारिक बन्धन रूपी कैद-खाने में रहता हुआ, अपनी हविशों की परिपूर्ति के साथ क्या-क्या अनर्थ वृत्तियाँ जीवन में अपना लेता है? १. असत्य, २. अचौर्य, ३. हिंसा, ४. अब्रह्म, ५. परिग्रह आदि-आदि वृत्तियों में उलझता हुआ, बन्धनमय जीवनयापन करता है। उसकी यह बन्धन परम्परा भव-भव तक चलती रहती है।

इस विश्व में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव जन्म-मरण कर रहे हैं। निगोद, जिसके एक शरीर में अनन्तानन्त जीव होते हैं और संचित्त जल में सात प्रकार के जीवों की नियमा हैं, उसमें भी अनन्तानन्त जीव हैं।

वे व्यक्ति इन अनन्त जीवों की ही नहीं, छः काया के जीवों की हिंसा करते रहते हैं, पर जो संकुचित घेरे से निकलकर संयम व्रत ग्रहण करते हैं, वे

अपने प्रथम महाव्रत की स्थिति से सभी जीवों को अभयदान देकर विराट् जीवन में प्रवेश कर लेते हैं। जो विराट् जीवन को प्राप्त हो जाते हैं, वे छः ही काया की रक्षा करते हुए आहार, पानी ग्रहण करते हैं। असत्य भाषण भी उनके छूट जाता है। अचौर्य व्रत की स्थिति से बिना किसी की आज्ञा के तृण मात्र भी वे नहीं उठा सकते हैं। जैसे—स्थानक में जब साधु प्रवेश करते हैं, तब वे स्थानक में रही हुई समस्त चीजों को, जो उनके कल्पनीय हैं, उसे भी बिना आज्ञा ग्रहण नहीं करते हैं, यहाँ तक कि कहीं स्थानक में कलेण्डर वगैरह लगे होते हैं, वे भी बिना आज्ञा नहीं देख सकते हैं। यही नहीं यदि कपड़ा सीलने के लिए सुई लाने का प्रसंग भी आवे तो भी वह जो कुछ सीलना है और उसे ही सीलने की आज्ञा लेकर आया है, तो वह उसी वस्त्र को सील सकता है, अन्य कुछ भी नहीं। अगर अन्य कुछ सीलता है, तो उसे चोरी लगती है। कार्य पूरा होने पर सूर्यास्त के पहले-पहले वह सुई पुनः गृहस्थ को भोला दी जाती है। सुई भी साधु रात्रि में स्वयं के पास नहीं रख सकता है, इतनी सूक्ष्मरूपेण चोरी का भी उसे त्याग होता है। चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है, जिसमें वह अपने मन की सम्पूर्ण विकारी वृत्तियों को अपने जीवन से निकाल देता है, और अनादि कालीन मोह बन्धन से छूटने हेतु नववाड़ ब्रह्मचर्य व्रत की परिपालना करता है, तथा पाँचवाँ अपरिग्रह व्रत जिसमें धर्म सहायक उपकरण के अलावा कुछ भी नहीं रखता है, उन पर भी मूर्च्छा (ममता) नहीं रखता है। यही नहीं साधु धातु का चश्मा भी अपने पास न रखे, उसमें छोटी से छोटी कील भी क्यों हो उसे भी न रखे। साधु अपने हाथ से किसी को पत्र न लिखे, न अपने नाम से मंगवावें। गृहस्थ वन्द पत्र लेकर आवे तो साधु स्वयं के हाथ से खोले भी नहीं, गृहस्थ स्वयं उसे फाड़कर दे तो साधु पढ़ले और लिखाने योग्य उत्तर हो तो गृहस्थ से ही लिखावें। इस प्रकार साधु समस्त वन्धनों से छुटकारा पाकर विराट् पथ का पथिक बन जाता है। मुक्ति के मंगलमय राजपथ पर उसके चरण अग्रसित हो जाते हैं। वह सबका बन्दनीय बन जाता है।

इस विषयक एक उदाहरण है। सुधर्मा स्वामी राजगृही नगरी में जब पधारे, तव एक लकड़हारा जो कि अतीव निर्धन स्थिति में था वह सुधर्मा स्वामी के पास आकर कहने लगा कि मुझे संसार की लालसाओं से मुक्ति का मार्ग बताओ। तव सुधर्मा स्वामी ने मुक्ति का मार्ग बताया तो उस लकड़हारे ने संयम ग्रहण कर लिया। एक बार का प्रसंग है, जब महाराज श्रेणिक अभयकुमार के साथ वन भ्रमण हेतु वाहर निकले हुए थे। तब वही लकड़हारा मुनि वेश में उस रास्ते से निकला तो अभयकुमार उन मुनि को वंदन करने हेतु वाहन से नीचे उतरे और उन्हें विधिवत् वंदन किया। अभयकुमार की यह चर्या देखकर सब कर्मचारी मन ही मन हंसने लगे कि यह लकड़हारा जिसको कि अभय वंदन कर रहा है, उसने क्या त्याग किया? अभयकुमार, जो कि ...

बुद्धि के मालिक थे। वे अपने बुद्धि बल से उन लोगों के भावों को पहचान कर उनकी भ्रमणा निकालने हेतु एक योजना बनाई। नगर भर में ऐलान करवाया कि तीन करोड़ सौनया, तीन शर्त पर मिल सकती है, जिसको चाहिये वह लेने के लिए राजसभा में उपस्थित हो जाय। बहुत बड़ी मात्रा में भीड़ इकट्ठी हो गई, राजसभा प्रजाजनों से खचाखच भर गई, तब अभयकुमार ने अपनी शर्त जाहिर की—

१. पहली शर्त है कि जो पुरुष अपने जीवन में पूर्ण ब्रह्मव्रत की आराधना करे, तीन करण तीन योग से तो उसे एक करोड़ सौनया मिलेगा।

२. दूसरी शर्त है कि जो तीन करण तीन योग से अहिंसा व्रत की आराधना करे, किसी भी सूक्ष्म, बादर, त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा नहीं करे, उसे भी एक करोड़ सौनया मिलेगा, और

३. तीसरी शर्त है कि जो अग्निकाय के आरम्भ का सम्पूर्णतया आजीवन तीन करण तीन योग से त्याग करे, उसे भी एक करोड़ सौनया मिलेगा।

इन तीनों शर्तों के साथ तीन करोड़ सौनया मिलने की घोषणा कराई गई जिसे श्रवण करके सब आहिस्ते-आहिस्ते खिसकने लगे। तब अभयकुमार उन कर्मचारियों को कहने लगे कि देखो मैंने जब उस लकड़हारे को जो कि अब मुनि बन चुके हैं, पाँच महाव्रत जिन्होंने अंगीकार कर लिया है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप, उनको वंदना की तो आप लोग हंस पड़े, आपकी यह विचारधारा थी कि यह लकड़हारा जो कल तो दीन, हीन अवस्था को प्राप्त था और आज साधु बन गया तो अभयकुमार भी इसको वंदना कर रहे हैं, चरणों का स्पर्श कर रहे हैं, आखिर इसने क्या त्याग किया है? पर अब आप समझ चुके होंगे, उसने जो त्याग किया है, वह त्याग स्वीकार करने का सामर्थ्य क्या हर किसी में हो सकता है?

क्योंकि मेरे बताये इन तीन व्रतों में से कोई एक व्रत को भी स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है, जबकि प्रत्येक के पीछे एक-एक करोड़ सौनया देने को तैयार हैं। तो विचार करिये वह लकड़हारा जिसने ऐसा एक व्रत नहीं अपितु पाँच महाव्रत अंगीकार कर सांसारिक-बन्धनों से निवृत्त होकर मुनि रूप में पालन कर रहा है, अतः उसका त्याग तीन करोड़ सौनयों से भी कई गुणाधिक है।

बन्धुओ! त्याग प्रत्याख्यान का महत्त्व पहचानो! त्यागी महापुरुषों का जीवन कितना दिव्य होता है। वे मानवों के तो क्या सुरासुरों के इन्द्रों के भी वंदनीय बन जाते हैं। बाह्य बंधनों से ही नहीं वरन् आभ्यन्तर जबरदस्त कर्मों

के बंधन से भी मुक्त होते जाते हैं। अमित आत्मीय वैभव को समुलब्ध कर लेते हैं।

जो महासतीजी संयमी जीवन में जिन आत्मीय गुणों की ज्योति को प्रज्वलित कर जो आज स्वर्गवास हो गये हैं, यदि उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहते हैं, तो इन सांसारिक बंधनों से कुछ परे हटें। बंधन से परे हटने का एक मात्र उपाय है, त्याग-प्रत्याख्यान। उन्हें जीवन में स्वीकार कर मुक्ति के प्रशस्त राजमार्ग पर आगे बढ़ें। इन्हीं शुभ भावों के साथ।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२७-७-८५
शनिवार



२८

मृत्यु भी महोत्सव है

(७२ दिन के संथारे के साथ महासती श्री वल्लभकुंवरजी का महाप्रयाण)

कल दिन एक महासती के स्वर्गवास का प्रसंग आया, उस प्रसंग से उनके जीवन पर प्रकाश डाला गया, आज पुनः प्रसंग आया है। जिन महासतीजी का संथारा लम्बे समय से चल रहा था वह कल रात्रि को सीझ गया है, अतः व्याख्यान का प्रसंग तो नहीं रहा है, लेकिन उन महासतीजी के जीवन के विषय में चिंतन करना सभी के लिए हितावह है।

दुर्लभ अंगों की संप्राप्ति वहुतों को होती है, और कई आत्माएँ उनका फायदा उठाकर मोक्ष मार्ग की पथिक भी बनती हैं, पर ऐसी आत्माएँ विरल ही होती हैं, जो अपने इसी जीवन में समग्ररूपेण रूपान्तरण करले, वस्तुतः उन्हीं आत्माओं की विशेषता है। महासतीजी वल्लभकुंवरजी आज सभी के कितने वल्लभ वन गये हैं, कौन जानता था कि ये महासतीजी प्रभु महावीर एवं क्रान्ति-कारी युवाचार्यों के इस शासन में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में एक ऐसा अश्रुतपूर्व आदर्श उपस्थित करेंगी।

इन महासतीजी का जीवन कोई अक्षरीय विद्वता से परिपूरित नहीं था, विद्वान् कौन होता है? सिर्फ अक्षरीय ज्ञान से कोई विद्वान् नहीं होता है। वास्तविक विद्वान् वे ही हैं, जो आत्मस्थ बन आत्मिक गुणों की ज्योति से अपने जीवन को प्रकाशमय बना लेते हैं।

तीर्थेश प्रभु महावीर ने जहाँ शास्त्रों में साधु-साध्वियों के जीवन का उल्लेख किया उसमें अनेकों के विषय में यह उल्लेख आया कि अनेक भव्य-साधक उसी भव में सम्पूर्ण ममत्व भाव की स्थिति से रहित बनकर आत्म-भाव में तल्लीन हो गये। इतिहास के पन्ने खोलने पर मैं सोचता हूँ कि वहाँ भी इतना लम्बा संथारा किसी के चला हो, यह पढ़ने को नहीं मिला। ६२ दिन का संथारा पूर्व में इसी शासन में हुआ जरूर, पर ७२ दिन का यह अद्वितीय संथारा प्रथम ही सुनने को मिला।

शरीर का ममत्व छोड़ना कोई सहज बात नहीं है। शरीर के ममत्व को छोड़कर अन्तिम समय की साधना कोई कम महत्त्व की चीज नहीं है, राग-द्वेष की चित्त वृत्तियों का शमन करके अपने आप में आत्मस्थ हो जाना बहुत दुर्लभ है। यह समाधि है, इसका स्वरूप अतीव गहन है। समाधि का तात्पर्य है—

जहाँ मलिन विचार राग-द्वेष से परिपूरित जो वृत्तियाँ हैं, उससे परे हटकर शान्त दान्त बन जाना, यही सच्ची समाधि है, साधना जीवन में कितनी हुई और कितनी नहीं हुई, इसका रिजल्ट अन्तिम समय में आता है, हमारे सुकृत्यों की परछाया अन्तिम समय में आती है, यदि अन्तिम समय की साधना सुधर जाती है, तो भव्यात्मा के अनेक जन्म-मरण की स्थिति समाप्त हो सकती है। बहुत जल्दी मोक्ष प्राप्ति का प्रसंग बन सकता है। अन्तिम समय को सुधारने के लिए पहले से आत्मा को संलेखित करना अति आवश्यक हैं। संलेखना के साथ संथारा की स्थिति जीवन में आती है तभी वह संथारा देहातीत अवस्था को प्राप्त हो, आत्मरमण के सम्मुख आ सकता है और वह आत्मा सच्चे अर्थों में पंडित की पदवी प्राप्त करती है।

गीता के अन्दर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया कि—"भगवन्! आज दुनिया में बहुत से व्यक्ति अपने आप को विद्वान् शिरोमणि मानते हैं, तो क्या वे वस्तुत: पंडित हैं? विद्वान् है?" तब कृष्ण महाराज ने कहा कि नहीं सिर्फ मानने मात्र से कोई विद्वान् या पंडित नहीं होता वरन् विद्या और विनय से जो सम्पन्न हैं और प्रत्येक आत्मा के साथ समदर्शिता की स्थिति लेकर जो चलते हैं, वहीं पंडित हैं। जैसे कि गीता का श्लोक है—

"विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणी गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाकेच, पण्डिता समदर्शिनः॥"

जैन आगम में भी बताया है, कि जो लाभ और अलाभ में समभाव रखता है, वही पंडित है। संस्कृत में व्युत्पत्ति करते हुए बतलाया है कि "पापात् बिभेति इति पंडित:" जो साधना की स्थिति से आगे बढ़ रहा है, और उसकी साधना की चतुर्दिक् में भूरि-भूरि प्रशंसा हो रही हैं, उस समय प्रशंसा में फूलकर ऐसा कार्य न करना, जो श्रमण संस्कृति से निर्गन्थपने की स्थिति से विरुद्ध हो तथा कोई निन्दा करे तो भी किंचित् मात्र भी निन्दा करने वालों के प्रति द्वेष भाव नहीं लाना प्रत्युत निरन्तर राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठने की साधना में संलग्न बने रहना, वास्तविक आराधना है। साधना होती है आत्म-समाधि के लिये। उस साधना से, उस आत्म समाधि से कई एक लब्धियाँ भी उपलब्ध हो सकती है, चूंकि सावना चमत्कार लब्धियों की प्रसव भूमि है, पर चमत्कार दिखाना साधना का आदर्श नहीं है न उद्देश्य ही है। ज्ञानीजनों का फरमाना है कि अपना वास्तविक कल्याण चाहते हो तो चमत्कार से बचकर सदाचार का अभ्यास करो, सदाचार ही संसार का महान् चमत्कार है। अपनी प्राप्त लब्धियों को गोपकर चलो। ऐसी स्थिति जिसे प्राप्त हो जाती है, वही यथार्थ में पंडित की संज्ञा को प्राप्त हो सकता है।

संथारे की स्थिति में अपनी महिमा का प्रसार देखकर प्रफुल्लित न हों और किसी के द्वारा निन्दा किये जाने पर खिन्न न हों।

"समोनिन्दापसंसासु"

यह आदर्श जीवन में उतारें। संसार के न किसी भी प्रकार के इस लोक की कामना रहे न परलोक की कामना रहे, न इस लोक-परलोक की कामना रखी जाय। सभी प्रकार की भौतिक कामनाओं से हटकर आत्मा में रमण करते रहना संथारे की सार्थकता है।

ऐसी आत्मलीनता मुझे स्वर्गीय गुरुदेव आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. में देखने को मिली, जिनके शरीर में भयंकर कैंसर जैसी व्याधि होते हुए भी किस शान्त दान्त भाव से उसको उन्होंने सहन किया, जिसे देखकर उदयपुर के डॉक्टर शूरवीरसिंहजी, रामावतारजी एवं वम्वई से डॉक्टर वोरजस की रिपोर्ट भी आयी, उसमें भी यही भाव थे कि इस वीमारी को देखते हुए जीना वहुत मुश्किल है, यह तो इन महात्मा के तपोवल का ही प्रभाव है कि वे शान्त भाव से आगे वढ़ रहे हैं, डॉक्टर रामावतार ने साफ कहा कि इन महात्मा के सामने तो हमारी डॉक्टरी थ्योरी फेल हो चुकी है।

जव स्वर्गीय गुरुदेव ने संथारा ग्रहण किया तव अत्यन्त सजगता के साथ मेरे से संथारा की पाटियों का उच्चारण करवाते हुए ग्रहण किया था। यह वत-लाते रहे कि यह पाटो वोलो, यह पाटी वोलो। २९ घंटे तक संथारा चला जिसे देखकर जनता आश्चर्यचकित हो गई। किसी आचार्य के इस प्रकार संथारा चलना, देखने-सुनने को कम मिलता है।

स्वर्गीय गुरुदेव ने अपनी वृद्धावस्था में भी श्रमण संस्कृति की सुरक्षा वना रखने के लिए जो एक दीक्षा-शिक्षा प्रायश्चित-चातुर्मास एक आचार्य के सान्निध्य में हो, का क्रान्तिकारी कदम उठाया, वही आज पल्लवित, पुष्पित फलित हो परिलक्षित हो रहा है। स्वर्गीय गुरुदेव को संयम प्रिय था, पद नहीं, इसलि उन्होंने संयम की सुरक्षा के लिए उपाचार्य जैसे सर्व सत्ता सम्पन्न पद की कुर्वानी दे दी। यह शासन वीस-वाइस वर्षों से किसी प्रकार प्रगतिशील है, आप सवके सामने है।

आज जो महासतीजी के स्वर्गवास के समाचार मिले हैं। उनके शरीर भी असाध्य वीमारी की स्थिति वन गई थी। वृद्धावस्था भी आ चुकी थी। एक दिन जव वीमारी ने उग्र रूप धारण किया। तव शरीर की स्थिति देखते हुए एवं महासतीजी के बार-बार आग्रह को देखते हुए, कि कहीं मैं खाली नहीं चली जाऊँ, उन्हें संथारा करा दिया गया, बाद में जब संथारा लम्बा चलने लगा तो उन्हें सूचित भी किया गया कि आप पारणा कर सकते हैं, आपके संथारे में भी आगार रखा गया है, किन्तु महासतीजी अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहीं, वह कभी भी संथारे को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुईं।

ऐसी स्थिति में यदि उन्हें जबरदस्ती आहार करवाने की स्थिति बने तो यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि शरीर में असमाधि उत्पन्न हो सकती है, जो उनके जीवन के लिए खतरा बन सकता है। समाचार मिला कि महासतीजी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ समभाव की साधना में रमण करती हुई, अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ती रही थीं, आज उन्हीं महासतीजी के स्वर्गवास का समाचार मिला है। उनकी समभाव की साधना की यह सारी रिपोर्ट भी दर्शनार्थी भाइयों से बराबर मिलती रही थी, अपूर्व शांति, सौम्यता और सुख समाधिपूर्वक महासतीजी का संथारा चला, महासतीजी वस्तुतः विद्वान् थीं, पंडित थीं। जहाँ विद्वता सिर्फ कलात्मक हो, वह वास्तविक विद्वता नहीं है। पर जहाँ विद्वता रचनात्मक हो, जीवन निर्माण की भूमिका अदा करती हो वह विद्वता व्यक्ति को सच्चा विद्वान् बनाती है। जितने आगम हैं, उन्हीं आगमों की मात्र अक्षरीय रूप चारदीवारी में आबद्ध रहकर अपने आपको भले ही विद्वान् मान ले, पर ज्ञानीजन कहते हैं कि वह सही विद्वान् नहीं है पर जो आध्यात्मिक जीवन और आत्मीय गुणों को जागृत विकसित करने की स्थिति से संयमनिष्ठ बनकर सम्यक् आचरण की दिशा में आगे बढ़ता है, वही सच्चा विद्वान् है। अपने संयमी जीवन को संवारने वाला ही प्राणीमात्र को अभय दे सकता है, उस अभय देने वाली आत्मा की समाधि प्राप्त हो सकती है।

दूसरों को शान्ति देने वाली आत्मा स्वयं अखूट शांति प्राप्त कर सकती हैं, अशांति देने वाले को कभी शांति नहीं मिलती। क्रिया और प्रतिक्रिया ये दोनों साथ-साथ चलती हैं। यह बहुत बड़ा वैज्ञानिक तथ्य है। अहिंसक के समक्ष हिंसक भी अपना वैर विरोध भूल जाते हैं और हिंसक को देखकर तो उल्लेख आता है कि वनस्पति भी भयभीत हो जाती है। अतः आप परिपूर्ण अहिंसक बनें, सभी को शांति दें, समाधि समुलब्ध करायें।

बन्धुओ! जो सभी को भयभीत कर असमाधि उत्पन्न करता है, वह स्वयं कैसे समाधि सम्प्राप्त कर सकता है? प्राणी मात्र के अभय प्रदाता प्रभु महावीर ने समवशरण में प्रवेश करने वालों के लिए जिन पाँच अभिगमों का विधान किया उसमें बताया कि धार्मिक स्थान जो कि निरवद्य स्थान है वहाँ सभी को अभयदान मिलने का प्रसंग बनता है। अतः समवशरण की भूमि में उत्तरासन्न-पूर्वक सम्पूर्ण सचित्त वस्तुओं का त्याग करके प्रवेश किया जाता है।

चातुर्मास के इन पुण्यमय दिनों में कम से कम इस पवित्र धर्म स्थान में छोटे से छोटे जीव को भी अपनी तरफ से अशांति असमाधि उत्पन्न नहीं करना चाहिये। साधु जीवन इसी का प्रतीक है कि वह किसी प्राणी को कष्ट देना, सताना नहीं चाहता है, चाहे स्वयं कितने ही कष्ट उठा लेता है। इसी प्रकार समाधिमय साधना करने वाला ही अन्तिम समय में पूर्णरूपेण सम' पंडित मरण की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इस पंडित मरण के

के उपलक्ष्य में यह प्रतिज्ञा करें कि अपना जीवन समाधिमय बनाकर चलें। किसी भी आत्मा को असमाधि नहीं पहुँचायें। यदि २४ घण्टों में परिपूर्ण रूपेण अभय की साधना नहीं कर सके तो कम से कम १ घण्टा भी जगत् के जीवों को अभयदान देने का अभ्यास करना चाहिये। ऐसी अभ्यास वृत्ति से अंतिम समय को सुसफल बनाया जा सकता है, अभ्यास से सब कुछ साध्य है। जिनका सम्पूर्ण जीवन ममत्व से अलिप्त है, उनका अन्तिम समय में एकाएक सभी से ममत्व छूट जाय, यह कम सम्भव हैं।

जीवनभर अध्यवसायों की जिन स्थितियों से मानव गुजरता है, अन्तिम समय में वे ही अध्यवसाय प्रायः बने रहते हैं। जो असमाधि से परिपूरित जीवन को लेकर चल रहा है, उसका अन्तिम समय समाधिमय बनना कठिन है। विचार करिये। आप जिनकी ममता से सारी जिन्दगी व्यतीत कर देते हैं। क्या वह ममता अन्तिम समय में दूर हो सकती है ? जल्दी से नहीं। ७२ दिन का यह दिव्य संथारा हमारे लिये प्रेरणा स्रोत बन चुका है। वे महासतीजी जो भद्रिक भाव से साधना करते रहे। उनके ७२ दिन का संथारा आज आप श्रवण कर रहे हैं। एक जीवन भी यदि पंडित मरण से मृत्यु में परिवर्तित हो जाय तो अवश्यमेव अतिशीघ्र मोक्षगामी बना जा सकता है।

शास्त्रों का अध्ययन, संयम का पालन प्रत्येक प्राणी को अभयदान देना ये सभी सद् अनुष्ठान समाधि के ही हेतु हैं। उन सती के भावात्मक जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर जो अपने जीवन को शुभ भद्रिक एवं सरल भावों से परिपूरित करेंगे तो समाधिमय बनते हुए अन्तिम घड़ियों में दिव्य समाधि की स्थिति को संप्राप्त कर सकेंगे।

उन महासतीजी के गुणमय भावमय जीवन को स्मृति में रखते हुए उनसे सतत प्रेरणा लेते रहेंगे और सभी प्राणियों को समाधि पहुँचायेंगे, अभयदान देंगे तो भव्यात्माओं का जीवन भी एक दिन अवश्यमेव मंगलमय बनेगा।

२८-७-८५
रविवार

मोटा उपाश्रय
घाटकोटर, बम्बई



२६ ज्ञान का ज्ञान हो

तीर्थंकर भगवन्तों ने इस मनुष्य जाति के शरीर में रहकर सुसाधना के द्वारा घनघाती कर्म क्षय करके केवलज्ञान एवं केवलदर्शन प्राप्त किया, तदनुसार चार तीर्थ की स्थापना की तथा उपदेश की धारा में द्वादशांगी का ज्ञान फरमाया। साथ ही यह भी वतलाया कि सिर्फ द्वादशांगी तक ही ज्ञान सीमित नहीं है, वरन् उससे भी आगे ज्ञान है।

महाप्रभु ने मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और केवलज्ञान के भेद से ज्ञान को पाँच भागो में विभक्त किया है। इन ५ प्रकार के ज्ञानों में सारा ज्ञान समाहित हो जाता है। जिस समय शरीर में रहती हुई आत्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि के बाद जब पाँच ज्ञानों का प्रतिपादन करती है उस समय वह आत्मा रूपी एवं साकार अवस्था में रहती है। पर जब वही आत्मा सिद्ध वन जाती है, तव वह निराकार और अरूपी अवस्था में आ जाती है।

प्रार्थना की कड़ियों में जो ये निराकार, साकार शब्द आये हैं। वे संसारी और सिद्ध आत्मा की अपेक्षा से हैं। साकार और निराकार यह आत्मा का ही भिन्न-भिन्न स्वरूप है। चैतन्य रहित जड़ पदार्थ भी साकार-निराकार दोनों तरह के होते हैं, जैसे जो मकान हैं, स्तम्भ हैं, वे साकार हैं, पर धर्मास्तिकाय जो कि चैतन्यरहित है, उसका कोई आकार नहीं है। यहाँ प्रार्थना की कड़ियों में जड़ के साकार, निराकारपने का कथन नहीं है। वरन् सचेतन आत्मा के लिये कथन आया है, और वह सचेतन आत्मा साकार अवस्था में रही पुरुषार्थ बल से अपनी अष्ट-कर्म वेड़ी तोड़कर अनन्तज्ञान/केवलज्ञान की निराकार अवस्था को प्राप्त कर स्वामी बन सिद्ध रूप में पहुँच सकती है, पर कब? जब वह कर्म आच्छादित अनन्तज्ञान राशि का बोध करके उसे प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो जाये। ज्ञान की अनन्तता के विषय में क्या कहा जाय।

एक वार स्थूलिभद्र ने पूर्वों का अध्ययन करते हुये भद्रबाहु स्वामी से जिज्ञासा की कि भगवन्! मुझे कितना ज्ञान हो गया और कितना ज्ञान होना अवशेष है, तव भद्रबाहु स्वामी ने फरमाया कि हे आयुष्मान्! कल्पना करो कि एक विशाल समुद्र जो अथाह जल से परिपूरित है, उसमें से चि चोंच में जितना पानी ग्रहण कर सकती है, उतना सा ज्ञान अभी त

है। ज्ञान—अथाह समुद्र के पानी की तरह अनन्त है, अभी बहुत ज्ञान करना अवशेष है।

बन्धुओ ! जब स्थूलिभद्र जैसे ज्ञानी के विषय में भी भद्रबाहु स्वामी ने यह बात फरमायी, तो फिर हमारे ज्ञान की क्या कुछ स्थिति है, इसे हम स्वयं पहिचानने की कोशिश करें। और अत्यन्त विनीत भावों के साथ अनन्त ज्ञान राशि को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ रत बनें।

शास्त्र में आनेवाली वर्णमाला का तात्पर्य है, अक्षर क, ख, ग इत्यादि। इनका सामूहिक रूप शब्द कहलाता है, शब्दों के समूह से वाक्य बनते हैं। उन्हीं वाक्यों से जो दूसरों को ज्ञान होता है, वह ज्ञान, मति और श्रुत ज्ञान है, जो कि ५ इन्द्रियों और मन की स्थिति से होता है। विशिष्ट ज्ञान पाने के लिये विशिष्ट पुरुषार्थ करना होगा। इसके लिए एक रूपक है—किसान जब यह समझता है कि यह जमीन मक्का है, गन्ना है, तब तो वह पुरुषार्थ करना छोड़ सकता है, पर जमीन मिलने मात्र से यह नहीं समझा जा सकता, और न ही उससे उसकी उदर पूर्ति ही होती है। बीज बोने आदि रूप पुरुषार्थ करने पर ही उसे मक्का, गन्ना आदि उदर-पूर्ति के साधन प्राप्त हो सकते हैं। इसी प्रकार श्रुत ज्ञान रूपी शास्त्र जमीन के तुल्य है, इससे ज्ञान रूपी फसल तैयार करना है। ज्ञान रूपी फसल तैयार करने के लिये सत्पुरुषार्थी बनना नितान्त आवश्यक है। शास्त्रों का चिन्तन मनन पूर्वक पठन, पाठन वीतराग वाणी के श्रवण को आगे बढ़ाने वाला है। पर सिर्फ शास्त्रों का अक्षरीय ज्ञान हासिल कर लेना, अस्वाध्याय, स्वाध्याय के ज्ञाता बन जाना, वीतराग वाणी कई बार श्रवण कर लेना पर्याप्त नहीं है। यह सब तो जमीन की तैयारी है, किन्तु जब गहन चिंतन मनन के साथ आत्मा की अनन्त शक्तियों को प्राप्त करने के लिये, भीतरी ज्ञान जागृत करने के लिये मन और इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान तक ही सीमित न रहकर आत्मा से होने वाली प्राप्ति में सत्पुरुषार्थशील बनेंगे तब ही वास्तविक अतिन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति हो सकेगी। यथार्थ में यह आत्मा की फसल तैयार करना होगा। जिससे परम तृप्ति प्राप्त हो सकती है।

ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह का बतलाया गया है, इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाला मति और श्रुत ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। और आत्म मात्र की अपेक्षा अवधि, मनपर्याय तथा केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। यह कथन पारमार्थिक कथन की अपेक्षा से जानना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को व्यावहारिक प्रत्यक्ष भी माना गया है।

मैं ज्ञानाचार के जिन-जिन आठ भेदों की चर्चा कुछ दिनों से आपके सामने कर रहा हूँ। उसमें सर्वप्रथम कालाचार के स्वरूप का प्रतिपादन चल रहा है। बन्धुओ ! एक विद्वान् सारी जिन्दगी पुस्तक एवं शास्त्रों को पढ़ने में

खपा देता है। दूसरों को भी पढ़ा देता है, पर क्या उसने यथार्थ में पुस्तकें पढ़ी हैं, जब तक जीवन में रूपान्तरण नहीं आवे तब तक उसका पढ़ना, पढ़ना नहीं है। स्वाध्याय और शास्त्र पठन के साथ ही जब किसी के जीवन में सही परिवर्तन आने लगता है, उत्तेजना कम होती है। ज्ञानी के ज्ञान की वास्तविक फसल जिसके जीवन में लहलहाती है, तो हम यह कह सकते हैं, कि उस व्यक्ति ने ज्ञान की सम्यक् आराधना की है।

यदि शास्त्र पढ़ले पर परिवर्तन कुछ भी नहीं आये, सिर्फ वह ज्ञान के अहं में डूबा रहे, अपने आपको पंडित मानता रहे, यदि मानले कि मेरे समान कोई ज्ञानी नहीं है तो अहं का वह कीड़ा उसके आध्यात्मिक जीवन में "घुन" का काम करता है। जैसे खेती में जब घुन लग जाता है तो सारी फसल नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार उस तथाकथित ज्ञानी की ज्ञान रूपी फसल सिर्फ अक्षरीय ज्ञान तक ही सीमित रह जाती है। आगे नहीं पहुँच पाती है। बन्धुओ ! आज यह स्थिति बहुतों की हो रही है, कपड़े की चिन्दी पा लेने मात्र से बन्दर बजाज नहीं बन सकता है। वैसे ही थोड़ा सा ज्ञान मात्र हो जाने से ही आज के कई साधक अपने आपको बहुत बड़े ज्ञानी समझने लगते हैं, लेकिन उनका यह मानना उन्हीं के पतन का कारण है। वर्तमान में अवधिज्ञान का सम्पूर्णतः विच्छेद नहीं हुआ है. सिर्फ परम अवधिज्ञान का ही विच्छेद हुआ है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आज भी व्यक्ति को अवधिज्ञान हो सकता है और श्रुतज्ञान के साधनों की तो कोई कमी नहीं है। साधना के बल से श्रुतज्ञान में विशिष्टता लाई जा सकती है, परन्तु वर्तमान में कई मनुष्य थोड़े से श्रुतज्ञान में ही संतुष्ट करके विराम ले लेते हैं, यह समझ लेते हैं कि मैंने बहुत ज्ञान अर्जित कर लिया है। उनके इस अहं को दूर करने के लिये ही मैं यह बात बता रहा हूँ। चाहे चौदह वर्ष पूर्वधारी ज्ञानी भी क्यों न हो जाय पर वह भी केवलज्ञान के सामने तो समुद्र में बूँद के तुल्य भी नहीं है।

बन्धुओ ! जब तक आप आगे का सर्वोच्च केवल ज्ञान को प्राप्त करने की कोशिश नहीं करोगे तब तक परिपूर्ण लक्ष्य वरण नहीं कर सकोगे।

गौतम स्वामी जब आनन्द श्रावक को दर्शन देने के लिये गये तब आनन्द जी ने कहा—भगवन् ! मैं आपके चरण स्पर्श करने की भावना रखता हूँ, पर आप कुछ आगे पधारने की कृपा करावें। तब गौतम स्वामी आनन्द श्रावक के स आये। आनन्द श्रावक ने तीन बार मस्तक झुकाकर वन्दन नमस फिर पूछा कि भगवन् ! क्या गृहस्थ को घर में रहते हुए अव सकता है ? गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—"हंता अत्थि' सकता है"—तो भगवन् मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ की पश्चिम और दक्षिण में ५०० योजन लवण समुद्र के अ

हिमवंत पर्वत तक, अधोलोक में प्रथम नरक के लोलुच्च नरक तक, ऊर्ध्वलोक में सोधर्म स्वर्ग जानने और देखने लगा हूँ। यह सुनकर गौतम स्वामी ने आनंद श्रावक को कहा—कि हे श्रावक ! गृहस्थावास में रहे हुये गृहस्थ को अवधिज्ञान तो उत्पन्न हो सकता है, पर इतना विशाल अवधिज्ञान श्रावक को नहीं हो सकता है। जबकि आनन्द श्रावक को उतना ज्ञान हो चुका था, जिसका स्पष्टीकरण स्वयं भगवान् ने किया था। लेकिन विशिष्ट ज्ञान के धनी गौतम स्वामी इस बात को नहीं जान पाए कि आनन्द श्रमणोपासक को कितना ज्ञान हुआ ? इस पर कई भाई-बहन कहते हैं कि गौतम स्वामी चार ज्ञान के स्वामी हैं तो क्या उपयोग नहीं लगा सके। प्रथम तो वे चार ज्ञान के स्वामी थे, ऐसा विशेषण आनन्दजी के यहाँ जाते गौतम स्वामी के शास्त्र में देखने को नहीं मिलता है, तथा यह मान भी लिया जाय कि उन्हें चार ज्ञान थे, तो भी वे आनन्दजी श्रावक के अवधिज्ञान को नहीं जान सकते हैं, क्योंकि ज्ञान तो अरूपी है। और अवधि और मन:पर्याय ज्ञान का विषय रूपी है, अत: गौतमस्वामी भले ही उस समय ज्ञान के धनी हों पर वे आनन्द श्रावक के उस अरूपी ज्ञान को अपने रूपी विषयक अवधि, और मन:पर्याय ज्ञान से कैसे जान सकते ? यही कारण था कि भगवान महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी से कहा कि—

"न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए ।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥" उत्तरा. १०/३१

अर्थात् हे गौतम ! तू आज जिनको नहीं देखता है। प्रभु महावीर के इस कथन से यह भी स्पष्ट जाहिर हो रहा है कि छद्मस्थ रूपी विषयक ज्ञान से अरूपी ज्ञान को नहीं जान सकते हैं।

त्रिपष्टिशलाका पुरुष में एक प्रसंग आया है कि एक बार भगवान् महावीर चम्पक नगरी के बगीचे में तप संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विराजमान थे। तब वहाँ का सम्राट जिसका नाम "शाल" था, वह अपने युवराज "महाशाल" आदि को साथ लेकर भगवान के चरणों में पहुँचा। भगवान् की अपूर्व देशना श्रवण कर सम्राट को संसार से विरक्ति हो गई और कहने लगे कि भगवन् ! ऐसा अमृतमय ज्ञान का निर्झर आज जिन्दगी में मुझे प्रथम बार ही मिला है। मैं यह जान पाया कि इस जीवन में कितनी महान् शक्ति है। उसको प्राप्त करने पर लोकालोक देखा जा सकता है। पर कब, जब उसके अनुरूप पुरुषार्थ करें, तब। भगवन् ! मैं भी आपश्रीजी के चरणों में दीक्षित होकर अपनी अनन्त ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित करना चाहता हूँ। तब प्रभु महावीर ने फरमाया—

"अहा सुहं देवाणुप्पिया ।
मा पडिबंध करेह ॥"

जैसा तुमको सुख हो वैसे करो, शुभ कार्य में विलम्ब मत करो। जब
म्राट ने पूर्णरूपेण दीक्षित होने की तैयारी करली, तब तक उनका पुत्र युवराज
हने लगा कि आप तो दीक्षा ले रहे हैं। इस दुर्लभ मनुष्य भव को सार्थक
नाना चाह रहे हो, तब यह बंधन रूप राग का भाव मेरे सिर पर क्यों डाल
हे हो ? तब महाराज ने कहा कि नहीं भाई—तुम मेरे अप्रिय नहीं हो, यदि तुम
ी इस संसार रूपी जल से निकलना चाहते हो तो तैयार हो जाओ, मैं तुम्हें
हर्ष अनुमति देता हूँ दीक्षा लेने की। तब युवराज ने पूछा कि पिताजी राज्य
कसको सँभलाओगे ? तब महाराज ने कहा "तुम इसकी चिन्ता मत करो",
ानजे को राज्य भार सौंप देंगे। इस प्रकार भाणेज का राजमहोत्सव मनाकर
ता पुत्र दोनों प्रभु महावीर के चरणों में दीक्षा ले लेते हैं, और दीक्षित होकर
भु महावीर के साथ विचरने लगते है। जब एक बार चम्पा नगरी में भगवान्
हावीर का समवसरण हुआ तब वे दोनों साथ थे, उनमें जो शालमुनि थे वे
गवान् से निवेदन करने लगे—भगवन्! मेरा भानजा संसार रूपी जेलखाने में पड़ा
आ है, आप आज्ञा फरमायें तो उसे भी इस जेल से छुटकारा दिलाने के लिए पृष्ठ
म्पा नगरी में जाना चाहते हैं, तव भगवान् ने उन्हें आज्ञा प्रदान की तब पिता-
त्र जो मुनि बन चुके थे, गौतम स्वामी के साथ पृष्ठ चम्पा नगरी पहुँचते हैं।
ौर तप संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। महाज्ञानी
ौतम स्वामी ने अमृतोपम वाणी से सम्राट को उद्बोधन दिया उससे वे जागृत
ोकर मुनिशाल का भानजा सम्राट गांगली, पुत्र को राज्य भार संभलाकर माता-
ता के साथ दीक्षा अंगीकार कर लेते हैं। इस प्रकार गौतम स्वामी पाँच
व्यात्माओं को लेकर पुनः जब प्रभु महावीर के चरणों में पहुँचने हेतु पृष्ठ चम्पा
विहार कर जा रहे थे, तव उस नवीन संतों को ज्ञान देते हुए कहा कि तुम
ब भगवान् की विराट् परिषद् में जा रहे हो, वहाँ विनय धर्म का यथोचित
ालन करना। केवली की, अवधिज्ञान की, मनःपर्याय ज्ञान की आदि-आदि
भी की जुदी-जुदी परिषद है, तुम नवदीक्षित की परिषद् में जाकर बैठना।
ौतम स्वामी की यह आज्ञा सभी ने विनयपूर्वक शिरोधार्य की। लेकिन उनके
न्दर में भावों की विशुद्धि निरन्तर बढ़ती चली गयी। आत्मा ऊर्ध्वगामी
ाधना के लिये सर्वतोभावेन समर्पित होकर तन, मन, वचन से एकाकार हो
ई। एक ही लक्ष्य की तरफ जिन का ध्यान तन्मय हो गया। भावनाओं में
वेशुद्धि के प्रकर्ष से गुणस्थानों पर आरोहण करने लगे। क्षपक श्रेणी पर चढ़कर
न्तरमुहूर्त में ही भगवान् के पास पहुंचने से पहले ही घनघाती कर्म क्षय कर
र्वज्ञ सर्वदर्शी वन गये और महाप्रभु के समवसरण में आकर सीधे केवली परिषद
ं आकर वैठ गये। तव गौतम स्वामी को आश्चर्य हुआ, उनके मन में कई
ंकल्प, विकल्प उठने लगे। तव घट-घट के अन्तर्यामी भगवान् महावीर कहने
गे कि गौतम ! तू क्या सोच रहा है। ये तन-मन से सर्वतोभावेन तुम्हारी
ाज्ञाओं में समर्पित होकर चलने वाले मुनि अब तुम्हारी आज्ञा पालन

स्थिति से बहुत आगे बढ़ चुके हैं अर्थात् इनको तो केवलज्ञान, केवलदर्शन हो गया है। तब गौतम स्वामी ने यह सुना तो कहने लगे भगवन् ! यह क्या ? मैं इतने वर्ष से श्रुतचारित्र धर्म की आराधना कर रहा हूँ, पर अभी तक मुझे केवलज्ञान नहीं हुआ और ये मुनि जिनको अभी दीक्षा देकर मैं लाया और इतना जल्दी इन्हें केवलज्ञान हो गया, भगवन् ! ऐसा क्यों ? गौतमस्वामी के भीतर हलचल सी मच गई, उसे शांत करने की दृष्टि से सांत्वना देते हुए महाप्रभु ने फरमाया कि हे आयुष्मान् गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति अनुराग है, वह प्रशस्त है, वह आगे बढ़नेवाला है। राग दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त राग गुरु के प्रति, श्रुत के प्रति होता है और माता-पिता, पारिवारिक सदस्यों और पुद्गलों के प्रति जो अनुराग होता है। वह अप्रशस्त राग है। गौतम ! तुम इतने बेचैन मत बनो, कारण कि तुम्हारा जो मेरे प्रति प्रशस्त राग है, वह तुम्हें आगे बढ़ाने वाला है। पर अभी तक काल की परिपक्वता नहीं आई है, कर्मों के क्षय की स्थिति नहीं बनी है, तुम्हें केवलज्ञान नहीं हो पा रहा है। अभी तुम्हारे कुछ कर्मों का उपभोग अब शेष है, पर जब मुझे मोक्ष हो जायेगा, तब तुम केवली बन जाओगे। अतः खेद मत करो, पुरुषार्थरत रहो। उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन की पैंतीसवीं गाथा में भगवान् ने गौतम स्वामी को सम्बोधित करते हुए फरमाया कि हे गौतम—

अकलेवर-सेणिं उस्सिया, सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अर्थात्—हे गौतम ! शरीर से रहित जो सिद्ध श्रेणि है, उसके सदृश पवित्र क्षपक श्रेणि पर चढ़कर सर्वोत्कृष्ट कल्याण रूप सिद्धलोक को प्राप्त होगा अतः तू समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

यहाँ विचार करने की बात है कि इतने विशिष्ट ज्ञानी को भी महाप्रभु ने समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करने के लिए कहा है जिनका कि उसी भव में मोक्ष निश्चित है। तो फिर आज के अधिकांश साधक जिनके पास श्रुतज्ञान भी पूरा नहीं है, फिर उनके ज्ञान की इति भी हो गई, जो प्रमाद या आलस्य में समय व्यतीत करे। गौतम स्वामी से सम्बन्धित यह घटना चाहे किसी भी रूप में घटित हुई हो लेकिन इससे यह शिक्षा मिलती है कि सदा आलस्य, प्रमाद त्यागकर पुरुषार्थ करते रहो।

[यहाँ आप एक बात स्पष्ट करलें कि गौतम स्वामी ने जो गांगली सम्राट के माता-पिता को दीक्षा दी, वह सारी विधिवत् हुई थी। और जब वे महाप्रभु के समवसरण में पहुँचे तो गांगली अनगार के माताजी जो अब सवज्ञ बन गई थीं। साध्वी की केवली परिषद् में जाकर विराजीं।
—सम्पादक]

आज हम देख रहे हैं कि कई साधु जो शास्त्राध्ययन भी कर रहे हैं, तो वे इसी में संतुष्ट बने बैठे हैं, सोच रहे हैं कि हम तो साधु बन गये हैं, हमने इतना बड़ा संयम ले रखा है, बस और हमें क्या चाहिये। और श्रावक जिसने सामायिक, प्रतिक्रमण, भक्तामर आदि-आदि सीख लिया और सोचे कि हमने तो बहुत कुछ सीख लिया है, यही भावना तो आगे बढ़ने में रुकावट डाल रही है, इसे हटाकर ज्ञानाचार के भेदों को समझते हुए आगे बढ़िये। कालाचार से शास्त्रीय स्वाध्याय का समय ध्यान में रखिये। शास्त्रीय स्वाध्याय करने के अनन्तर जब स्वयं की स्वाध्याय-चिन्तन-मनन चालू करते हैं, उसमें निमग्न हो जाते हैं, तो ज्ञान का अथाह आनन्द भी एक दिन पा सकते हैं, कहने का तात्पर्य यह है कि जितना ज्ञान मिला है उसका अभिमान नहीं करते हुए ज्ञान का ज्ञान करिये कि यह तो है ही पर मुझे इससे बहुत आगे बढ़ना है, इसके लिए कालाचार को समझें, ज्ञानाचार सम्पन्न बनें। जैसे एक लखपति जब हजारपति की ओर देखता है तो उसे अभिमान होता है, पर करोड़पति की ओर देखता है तो उसका अभिमान उतर जाता है। इसी प्रकार छोटे-मोटे ज्ञानी को देखकर अपने ज्ञान का अहं न करें प्रत्युत विशिष्ट ज्ञानी की ओर निहारते हुए अपनी अपूर्ण अवस्था का स्थल पाने की भावना रखते हुए अपने ज्ञान को, अपने पुरुषार्थ को अधिक से अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करें, ताकि एक न एक दिन अवश्य मंगलमय दशा को प्राप्त कर सकें।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२६-७-८५
सोमवार



३० विनयाचार–बहुमानाचार

(सम्यक्ज्ञान का द्वितीय-तृतीय आचार)

वीतराग परमात्मा के उपदेश को समझने के लिये उनकी स्तुति चाहे किसी रूप में, किसी भी नाम से की जाए, पर करना आवश्यक है। स्तुति का अर्थ है प्रभु की प्रशंसा करना, प्रभु के गुणों का वर्णन करना और उसकी अभिव्यक्ति स्वयं में लाने के लिये सत्पुरुषार्थशील बनना।

कई लोग प्रार्थना का अर्थ याचना करना समझते हैं, परन्तु लेने की कामना रखकर प्रार्थना करने वाले सामान्य व्यक्ति होते हैं, तत्वज्ञानी नहीं। चूंकि तत्वज्ञानी यह जानते हैं कि भगवान् कुछ नहीं देते हैं। लेन-देन का प्रसंग संसारियों का है, व्यापारियों का है। व्यापारी वर्ग बाजार में एक वस्तु दूसरे को देते हैं और उससे दूसरी वस्तु लेते हैं, यह प्रक्रिया व्यापारी वर्ग की है। उनकी यह प्रक्रिया स्वार्थपूर्ण होती है। अन्दर में उनकी कामना रहती है कि मैं ज्यादा से ज्यादा कमालूँ। वे अन्य के कष्ट, दुःख की परवाह नहीं करते। यदि ऐसा लेन-देन का कार्य कोई भगवान् के साथ करने के लिये प्रार्थना करता है तो वह उत्तम कोटि का भक्त नहीं है, प्रत्युतः निम्न कोटि का भक्त है। जो वस्तु अन्यों से उपलब्ध हो सकती है, उसकी मांगनी भगवान् से की जाती है तो यह बात कम ज्ञान का परिणाम है। संसार में धन है, मकान है, फ्लैट है, वस्त्र है, सोना है, चांदी है इन सब पदार्थों की मांगनी किसी बड़े सेठ को खुश करके की जाए, तो वह भी इन वस्तुओं की पूर्ति कर सकता है, यदि कोई इन्हीं पदार्थों की मांगनी भगवान् से करता है तो वह भगवान् को क्या समझता है—पैसे वाला सेठ? यह धारणा यदि है तो बिल्कुल गलत है।

एक स्वर्ग का इन्द्र यहाँ आकर आपकी धर्म करणी से प्रसन्न होकर मन-इच्छित वरदान माँगने का प्रस्ताव रखे तो आप उससे क्या मांगोगे? आपकी कुछ मांगने की इच्छा होगी या नहीं? उत्तर होगा—क्यों नहीं होगी? अरे! आप तो बुद्धिमान हैं। अतः संभव है मोटी सारी लिस्ट बनालोगे। पर यदि कोई मनुष्य कहे कि इन्द्र! यदि आप मेरे पर खुश हो तो मैं वरदान माँगता हूँ कि मेरे घर में एक भैंस है, उसके लिये एक घास का भारा लाकर दे दो, दूसरा मनुष्य कहे कि मुझे भोजन बनाने हेतु लकड़ी अथवा कोयले की आवश्यकता है सो वह लाकर दे दो। तीसरा कहे कि मेरे लड़के को तीन दिन से बुखार आ रहा है, आप बुखार मिटा दो। चौथा कहे कि मेरी पुत्री की शादी नहीं हो रही

है, आप उसकी शादी करा दो। तो आप विचार करिये कि ऐसी मांग करने वालों ने इन्द्र की कितनी कद्र की, कितनी कीमत की ? जिसने घास का भारा माँगा उसने इन्द्र की कीमत मजदूर के वरावर की। जिसने लकड़ी, कोयले मांगे, उसने इन्द्र की व्यापारी जितनी कीमत की तथा जिसने बुखार उतारने के लिये कहा उसने मेटासिन की गोली जितनी कीमत की तथा जिसने पुत्री की शादी कराने की बात कही, वह तो एक सामान्य पुरुष भी करा सकता था। ऐसे मांगने वालों को आप यह कहोगे कि ये नासमझ हैं। इन्होंने इन्द्र की कद्र-पहिचान नहीं की कि उनमें कितनी शक्ति है। वल्कि इन तुच्छ वस्तुओं को मांगकर इन्द्र का अपमान कर दिया। चूँकि छोटी-छोटी वस्तु मांगने से उनकी कद्र नहीं होती वरन् उनका अपमान होता है। भारत के प्रधानमन्त्री यदि यहाँ आयें और आपके काम से खुश होकर आपसे पूछें कि आपको क्या चाहिये ? और आप उन्हें कहें कि आप इस स्थानक का झाड़ निकाल दीजिये तो उनका सम्मान हुआ या अपमान ? अपमान ही माना जायेगा तो फिर प्रधानमन्त्री से इन्द्र का पद वड़ा है और उस इन्द्र से भी वीतराग भगवान् वड़े हैं। पंच परमेष्ठी मंत्र से जिन भगवान् को याद करते हो, उनकी आप कितनी कीमत कर रहे हो ? यही तो ज्ञान की, श्रद्धा की कमी है। इसी कारण कई व्यक्ति वीतराग देव की कभी जानते-अजानते अशातना कर वैठते हैं, अविनय कर वैठते हैं। अतः आवश्यक है कि सही ज्ञान पाया जाय, ताकि आत्मा में ज्ञान का अभिनव आलोक प्रसरित हो, जिससे हिताहित का विवेक किया जा सके।

विश्व की समस्त भव्यात्माओं में ज्ञान की अनन्त शक्ति दवी हुई पड़ी है। जिस प्रकार कि अंगारे पर राख आ जाने से उसकी तपन आच्छादित हो जाती है, सूर्य पर वादल आ जाने से सूर्य का प्रकाश-तेज आच्छादित हो जाता है। इसी प्रकार भव्यात्माओं की अनंत-अनंत ज्ञान शक्तियाँ कर्मों से आच्छादित हैं। उन्हें उद्घाटित करने के लिये कर्मों के आवरण को हटाना होगा। ज्ञान का अभिनव आलोक विकसित करने हेतु सतत पुरुषार्थशील वनना होगा। उत्तराध्ययन के ३२ वें अध्ययन की दूसरी गाथा में महाप्रभु ने वतलाया है—

"नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥"

अज्ञान और मोह का क्षय करिये, राग और द्वेष को हटाइये, परिपूर्ण ज्ञान की ज्योति जगाइये और एकान्त मोक्ष को प्राप्त करिये। वं [illegible] ।[illegible]राग देव तो निमित्त वनते हैं, वास्तव में उपादान हमारा ही होत [illegible] पुरुषार्थ करता है तभी भीतर में रहा हुआ ज्ञान प्रकाश [illegible] । भगवान् की स्तुति इसलिए की जाती है कि वे भव्यात्म [illegible] करने में निमित्त वनें, जिससे उनके भीतर में रहा हुआ [illegible]

छोटे बालक को आप स्कूल में भेजते हैं, वह बालक वर्णमाला सीखता है, कितना प्रयत्न करता है, बार-बार उसे देखता है, लिखता है, तब वह उसे जान लेता है। उसी प्रकार जो ज्ञान भीतर है उसे निरन्तर पुरुषार्थ करने पर प्रकट किया जा सकता है। इसके लिये ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा उत्पन्न करना अतीव आवश्यक है। आप किसी को निमन्त्रण देंगे तो ही वे आपके घर आयेंगे और उनका आप सत्कार सम्मान करेंगे तभी वे आपके यहाँ जीमेंगे। इसी प्रकार ज्ञान के प्रति विनय करना आवश्यक है, ज्ञान और ज्ञानी के प्रति बहुमान करना आवश्यक है। विनय, बहुमान होगा, तभी वह भीतर में प्रवेश कर सकता है। ज्ञान के प्रति विनय कैसे करें? इसके लिए वीतराग देव के ज्ञान की कीमत करें। यह मानकर चलें कि वीतराग देव का जो ज्ञान था, है, वह अद्वितीय, अनुपम है, सत्य एवं सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी श्रद्धा करके विनय के साथ उसे पाने की पात्रता अर्जित करें। तदनन्तर वीतराग देव के उपदेश का चिन्तन-मनन करें। ध्यान में बैठकर प्रभु के सिद्धान्तों की गहराइयों में उतरें। उन्हें मथकर उनका नवनीत निकालें। यद्यपि ध्यान की प्रक्रिया भी महाप्रभु ने बहुत बतलाई है। संत बाहर जाते हैं तो आकर ध्यान करते हैं, सोते एवं जागते समय भी ध्यान करते हैं। जैसे—साधु को समय-समय पर ध्यान की प्रक्रिया प्रभु ने बतायी है, वैसे ही श्रावकों को भी सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि में ध्यान की प्रक्रिया का विधान किया गया है। ये ध्यान तो फिर भी आप करते ही होंगे पर आप ज्ञान को प्रकट करने का कितना व कौन-सा ध्यान कर रहे हैं? "णमो नाणस्स" की माला फेरने मात्र से अथवा "णमो नाणस्स" का ध्यान करने मात्र से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। सबसे पहले तो ज्ञान को प्रकट करने के लिये ज्ञान के प्रति एवं ज्ञानी के प्रति विनय होना चाहिये। विनय के साथ बहुमान भी अति आवश्यक है।

विनय का स्वरूप तो आप सम्यक् तरीके से जानते होंगे। फिर भी कुछ विनय का स्वरूप भी स्पष्ट कर देता हूँ। "विनय" सम्यक् ज्ञान का द्वितीय आचार है। विनय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बतलाया है कि 'विनीयते कर्मानिनेति विनयः' जिससे व्यक्ति कर्म बंध से निवृत्त होता है, उसे विनय कहते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों का विनय करने से, झुकने से भव्यात्माओं के कर्म भी झुक जाते हैं और एक दिन आत्मा से अलग भी हो जाते हैं। स्थानाङ्ग सूत्र के ७ वें ठाणे में विनय के ७ भेद प्रतिपादित किये हैं—"सत्तविहे विणए पण्णत्ते तंजहा— णाण विणए, दंसण विणए, चरित्त विणए, मण विणए, वत्ति विणए, काय विणए, लोगोवयार विणए।

विनय के सात भेद हैं—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, मन विनय, वचन विनय, काय विनय और लोकोपचार विनय। सात प्रकार से अपने विनय भावों को बनाये रखना सम्यग् ज्ञान पाने के लिये आवश्यक है।

विनम्रता कैसी होनी चाहिये इसके लिये गौतम स्वामी का आदर्श सामने है। भगवान् जब निर्वाण पधार रहे थे, उस समय दूर-दूर से लोग महाप्रभु की सेवा में आए हुए थे महाप्रभु के निर्वाण को देखने के लिये। ऐसे समय में महाप्रभु ने गौतम स्वामी को आदेश दिया—देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिये। गौतम स्वामी उसी क्षण बिना रुके खड़े हो गए और महाप्रभु को वन्दन कर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने प्रस्थित हो गए।

बंधुओ! विचार करिये! गौतम स्वामी का विनय कितना उच्चकोटि का था। उन्होंने मुँह से उफ तक करने की बात तो दूर रही, पर मन में भी यह नहीं सोचा कि महाप्रभु इस विकट समय में मुझे क्या आदेश फरमा रहे हैं। यह तो बाद में भी किया जा सकता है। अभी तो मुझे यहीं रहना चाहिये। ऐसा कुछ न सोचकर वे अत्यन्त विनय के साथ वहां से रवाना हो गए। विनय ऐसा होना चाहिये जीवन में। जब इतना उच्च कोटि का विनय आता है, तब विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति में भी देरी नहीं लगती। गौतम स्वामी ने विनम्रता का उत्कृष्ट रूप उपस्थित किया तो विशिष्ट परिणाम भी सामने आया कि उन्हें केवलज्ञान केवल दर्शन प्राप्त हो गया।

यह तो प्रभु महावीर के समय की बात है। लेकिन मैं आपको निकट अतीत में हुई घटना भी सुना देता हूँ। प्रभु महावीर की इस क्रांतिकारी परम्परा के ७६ वें पाट पर विराजमान आचार्य श्री उदयसागर जी म. सा. के जीवन से संबंधित घटना है। उन्हें जब यह ज्ञान हुआ कि रामपुरा में केशरीमलजी गांग नाम के श्रावक शास्त्रों के विशिष्ट ज्ञाता हैं तो वे जब रामपुरा पधारे तो सोचा कि उनसे शास्त्रीय चर्चा की जाय ताकि यदि उनके पास और भी नया ज्ञान हो तो प्राप्त हो सके।

आचार्य प्रवर जिज्ञासु बने और उस श्रावक को अपने यहाँ न बुलाकर स्वयं चलकर उसके घर पहुँचे। जब केशरीमलजी को ज्ञात हुआ कि आचार्य प्रवर ज्ञान–पाने की जिज्ञासु भावना से मेरे पास आ रहे हैं तो उनके मन में आचार्य प्रवर की जिज्ञासु भावना के प्रति अत्यन्त श्रद्धा जागृत हुई। किन्तु इसी के साथ ही एक विचार मन में आया कि जरा आचार्य प्रवर का परीक्षण किया जाय कि इनमें जिज्ञासा के साथ ज्ञान पाने के लिये विनयाचार की स्थिति भी है या नहीं? आचार्य प्रवर ने जब केशरीमलजी के घर में प्रवेश किया तो आश्चर्य!
कि वह श्रावक उठकर भी सामने नहीं आता है। किन्तु वि
गहराइयों में उतरे आचार्य प्रवर कुछ भी अन्यथा न विचारते हुए
पास पहुँचकर फरमाते हैं कि मुझे आपसे शास्त्र चर्चा कर ज्ञान
तब केशरीमलजी ने कहा कि अभी अवसर नहीं है। एक
तो उसके घर पहुँचे और फिर श्रावक यह कह दे कि अभी
आज के युग में कैसी विचित्र स्थिति बन सकती है, यह ।

आचार्य प्रवर तो उसी जिज्ञासु भावना के साथ लौट गये। दूसरे दिन पुनः उनके घर पर जाकर यही कहा, तव भी उन श्रावक जी का यही जवाब मिला। फिर भी आचार्य प्रवर ने कुछ भी अन्यथा नहीं विचार किया और तीसरे दिन भी उसी जिज्ञासु भावना के साथ उनके घर पहुँचे, तव केशरीमलजी यह अच्छी तरह समझ गये कि आचार्य प्रवर सम्यक् ज्ञान और क्रिया की ठोस भूमि पर खड़े हैं। इनके जीवन में संयमी मर्यादाएं साकार हो उठी हैं। बस! फिर क्या था, ज्योंही उन्होंने आचार प्रवर को दूर से आते देखा, त्यों ही उठकर सामने गये। विनम्रता से वन्दन नमस्कार किया और अश्रुधारपूर्वक अपने अविनय के लिये वार-वार क्षमा याचना करने लगे। वास्तव में आचार्य प्रवर, प्रभु महावीर के संयमी सिद्धान्तों के प्रायोगिक आदर्श थे। उनका जीवन प्रभु महावीर के सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष करने वाली प्रयोगशाला था। वे अपने जीवन प्रयोग से महाप्रभु के सिद्धान्तों का प्रायोगिक रूप उपस्थित करते थे। केशरीमल जी गांग ने निवेदन किया—"कहाँ आप और कहाँ मैं? आपके विशाल ज्ञान के आगे मेरा ज्ञान क्या महत्त्व रखता है? फिर भी आप जो चाहें, चर्चा करें। मेरे पास जो कुछ है, गुरुओं के प्रसाद से है, उसे अवश्य मैं आपको देने को तैयार हूं। चर्चा करने से आपको मेरे से कुछ मिले या न मिले, पर मुझे आपसे बहुत कुछ मिलेगा।"

वन्धुओ! सम्यक् ज्ञान पाने के लिये किस प्रकार का विनय होना चाहिये, जरा विचार करिये। ऐसे आदर्शों से कुछ जीवन में शिक्षा ग्रहण करने का प्रसंग है। आचार्य प्रवर की विनम्रता का प्रभाव उनके शिष्यों में पर्याप्त मात्रा में था। उसके भी कई प्रसंग हैं। पर एक प्रसंग सामने रख देता हूँ।

आचार्य प्रवर का एक शिष्य अत्यन्त विनयशील था। उसकी विनम्रता को लेकर गुण गरिमा वहुत दूर-दूर तक फैली हुई थी। इसी विनम्रता के आदर्श को देखने के लिये एक बार एक सरकारी आदमी आचार्य प्रवर के पास पहुँचा और पूछने लगा कि भगवन्! मैंने सुना है कि आपके पास एक अत्यन्त विनम्रशील मुनिराज हैं, मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ। आचार्य प्रवर ने उसका कुछ भी उत्तर नहीं देते हुए एक साधु को आवाज लगाई। वे ऊपर वैठे हुए स्वाध्याय कर रहे थे। उन्होंने ज्यों ही गुरुदेव की आवाज सुनी तो 'तहत्ति' के साथ वाणी को स्वीकार करते हुए विनम्रता से गुरुदेव के चरणों में आ खड़े हुए। गुरुदेव ने उन्हें कुछ भी न कहते हुए वापस भेज दिया। वे ऊपर पहुँचे ही थे कि पुनः आवाज लगाई। वे पुनः उसी विनम्रता के साथ उपस्थित हुए। फिर उन्हें कुछ भी कहे बिना वापस भेज दिया। यह क्रम लगातार लगभग २७ बार तक चलता रहा। वे मुनिराज बिना किसी तर्क के अत्यन्त श्रद्धा के साथ गुरुदेव के चरणों में उपस्थित होते रहे। उनके मन में भी यह भावना नहीं आयी कि गुरुदेव यह क्या कर रहे हैं? काम है जो बतला क्यों नहीं देते? बार-बार बुलाते क्यों हैं?

ऐसा कुछ भी न सोचकर वे अत्यन्त श्रद्धा के साथ आते रहे। आखिर वह अफसर समझ गया कि विनयशील मुनिराज कौन हैं ? उसने गुरुदेव से निवेदन किया—भगवन् मैंने इनके दर्शन कर लिये हैं। आप इन्हें रोकिये। बार-बार कष्ट न दें।

सज्जनो ! देखिये विनम्रता का आदर्श ! क्या है ऐसी विनम्रता, आज की भव्यात्माओं में ? मैं सबकी बात नहीं कहता, पर अधिकांश साधक-साधिकाओं के जीवन पर विचार करता हूँ तो विनय की बहुत कमी महसूस होती है। गुरुदेव यदि शिष्य को बुला रहे हैं तो पहले तो वह जल्दी से आयेगा ही नहीं और आ भी गया और उसे कुछ भी बतलाये बिना कारण जाने के लिये कहा गया तो वह तुरन्त प्रतिक्रिया कर बैठेगा कि अरे ! फिर बुलाया किस लिये ? बिना कारण इधर-उधर घुमाने का क्या तात्पर्य ? विनम्रता के अभाव में ही कइयों की साधना सफल नहीं हो पाती। महाप्रभु ने विनय को धर्म का मूल बतलाया है। "विणओ धम्मस्स मूलो" जब तक विनयाचार की स्थिति जीवन में नहीं आयेगी तब तक सम्यग्ज्ञान का विकास नहीं हो सकता।

वैसे आप लोग देख ही रहे हैं कि ये संत-सती वर्ग किस प्रकार सुन्दर तरीके से विनय एवं अनुशासन पद्धति को लेकर चल रहे हैं। यह सब उन अतीत के क्रान्तिकारी आचार्यों की साधना का परिणाम है कि एक ही की आज्ञा में पूरा साधु-साध्वी समाज, शिक्षा-दीक्षा, प्रायश्चित, चातुर्मास आदि कार्य सम्पन्न कर रहा है, यह भी विनम्रता का प्रतीक है।

भव्यात्माओं के जीवन में सम्यग्ज्ञान की ज्योति जगाने हेतु इस दूसरे विनयाचार को जीवन में स्थान दीजिये। गुर्वादिक के प्रति विनम्रता का व्यवहार रखिये। अवश्य ही यह विनम्रता विकास की ओर ले जाने वाली बनेगी। विनम्रता के अभाव का ही परिणाम समझिये कि आज की युवापीढ़ी भौतिक विज्ञान की दृष्टि में इतना विकास करने के बाद भी दुःख द्वन्द्वों में उलझती जा रही है। अतः स्पष्ट है जब तक जीवन में विनय नहीं आयेगा, तब तक सम्यग्ज्ञान नहीं आयेगा और जब तक सम्यक् ज्ञान नहीं आयेगा, तब तक सम्यक्-आचरण नहीं बन सकेगा और बिना सम्यक्-आचरण के शांति पाने की कल्पना मृग मरीचिका के तुल्य ही होगी।

विनयाचार के बाद सम्यग्ज्ञान का तृतीय आचार है—बहुमानाचार। बहुमान का अर्थ है ज्ञानी और गुरु के प्रति हृदय में भक्ति और श्रद्धा का भाव रखना। ज्ञानी एवं गुरु का दिल जिससे प्रसन्न हो वैसा ही कार्य करना, भावेन उनके प्रति समर्पित हो जाना। जब तक पूरा समर्पण नहीं तक ज्ञान हृदयंगम नहीं होता। विद्वान् श्री अम्बिकादत्त जी ओझा प्रसंग है जब वे संतों को पढ़ाते थे, तो कभी अपने जीवन का कहते थे। कि आज विद्यार्थी पढ़ने की इच्छा कम रखते हैं। यही

करने के लिये स्कूल-कॉलेजों में जाते हैं, पर अध्यापकों पर अपना आर्डर चलाते हैं, किन्तु हमारे समय में पढ़ाने वाले बहुत कम मिलते थे, और जो मिलते थे, वे भी पैसे लेकर नहीं पढ़ाते थे, वे कहते थे कि हम ज्ञान नहीं बेचते। पैसे लेकर पढ़ाने से हम व्यापारी बन जायेंगे। वे गरीब भी क्यों न हों? खेती-वाड़ी करके काम चला लेते थे, मजदूरी करके पेट भर लेते थे, पर विद्या का व्यापार नहीं करते। मैं जिस गुरु से पढ़ता था, उनकी ऐसी ही गरीब अवस्था थी। वे खेती का कार्य करते थे, और हम स्वयं उस समय गरीब अवस्था में थे, मजदूरी करके ही पेट भरते थे। आज तो विद्यार्थी को कितने पौष्टिक तत्त्व मिलते हैं शरीर को तन्दुरुस्त रखने के लिये। उनके लिए बोर्डिंग में हर साधन की उपलब्धि हो जाती है, पर हमारी यह अवस्था थी कि खाने को धान पाने के लिये भी परिश्रम करना पड़ता और पढ़ाने के लिये भी गुरुजी के पास टाइम कहाँ रहता? गुरुजी जब खेती में हाँकते-हाँकते थक जाते थे तब, जब विश्रान्ति के लिए बैठते, उस समय हम उनसे विनय-वैयावच्च करते हुए ज्ञान लेते थे और रात्रि में उस समय प्रकाश का साधन न होने से जुगनू को पकड़कर उसके प्रकाश में याद करते थे। खाने के लिये चने की दाल जिसे भिगोकर रख देते और उसे खाते थे तथा एक लगन से अध्ययन करते थे।

विचार करिये बन्धुओ! कहाँ तो वह स्थिति और कहाँ आज की स्थिति! आज तो कितनी सहूलियत आ गयी है इन विद्यार्थियों के पास। फिर भी क्या दशा हो रही है?

उदयपुर में मेरी एक प्रोफेसर से बात-चीत हुई थी। बात-चीत के सिलसिले में उन्होंने कहा कि "मुझे ट्राफिक का जितना डर नहीं रहता, उतना डर रहता है कॉलेज के लड़कों का। ट्राफिक से तो सावधानी के साथ बचा जा सकता है, पर कॉलेज के लड़कों से सुरक्षित बचकर घर पहुँचना अतीव कठिन है, उनके साथ बड़े विवेकपूर्वक व्यवहार करना पड़ता है।" देखिये! लौकिक ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की यह स्थिति है। अब विचार करिये ऐसी स्थिति में उन विद्यार्थियों को पढ़ने का क्या फल मिल सकता है, जिनका अपने गुरु के प्रति समर्पण न हो, विनय न हो, वह भले ही कितना ही ज्ञान पा लें, जीवन में सफल नहीं हो सकते। इसीलिये आज आप देख सकते हैं, कितने ही पढ़े-लिखे ग्रेजुएट लोग बेरोजगार घूम रहे हैं। इनकी बेरोजगारी में एक कारण गुरु के प्रति अविनय भी है।

जब भौतिक क्षेत्र में भी सफल होने के लिये विनय की आवश्यकता है। तब आध्यात्मिक क्षेत्र में कितनी क्या विनय की आवश्यकता रहती है? यह अत्यन्त विचारणीय है। परन्तु खेद है कि आज आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में भी विद्यार्थियों की क्या दशा हो रही है? मैं क्या कुछ कहूँ? बन्धुओ। ज्ञान लेने के लिये विनय और बहुमान की अति आवश्यकता है। जिसमें विनय तो हर कार्य

कर लेता है, पर बहुमान करना कोई सहज कार्य नहीं है । इसे आप एक उदाहरण के द्वारा समझिये—

एक गुरुजी के पास कई शिष्य आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन करते थे, जो किताबों से नहीं प्रत्युत अनुभूति से मिलता था । चूँकि अनुभूति का ज्ञान अनुभूति से मिलता है । अक्षरीय ज्ञान भले ही पुस्तकों से मिल जाए, पर ज्ञानी जनों का फरमाना है कि "ज्ञान पोथी से न चाहो, किन्तु नम्र भाव से आत्मा को झुकाकर, गुरु से पूछकर उनकी सेवा करके प्राप्त करो ।" आध्यात्मिक ज्ञान का निर्झर वहाँ बह रहा था । उसी समय, संयोग की बात है, एक सम्यग्दृष्टि देव आकाश मार्ग से दसरे स्थान पर जा रहा था । उसका उपयोग उस आध्यात्मिक अध्ययन कराने-करने वाले गुरु—शिष्यों की तरफ गया । उस ने देखा कि गुरुजी शिष्यों को अपने अनुभव का ज्ञान दे रहे हैं और शिष्य बड़े विनयपूर्वक ग्रहण कर रहे हैं । पर बहुमानाचार इनके जीवन में कितना क्या है ? इस बात को उस देव ने प्रैक्टिकल रूप से जानना चाहा । अतः उसने अपनी देव शक्ति से ऐसा रोग पैदा किया, जिससे गुरुजी की दोनों आँखें चली गईं । तत्पश्चात् वह स्वयं चिकित्सक का रूप बनाकर वहाँ पहुँचा और जोर-जोर से कहने लगा कि कोई दुःखी-दर्दी है, किसी के नेत्र चले गये हैं तो मैं ठीक कर सकता हूँ । यह बात शिष्यों ने श्रवण की तो विनयपूर्वक गुरु की आज्ञा लेकर उसके पास पहुँचे । उस देव रूप चिकित्सक के पास आकर कहा कि हमारे गुरुजी के नेत्र चले गये हैं । आप उनके नेत्र पुनः लौटा दीजिये । वह चिकित्सक रूपधारी देव अन्दर आया और शिष्टाचार दर्शाते हुए गुरुजी को देखने लगा । सभी शिष्य भी गुरु के आस-पास बैठ गये ।

चिकित्सक ने नेत्रों को देखा और कहा कि इनके नेत्रों में रोशनी तो है, पर ऊपर की अवस्था विकृत हो गई है । अतः इनके नेत्रों को ठीक तो किया जा सकता है, पर किसी दूसरे जीवित मनुष्य के नेत्र निकाल कर लगाने पड़ेंगे । आप विनयवान हैं, गुरु के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पित हैं, तो क्या, आप में से कोई नेत्र दे सकता है ? यह सुनकर सभी विद्यार्थी आगे पीछे होने लगे और बहाने करने लगे कि गुरु महाराज के तो इतने चेले हैं, उनकी तो सेवा हो जायेगी; पर हमारे कौन से चेले हैं ? अगर हमारी आँखें चली गयी तो हमारी सेवा कौन करेगा ? पर उनमें से एक विद्यार्थी बिना बुलाये ही सामने आया और बड़ी विनम्रतापूर्वक कहने लगा, कि मेरा सारा शरीर ही गुरु चरणों में समर्पित है । आप सहर्ष मेरे नेत्र निकाल कर गुरुजी के लगा दीजिये । ऐसा कर
बैठ गया, नेत्र निकलवाने के लिये । तब देव ने उसके बहुमा
होकर अपनी सारी माया समेट ली और अपना दिव्य देव रूप प्र
गुरुजी के नेत्र पूर्ववत् कर दिये तथा उस शिष्य को साधुव
"तुम धन्य हो, जो ज्ञानाचारों से सम्पन्न बन, अपने अन

प्राप्त करने में प्रयत्नशील बने हुए हो ।" बन्धुओ ! यह है विनय और बहुमान में अन्तर । विनय तो सभी कर लेते हैं, पर बहुमान करना अतीव कठिन है। आज भी बहुत से व्यक्ति वीतराग देव का ज्ञान प्राप्त करने के लिये तत्पर तो हो जाते हैं, पर यह मानकर चलिये कि उनमें गुरु के प्रति विनय के साथ बहुमान की प्रवृत्ति जीवन में नहीं आयेगी, तब तक भीतर का ज्ञान प्रगट नहीं हो सकेगा। अतः ये बहुमूल्य उपाय रूप ज्ञानाचार ज्ञानियों ने बताये हैं। उन उपायों को अतीव श्रद्धा के साथ अपनाने का प्रयास करना चाहिये ।

आज प्रतिक्रमण करने में भी कई भाई लोग बहाना बनाते हैं कि हमें प्रतिक्रमण याद नहीं होता है । याद नहीं होता है तो बन्धुओ ! यह आपका प्रमाद है, आलस्य है । यह आप भव्यात्माओं के लिये योग्य नहीं है । सत्पुरुषार्थ करते जाइये और ज्ञान के साथ विनय, विनय के साथ बहुमान एवं आगे के भी सभी आचारों का परिपालन करिये, अवश्य ही आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होगा। अन्यथा आत्म कल्याण असंभव है । जब तक सम्यक्ज्ञान एवं वीतराग वाणी पर सम्यक् श्रद्धान नहीं होगा, जब तक गुरु के प्रति परिपूर्ण समर्पण, बहुमान नहीं आयेगा, तब तक जीवन से वास्तविक रूप में अज्ञान अंधकार दूर नहीं हो सकेगा, ज्ञान का सच्चा प्रकाश नहीं जगमगा सकेगा । बहुमानाचार की स्थिति जीवन में कैसे लाई जाय—इसके लिये भी मुझे आचार्य श्री उदयसागरजी म. सा. के एक शिष्य का घटनाक्रम याद आ रहा है। वैसे समय आपका हो रहा है फिर भी उसे सुना देता हूँ । एक शिष्य के हाथ से अचानक काष्ठ पात्र टूट गया, उस समय आचार्य प्रवर बाहर पधारे हुए थे और इधर ये मुनिराज किसी आवश्यक कार्य से बाहर पधार गये । आचार्य प्रवर जब वन-विहार से लौटे और देखा कि पात्र टूटा हुआ पड़ा है तो जो संत वहाँ उपस्थित थे, आचार्य प्रवर ने यही समझा कि इसी ने पात्र तोड़ा है और वे उपालम्भ की भाषा में शिक्षा फरमाने लगे कि अरे ! यह क्या कर दिया ? थोड़ा विवेक रखना चाहिये। इस तरह परिश्रम-पूर्वक बने पात्र को फोड़ देना अयतना का परिणाम है । आलस्य-प्रमाद को छोड़-कर अवधानता से काम करना चाहिए ।

वे शिष्य गुरुदेव की वाणी को अत्यन्त भक्ति एवं बहुमान के साथ सुनते रहे । लेकिन जब वे मुनिराज आए, जिनके हाथ से पात्र टूटा था, और उन्होंने देखा कि पात्र मेरे हाथ से टूटा है और उपालंभ इनको मिल रहा है तो वे तुरन्त बोले भगवन् ! पात्र इन मुनिराज के हाथ से नहीं मेरे हाथ से टूटा है । आचार्य प्रवर बोले—अरे ! तुमने बतलाया नहीं कि मेरे हाथ से नहीं टूटा ? तब वे क्षमा-सागर मुनिराज बोले—भगवन् ! यदि मैं ऐसा बोल देता तो आज आपकी यह अमृतमय शिक्षा कहाँ सुनने को मिलती ? ये मुनिराज भी हैं तो मेरे गुरु भ्राता ही । इनके संयोग से मुझे आज हितशिक्षा सुनने को मिली ।

भव्य पुरुषो ! देखिये बहुमान का आदर्श । गुरु के प्रति, गुरु के वचनों के

प्रति कितना बहुमान होना चाहिये—यह इस घटना से स्पष्ट होता है। यदि बहुमान की ऐसी स्थिति बनती है तो सम्यक् ज्ञान का जीवन में त्वरित विकास हो सकता है। इन ऐतिहासिक दृष्टान्तों के घटनाक्रम का भाव ही मैं आपके सामने रख गया हूँ।

अन्त में मेरा आपसे यही कहना है कि सम्यक् ज्ञान का आलोक प्राप्त करने के लिए विनय एवं बहुमान के स्वरूप का बोध प्राप्त करिये। विनय-बहुमान के साथ शास्त्रीय अध्ययन करने हेतु वीतराग वाणी का रसपान कीजिये। इस प्रकार से किया गया ज्ञान, निश्चय ही सम्यक् रूप में परिणमित होगा और आत्मा में विशिष्ट ज्ञान और विशिष्ट शांति प्राप्त कराने में सहायक बनेगा।

मोटा उपाश्रय, ३०—७—८५
घाटकोपर, बम्बई मंगलवार



३१ उपधानाचार

(सम्यक्ज्ञान का चतुर्थ आचार)

वीतराग परमात्मा के कई नाम भूतकालीन दृष्टि से प्रचलित हैं। जिस शरीर से आत्मा ने मोक्ष प्राप्त किया, उस शरीर से सिद्ध भगवन्तों की स्तुति करने हेतु उनको उन्हीं नाम से पुकारा जाता है। इस काल चक्र में तीर्थंकर २४ हो गये हैं। उनकी स्तुति जो वर्तमान में करने में आ रही है, वह सब भूतपूर्व शरीर के नाम को लेकर ही। सिद्ध भगवन्त होने के बाद उस आत्मा का कोई पृथक् नाम नहीं रह जाता है। आचारांग सूत्र में सिद्ध के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

"अवण्णे, अगंधे, अरसे, अरुवे, अफासे, अपयस्स पयं नत्थि।"

सिद्ध भगवन्त के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श कुछ नहीं है तथा अपद अर्थात् शब्दों से सिद्ध भगवान् के स्वरूप का पूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता है। अतः वे अपद है। सिद्ध भगवन् को चाहें जिस रूप में पुकारा जाये, पर उनका मौलिक शुद्ध स्वरूप ही सामने रखना चाहिये। उनका स्वरूप समकक्ष रखकर ही वीतराग भगवान् के सिद्धान्तों को श्रवण किया जाना अपेक्षित है। ऐसा कहने पर ही आत्मा अपनी आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए उल्लसित हो सकती है। आज जो धर्मस्थान में सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि का विशेष प्रसंग दृष्टिगत हो रहा है, उन सभी का एक ही उद्देश्य होना चाहिये— मोक्ष प्राप्ति का।

चतुर्विध संघ में साधना करने वाले सभी का एक ही लक्ष्य है पर सभी की साधना पद्धति भिन्न-भिन्न है। एक मंजिल है पर चलने के रास्ते भिन्न-भिन्न हैं। एक महाव्रतों की सड़क पर चल रहा है तो दूसरा अणुव्रतों की। एक हवाई-जहाज में जा रहा है, तो दूसरा बैलगाड़ी में। पर पहुँचना दोनों को एक ही जगह है। कौन कब पहुँचता है, यह अपने-अपने सद् पुरुषार्थ पर निर्भर है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र में प्रभु ने फरमाया है कि—

"सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा॥"

अर्थात्—कुछेक साधुओं से तो गृहस्थों का संयम भो अच्छा होता है। और सव गृहस्थों से साधुओं का संयम श्रेष्ठ होता है। भावार्थ यह है कि कुतीर्थी, भग्नव्रती और निह्नवादि साधुओं की अपेक्षा व्रत नियमादि को पालने वाले, गृहस्थों को इसलिये श्रेष्ठ कहा गया है कि कुतीर्थियों में तो सम्यक् चारित्र के अभाव से संयम का होना असम्भव है और भग्नव्रती तथा निह्नवादि चारित्र के विराधक हैं इसलिये उनमें भी संयम नहीं हो सकता है। अतः उनकी अपेक्षा देश चारित्र की आराधना करने वाले गृहस्थों के संयम को अवश्य श्रेष्ठ कहा है। पर जो सर्वविरति प्रधान साधु हैं, उनका संयम सभी देशविरति साधकों से अनुत्तर हैं। क्योंकि उनमें द्रव्य-भाव दोनों प्रकार से चारित्र की उच्चता होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि चारित्र की न्यूनाधिकता चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम पर निर्भर है। अतः जितना-जितना उक्त कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम में पुरुषार्थ किया जाता है, उतनी-उतनी देशव्रत या सर्वव्रत के रूप में धर्म की प्राप्ति अधिक होती है। आप इस वात का दृढ़ श्रद्धान करें कि आत्मा बंधन की स्वयं निर्मात्री है तो वंधन को तोड़ने वाली भी आत्मा ही है। अतः सद्-पुरुषार्थ को जागृत करें। सम्यक् धर्म आराधना की स्थिति जीवन में अपनायें।

जो रत्नत्रय की आराधना भगवती सूत्र में प्रभु ने वताई है, वही विषय स्थानांग सूत्र में त्रिविध धर्म के रूप में तथा तत्त्वार्थ सूत्र में "सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" और आगम गाथा में अहिंसा, संयम और तप रूप में दर्शाया गया है।

"धम्मो मंगलं मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।"

आप आराधना करने के लिए यहाँ उपस्थित हुए हैं। अतः आराधना का स्वरूप समझकर मनुष्य जीवन को सार्थक करने का प्रसंग है। शास्त्र की बातें वहुत तत्त्वपूर्ण हैं, जिनके विवेचन में बहुत समय अपेक्षित है। ऊपर-ऊपर की आदर्शभूत वातें तो कहने में आ जाती हैं। पर वर्तमान जीवन में कैसे आचरण की भूमिका पर आकर जीवन का रूपान्तरण कर सकें। प्रेक्टिकल रूप किस तरह जीवन में आये इत्यादि का विचार करने की स्थिति वहुत कम वनती है। सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप जो सारभूत रत्न-त्रय है, वही आत्मा की प्यास वुझाने वाला है। आध्यात्मिक सुख की तृप्ति कराने वाला है। अनन्त आनन्द में अवगाहन कराने में समर्थ है।

अनन्त शक्ति पैदा करने वाले ये तीन ही तत्त्व हैं। इनका आचार क्या है?—आचार का तात्पर्य है जीवन में जो व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण करने में आ- हैं। उन्हें किस तरह जीवन में उतारना, कैसे उनकी आराधना करना, यह प- आचार कहलाती है। इसी क्रम में तपस्या को जीवन के व्यवहार पथ में ल-

भी ज्ञान का आचार है। जिस प्रकार—सम्यग्दर्शन को किस तरह जीवन में लाया जाये, यह सम्यग्दर्शन का आचार है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान को जीवन में जागृत करने के लिये ज्ञान के आठ आचार का प्रसंग भी आपके सामने चल रहा है। जो सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक भूत हैं। उनमें से काल, विनय और बहुमान इन तीन आचारों का संक्षिप्त विवेचन तो मैं कर चुका हूँ। चौथा आचार है—**उपधानाचार** अर्थात् उपधान तप, जिसका तात्पर्य है ज्ञान प्राप्त करते हुए आयम्बिल वगैरह तप करना। आज उपधान तप का जो मौलिक स्वरूप है, आज बहुत स्थानों पर वैसा नहीं हो रहा है। उसमें विकृति दृष्टिगत होती है। शास्त्र का जो आशय तप को लेकर रहा हुआ है, उसका संकेत मैं आपके सामने करना चाह रहा हूँ।

भीतर का अनन्त ज्ञान कैसे प्रकट हो सकता है, इसके लिये प्रभु ने अनेक उपायों के साथ उपधान तप भी बताया है। कई मनुष्य उपधान तप का अर्थ आयम्बिल तप करना मानते हैं और उसी अर्थ को आचार में उतार कर संतुष्टि कर लेते हैं। पर उपधान का यह सीमित अर्थ नहीं है। अन्तर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपधान तप—आयम्बिल तप जरूर करना चाहिए। आयम्बिल तप करने से क्या होता है ? तथा उसी को उपधान तप क्यों बताया है। उसका रहस्य यह है कि आप उपवास करते हो, उससे पाँच इन्द्रियों के विषय एवं चित्त के विकार उपशांत हो जाते हैं। पर पाँचों इन्द्रियों में विशेष विषय की तरफ झुकी हुई यह जिह्वा जितनी अपने विषय में संशोधन की स्थिति को प्राप्त होती है, उतनी ही अवशेष चार इन्द्रियां भी शिथिल होती जाती हैं। उपवास के दिन जिह्वा भूखी रहने से चारों इन्द्रियाँ भी वशीभूत रहती हैं। पर दूसरे दिन जब पारणा किया जाता है तब जिह्वा की विषयपूर्ति होते ही अवशेष चार इन्द्रियाँ भी अपनी-अपनी विषय प्रवृत्ति को चालू कर देती हैं। उपवास तो फिर भी आप लोग सहज कर लेते हैं, पर आयम्बिल करने से बहुत से मनुष्य कतराते हैं। कारण कि उसमें इस जिह्वा की विषयपूर्ति नहीं होती है। निरस पदार्थ खाने पड़ते हैं। उस निरस भोजन को खाना जिह्वा को वश में रखना कोई सहज नहीं है। आपने धन्ना अणगार का वर्णन सुना होगा, जो बेले-बेले की तपस्या का पारणा आयम्बिल से करते थे और वह आयम्बिल का भोजन भी कैसा ? रंक-भिखारी भी जिस भोजन को खाने की इच्छा नहीं करे, वैसा आहार लाकर उसे २१ बार पानी से धोकर करते थे तथा उस पानी को पीते थे। यदि आपको भी आयम्बिल के दिन ऐसी ही वस्तु मिले तो आप कितने आयम्बिल करेंगे ? बन्धुओ ! धन्ना अणगार जैसा उत्कृष्ट आयम्बिल करते थे, वही वास्तव में उत्कृष्ट उपधान तप है। क्योंकि कर्म निर्जरार्थ एवं ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति में उपधान तप है और उससे अनन्त ज्ञान राशि की प्राप्ति में अधिक सहायता मिलती है। जब श्रेणिक महाराज ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया कि हे

भगवन्! आपके चौदह हजार शिष्यों में सबसे ज्यादा निर्जरा करने वाला महान् तपस्वी कौन है ? तब प्रभु ने फरमाया कि हे श्रेणिक ! धन्ना अणगार है। क्योंकि वह बेले-बेले का पारणा करता है। और पारणे में भी उपधान तप आयम्बिल तप करता है। जिससे वह बहुत अधिक कर्म की निर्जरा कर रहा है। धन्ना अणगार के लिये जैसा कि अनुत्तरोपपातिक सूत्र में पाठ मिलता है—

"तएणं से धण्णे अणगारे जं चेव दिवसं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइयाए तं चेव दिवसं भगवं महावीर वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी— एवं खलु इच्छामिणं भन्ते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समण्णे जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं आयंबिले-परिग्गहिएणं तवो कम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरित्तए, छट्ठस्सवि य णं पारणगंसि कप्पइ में आयंबिलं पडिग्गहित्तए, णो चेव णं अणायंबिलं, तंपि य संसट्ठेणं णो चेव णं असंसट्ठेणं, तंपि थ णं उज्झियधम्मियं, णो चेव णं अणुज्झियधम्मियं, तंपि य णं जं अन्ने बहवे समणमाहणे अतिहि-किवण वणिमग्गा णावकंखंति ? अहासुयं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेह ॥

तएणं से धण्णे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठ-तुट्ठ जावज्जीवाए छट्ठं-छट्ठेणं अणिखित्तेणं तवो-कम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

इस तरह कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। कर्म कटते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म खपता है। साथ ही मोहनीय कर्म के खपने से विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि होती है। यह उपधान तप सम्यग् ज्ञान का आचार है। पर ऐसा आयम्बिल करने का प्रसंग बहुत कम आता है। 'उप' का अर्थ है समीप, 'अधान' से तात्पर्य ज्ञान को प्राप्त करना। जो तप हमारे पास में रही हुई अनन्त ज्ञान राशि को प्राप्त करने में अर्थात् प्रकट करने में सहायक होता है। वह **'उपधान तप'** है। यह आयम्बिल तप का विशिष्ट स्वरूप है। २४ घण्टों की मौन लेकर आश्रव के त्याग के साथ आयम्बिल किया जाय। वह भी एक दानें का हो चाहे एक धान का, उसमें नमक, काली मिर्च आदि कुछ भी न हों। ऐसे निरस आहार को पानी में घोलकर आयम्बिल तप किया जाय। दिन भर मौन रखकर आत्मा के समीप जाने की कोशिश की जाय। तभी सम्यक् रूप से आपका यह आयम्बिल सार्थक होगा। तभी रसनेन्द्रिय को सही तरीके से जीता जा सकेगा जिससे क निर्जरा होगी और सम्यक् ज्ञान की पुष्टि होगी। २४ घण्टे तक मौन आयम्बिल का प्रसंग आवे तो उसमें आश्रव को बन्द रख कर संवर की की आराधना की जाय। अन्तर की आत्म स्थिति में अवगाहन कि क्योंकि आत्म स्वरूप के नजदीक पहुँचने पर ही उपधान तप की पू हो सकेगी। पर खेद है कि आज कई स्थानों पर आयम्बिल का

एकासना जैसी स्थिति अपनाकर आयम्बिल किया जाता है, यह उचित नहीं है परन्तु आज क्या कुछ स्थिति इस तप की बन रही है। सो आप देख ही रहे हैं विस्तार से कहने का प्रसंग नहीं। मैं तो सिर्फ शास्त्रीय बात बता गया हूं शास्त्र में वर्णित आयम्बिल तप के सही स्वरूप को समझकर उसी रूप में उसक यथाशक्ति सम्यक् अनुष्ठान किया जाय। आप अधिक से अधिक तप करें। मैं उसका अनुमोदक हूँ। पर उसे उसकी पद्धति के अनुसार ही करें। नाम तो आप आयम्बिल का करें एवं पदार्थ अन्य ग्रहण करें, यह कहाँ तक उचित है? क्य भगवान के समय में इस तप की यही पद्धति थी? आप जरा गहराई से विचा करें। यदि सही रूप से आयम्बिल तप का अनुष्ठान कर आत्मिक गुणों की अभिवृद्धि के साथ आत्मा के नजदीक पहुँचने की प्रवृत्ति में ज्यादा से ज्याद संलग्न बनोगे तो एक न एक दिन जरूर आप अनन्त कर्म निर्जरा के साथ अपने ज्ञान प्रकाश को जागृत कर सकोगे।

जिस तप की ज्यादा से ज्यादा प्रदर्शनी होती है, आत्मीय गुणों की सजावट के बजाय तप महोत्सव मनाते हुए शरीर को वस्त्राभूषणों से सजाय जाता है तो वहाँ तप की शक्ति एवं आत्मीय गुण विलुप्त होते जाते हैं। वे वास्तविक कर्म निर्जरा से वंचित हो जाते हैं। भौतिक संपत्ति को जिस तरह आप तिजोरी में बंद करके रखते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक गुणों को भी आत्मा-रूपी तिजोरी में स्थित करें। दिखावा नहीं करें, अन्यथा इनमें वाधा आयेगी। क्योंकि लौकिक संपत्ति के प्रदर्शन में भी कैसी बाधा आती है, इसके लिए एक दृष्टान्त दे देता हूं। जिससे आप लोग आध्यात्मिक सम्पत्ति को गुप्त रखने का मूल्य समझ सकें।

दृष्टान्त— मोतीलाल नाम के एक सेठ थे, उनके पास बहुत ज्यादा संपत्ति थी, वह अत्यधिक पाप अनुष्ठान से पूर्वजों द्वारा एकत्रित की हुई थी। एक बार रात्रि के समय मोतीलाल सेठ अपनी संपत्ति के विषय में चिन्तन करने लगे और उन्हें यह महसूस हुआ कि मेरे पास इतनी अधिक सम्पत्ति है पर मेरी कोई प्रसिद्धि नहीं हुई है। रात भर यही चिंतन चलता रहा। प्रातःकाल अपने घर के सभी सदस्यों को बुलाकर कहने लगे कि रात्रि में मुझे एक विचार आया, यदि आप लोग अनुमोदन करो तो मैं कहूँ। स्वीकृति मिलने पर उन्होंने कहा कि— देखो, अपने घर में इतनी सम्पत्ति है, पर अभी तक राज-दरबार में मेरा कुछ भी मान-सम्मान नहीं है। अतः अपने यहाँ राजा को जीमने के लिये बुलाकर सारी सम्पत्ति का दिग्दर्शन कराया जाये। अपना अतुल वैभव देखकर वे अपनी प्रशंसा करेंगे। इससे प्रजा भी अपना सम्मान करेगी। सभी ने एक स्वर में सेठ की बात का अनुमोदन किया। छोटी पुत्रवधू जो कि गंभीर मुद्रा में सभी के बीच बैठी हुई थी। सारी बात श्रवण करने पर भी कुछ नहीं बोली, अपने विनय एवं शिष्टाचार का निर्वाह कर रही थी। पर ज्योंहि सेठ की दृष्टि उस पर गिरी तो

सहज ही पूछ लिया कि बहू, तुम चुप क्यों हो, तुमने मेरी बात के अनुमोदन में कुछ भी नहीं कहा, ऐसा क्यों? तब वह बड़ी विनम्रता पूर्वक बोली—"पिताजी! मैं क्या कहूँ, जो अपनी सम्पत्ति है, वह बाहर दिखाने की नहीं है। यदि आप इसका प्रदर्शन महाराजा के समक्ष करेंगे, तो निश्चित ही आप संकट को बुलावा देंगे। मुझे आपका यह प्रस्ताव उचित नहीं लगा, इसीलिए मैं कुछ नहीं बोली। परन्तु सभी ने छोटी समझकर उसकी बात हँसी में उड़ा दी। और बहुमत के अनुसार कार्य को क्रियान्वित किया गया। पुत्रों को गहनों से लाद दिया गया। माणक मोती से थाल भरकर बाजार के बीच से होते हुए, अपनी सम्पत्ति के प्रदर्शन का मुख्य लक्ष्य रखते हुए राज-दरबार में पहुँचे। वह भेंट राजा को अर्पित की और राजा को अपने घर भोजन के लिये पधारने का निमन्त्रण दिया, निमन्त्रण को स्वीकार करके ठीक समय पर राज्य के बड़े-बड़े अधिकारियों के साथ महाराजा राजसी ठाठ-बाट से सेठ के भवन पर पहुँचे, भवन की भव्य सजावट देखकर राजा आश्चर्य में पड़ गये। क्या मेरे राज्य में भी इतने धनवान सेठ हैं? भोजन करने पहुँचे तो तरह-तरह के पकवान देखकर राजा की मन:स्थिति कुछ और ही हो गई। सेठ के अतुल वैभव ने राजा के अन्तर में लोभ वृत्ति जागृति कर दी, उसकी दृढ़ भावना बन गई कि किसी न किसी प्रकार से इस सेठ की सारी सम्पत्ति हड़पनी है। जैसे-तैसे भोजन का कार्य निपटा कर सेठ का सत्कार-सम्मान ग्रहण करके अपने अन्दर की स्थिति गोपनीय रखते हुए पुनः राजमहलों में लौट आये। राजा को अन्यमनस्क देखकर मंत्री ने कारण पूछा—तब राजा ने सारी हकीकत कह सुनाई और पूछा कि किस तरह इस सेठ की सारी सम्पत्ति अपने अधिकार में ली जाय? मंत्री ने कुछ समय विचार करने के बाद कहा कि "आप कोई ऐसा प्रश्न सेठ के सामने रखें जिसका समाधान वह न कर सके और इस प्रसंग पर उसकी सारी सम्पत्ति अपने अधिकार में ले ली जाये। भोजन का निमन्त्रण लेकर के मन्त्री सेठ के घर गया और भोजन के लिये राजमहल में पधारने का आग्रह किया। सेठ बड़ा ही प्रसन्न और सभी पारिवारिक जनों से कहने लगा कि "देखा तुम लोगों ने? यह अपनी विपुल संपत्ति का ही प्रभाव है।" पर छोटी पुत्रवधू य गंभीरता को धारण किये बैठी रही। जबकि मन ही मन रही थी। इधर सेठ मन ही मन में अत्यधिक प्रसन्नता का त राजमहल में पहुँचा। राजा ने बहुत ही आदर सत्कार कि आसन पर बैठाकर भोजन करवाया। सम्राट यह सभी रहा था, पर भीतर ही भीतर तो वह अपनी योजना त लिये उत्सुक हो रहा था। भोजन से निवृत्त होने के ो सम्राट ने सेठ से कहा—"सेठ सा. आप तो बहुत बुद्धि वैभव के स्वामी हैं। मेरे मन में जो प्रश्न उभर रहे हैं ७ नहीं दे सका। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इसका

एक शर्त है यदि आप उत्तर नहीं दे सकें तो आपकी सारी संपत्ति राज्याधिकार में ले ली जायेगी। और यदि उत्तर दे देंगे तो उपहार देकर बहुत मान-सम्मान दिया जायेगा। सेठ अपनी प्रशंसा सुनकर फूला नहीं समा रहा था। अति उत्सुकता से पूछा—कौन से प्रश्न हैं ? आप जल्दी पूछिये मैं सुनने के लिये अतीव आतुर हूँ। तब महाराज दोनों प्रश्न सेठ के सामने रखते हुए कहने लगे—बताओ।

१. निरन्तर समाप्त होने वाली वस्तु कौनसी है ?

२. निरन्तर विस्तार प्राप्त करने वाली वस्तु कौनसी है ?

इन दोनों प्रश्नों को सुनकर सेठ साहब ठंडे पड़ गये, विचार करने लगे कि इन प्रश्नों का जवाब तो मुझे आता नहीं, मैंने अपनी जिन्दगी में कभी ऐसे विचित्र प्रश्न नहीं सुने। अहो ! मुझे छोटी बहू की बात उस समय तो महत्त्वपूर्ण नहीं लगी पर अब समझ में आ रही है। उसने मुझे बहुत उचित सलाह दी थी पर अब पश्चाताप करने का समय नहीं है। अभी भी अवसर है, छोटी बहू बहुत बुद्धिमती है संभव है वह इन प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो जाये। अतः उसी से क्यों न पूछ लूं। ऐसा विचार कर सेठ ने महाराजा से कहा कि, "राजन् ! आज बहुत गरिष्ठ भोजन खाने से मस्तिष्क भारी बना हुआ है। अतः आप कृपा करके मुझे एक दिन की छुट्टी दे दीजिये।" राजा ने उसे एक दिन की छुट्टी दे दी। छुट्टी लेकर सेठ साहब घर पहुँचे और घर के सभी सदस्यों के सामने सारी हकीकत रखते हुए छोटी बहू से अपने कृत-कार्य के लिये माफी मांगकर कहा कि—"बहू ! तुम तो बहुत बुद्धिशाली हो, तुम्हारी बात हमने नहीं मानी, इसलिये आज यह भारी संकट सामने उपस्थित हुआ है। राजा के दोनों प्रश्नों का क्या कुछ समाधान है ? यह कार्य मेरी बुद्धि से परे है, मुझे तुम्हारे ऊपर पूर्ण विश्वास है कि तुम उन दोनों प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हो सकती हो, अतः बहू, तुम प्रश्नों का उत्तर देकर अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा करो। मेरी लाज रखो।"

वह छोटी बहू जो सारी बात गंभीरतापूर्वक सुन रही थी। वह सेठ साहब को सांत्वना देती हुई कहने लगी कि पिताजी ! आप कुछ भी चिंता न करें, राजा को कहला दें कि आपके इन सामान्य प्रश्नों के उत्तर तो मेरी सबसे छोटी बहू भी दे सकती है। और आप मुझे राज्य-दरबार में भेज दीजिये। मैं अपनी मर्यादा में रहती हुई महाराज के इन दोनों प्रश्नों का उत्तर दे दूंगी। सेठ यह सुनकर अतीव प्रसन्न हुआ तथा महाराजा को कहलवा दिया कि—आपके इन सामान्य प्रश्नों का उत्तर तो मेरी छोटी पुत्रवधू भी दे सकती है। दूसरे दिन वह पुत्रवधू सादी-सीधी पोशाक में राज्य दरबार में एक घास का भारा व एक दूध का कटोरा लेकर पहुँची। राजा ने पूछा कि "आप यहाँ कैसे ?" तब उसने कहा

कि "सेठजी के प्रश्नों का उत्तर देने आई हूँ।" तब राजा ने कहा—आप इन दोनों वस्तुओं को साथ में क्यों लाई हो ? तब पुत्रवधू ने उत्तर दिया कि—यह घास का भारा तो दीवान को भेंट करने के लिये लाई हूँ। यह सुनते ही दीवानजी की तो त्यौरियाँ चढ़ गई। वह पुत्रवधू आगे कुछ कहे उससे पूर्व ही दीवान ने अपना भारी तिरस्कार समझ, उससे प्रश्न किया कि—तुमने मुझे क्या समझा ? जो मेरे को भेंट देने के लिये यह घास का भारा लाई हो। तब पुत्रवधू ने निर्भयता-पूर्वक उत्तर दिया कि- दीवानजी ! मैं सेठ साहब की तरह असत्य का पोषण करने वाली नहीं हूँ। जो जैसा होता है, उसे वैसी ही वस्तु की भेंट देनी पड़ती है। आपकी बुद्धि पशु जैसी है। हालांकि दीवान की बुद्धि तो प्रजा हितैषी, व्यापक और विशाल होनी चाहिये। पर आप अपनी प्रजा के साथ ऐसा अन्याय करते हो, सम्राट को भी गलत मार्ग पर आगे बढ़ा रहे हो। आपकी बुद्धि में पशुता नहीं तो क्या है ? और जो पशु होता है, उसे खाने के लिये घास चाहिये। अतः मैं आपके योग्य ही यह उपहार लाई हूँ। यह श्रवण कर मंत्री और भी उत्तेजित हो गया, पर राजा ने उसे शांत करते हुए उस पुत्रवधू से पूछा कि यह दूध का प्याला तुम किस लिये लाई हो ? तब पुत्रवधू ने कहा कि—दूध का प्याला आपके लिये लाई हूँ। कारण—यहाँ के राजा अर्थात् आप नन्हें बालक के समान हैं। जैसा दीवान कहता है, वैसा ही कार्य करते हैं। अपनी बुद्धि से कोई काम नहीं करते हैं। यह श्रवण कर राजा स्वयं बहुत शर्मिन्दा हुआ और गलती महसूस करने लगा और उसकी बुद्धिमत्ता से अत्यधिक प्रभावित होता हुआ अपने प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये उत्सुक बना। जब उसे दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के लिये कहा तो वह निर्मल बुद्धि सम्पन्ना पुत्रवधू कहती है कि राजन् !

१. आयुष्य एक ऐसा तत्त्व है जो निरन्तर अर्थात् क्षण-क्षण में कुछ भी विलम्ब किये बिना समाप्त हो रहा है।

२. आपके दूसरे प्रश्न का उत्तर है—निरन्तर विस्तार को प्राप्त करने वाली वस्तु तृष्णा है।

यह श्रवण कर राजा, दीवान और सारी राज परिषद् धन्य-धन्य का गुंजार करती हुई, पुत्रवधू को शतशः धन्यवाद समर्पित करती हुई, उसे बड़े मान-सम्मानपूर्वक विदा करती है। दीवान, महाराजा से कहता है कि—"महाराज ! सेठ साहब के पुत्रवधू की कमाल की बुद्धि है। अपनी सारी योजना निरर्थक गयी। अब आप सेठ साहब की सम्पत्ति नहीं ले सकते हैं।" बन्धुओ, यह तो एक कथानक है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब भौतिक सम्पत्ति को प्रकट करने से इतनी विपत्ति आती है तो आध्यात्मिक गुणों का बखान करने से कैसे क्या होगा ? यह विचार करने की बात है। अतः बाहरी प्रदर्शन का लक्ष्य न रखते हुए अधिकाधिक आत्मानुष्ठान की पवित्र चर्याओं में अपने आपको संलग्न बनाकर अपने भीतर में रहे हुए अनन्त-प्रकाश को उजागर करने में कटिबद्ध

जायें। अपने जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ विनय एवं विवेक बुद्धि के साथ धर्ममय बनायें। आपका जीवन अवश्य मंगलमय बनेगा।

आज के युग में प्रदर्शन बहुत बढ़ता जा रहा है। उपधान तप के नाम से अनेक प्रकार का आडम्बर बढ़ाया जा रहा है। अतः उपधान का स्वरूप सही रूप से समझकर सम्यक् ज्ञान की वृद्धि के लिये विधिवत् तपानुष्ठान में प्रवृत्ति करें।

बंधुओ ! शास्त्र का अमृतोपम तात्विक ज्ञान श्रवण करते हुए ज्ञेय तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करें। हेय तत्त्वों का अपने जीवन से विसर्जन करें तथा उपादेय तत्त्वों से अपनी आत्मा को संवारने में प्रयत्नशील बनें। कर्म निर्जरा का प्रमुख लक्ष्य रखते हुए सम्यक् तपानुष्ठान से अपनी आत्मा को अनन्त वीर्य सम्पन्न, अनन्त ज्ञान सम्पन्न बनाकर सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक लक्ष्मी का वरण करें। इसी मंगल कामना के साथ।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

३१-७-८५
बुधवार



३२ अनिह्नवाचार

(सम्यक् ज्ञान का पाँचवा आचार)

इस संसार में सबसे ऊँचा और श्रेष्ठ अगर कोई तत्त्व है, तो आत्मा ही है। और वही परमात्मा के रूप में प्रकट होती है, जिन्हें ईश्वर, भगवान्, सिद्धादि किसी भी नाम से कहा जा सकता है। वही अनन्त सुख की स्वामी है, मनुष्य संसार में रहता हुआ, सुख की प्राप्ति हेतु ज्ञान प्राप्त करता है। विचारता है कि अमुक पुरुष मुझे शांति देंगे, मैं उनकी शरण में जाऊँ। इस कल्पना को लेकर सांसारिक मनुष्य संसार के कामों में लगता है, आवश्यकता पड़ने पर राजा, महाराजा, संतों के चरणों की उपासना भी करता है और चाहता है कि ये मुझ पर मेहरबान हो जाएँ, पर उस पुरुष को यह पता नहीं है कि जिसको मैं स्वामी बनाकर चल रहा हूँ, वे स्वयं दुःख में डूबे हुए हैं, तो मुझे क्या शांति देंगे।

सुना जाता है कि अमेरिका में १२७ मंजिल की हवेली है, उसका मालिक १२७वीं मंजिल पर रहता है, जहाँ नीचे के जमीन की गर्म हवा भी (अपेक्षा से) उसे न लग सके, उसके पास डॉक्टर हर समय लगा रहता है, उसे यह भय हरदम बना रहता है, कि मेरी संपत्ति न लूट ली जाय, इस तरह उसकी स्वयं की दशा क्या है? आप उनको देखें या स्वयं के भीतर अनुभव करें, जितनी-जितनी संपत्ति बढ़ती है, उतनी-उतनी शांति मिलती है या अशांति बढ़ती है? स्पष्ट हो जाएगा कि भौतिकता की दृष्टि से शांति कम एवं अशांति ही बढ़ती है, अतः भगवान् ही सर्व श्रेष्ठ हैं, उनके बतलाये मार्ग पर समर्पित हो जाऊँ, उनके ज्ञान में तल्लीन बन जाऊँ, इस भावना के अनुरूप जो जीवन बना लेता है, उसकी मनोकामना स्वतः पूर्ण हो जाती है, उसका मन इतना शक्ति संपन्न बन जाता है कि मन में संकल्प आते ही वह भावना पूर्ण भी हो जाती है।

कामना हर सामान्य मनुष्य करता है, पर उसकी सभी भावना पूर्ण नहीं होती, किन्तु अध्यात्म पथ पथिक की हर भावना पूर्ण हो जाती है।

"जाको राखे सांईयाँ, मारी सके न कोय।
बाल न बाँका करि सके, जो जग बैरी होय॥"

जो वीतराग उपदेश को जीवन में ले लेता है और उस ज्ञान के अनुसार अपने जीवन को बना लेता है, उसके जीवन में फिर कोई कमी नहीं रह पाती है।

कवि कहता है, भगवन्, आपके ज्ञानलोचन को देख लेने से मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हो गए, अब मुझे कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

"विमल जिन सिद्धा लोयण आज।
मारा सिद्धया वंछित काज॥"

तीर्थंकर देवों का जो विमल स्वच्छ निर्मल ज्ञान है, उसकी उपासना आचार नियमों के साथ करें, जिससे वह एक रोज उन दिव्य नेत्रों को देखने में समर्थ हो सकता है, जो पुरुष ज्ञान की परिपूर्ण प्राप्ति के लिए एकनिष्ठ बन जाता है, अन्य विषय गौण कर देता है, बस एकमात्र परमात्मा के साक्षात्कार का ज्ञान किस प्रकार होवे, इसमें तल्लीन बन जाता है, उसे मनोवंछित प्राप्ति होती है।

आपने जम्बूकुमार की बात सुनी होगी, आठ देवांगना तुल्य कन्याओं के साथ शादी की। शादी की रात्रि में ही उनको समझाने के लिए तत्पर हुए। पलंग के चारों ओर आठों देवकन्यासम सोलह शृंगार से सजधजकर वे राजकन्यायें जम्बूकुमार को आकर्षित करने लगीं, ऐसे समय में व्यक्ति का मन अपने आप में अंकुश में रह सकना, बड़ी कठिन बात है, पर सुधर्मा स्वामी के एक ही व्याख्यान से जो ज्ञान प्राप्त किया, उससे उनके ज्ञान चक्षु खुल गये कि "मैं किस भूलभूलयाँ में पड़ा हूँ, पूर्व जन्मों में मैंने क्या नहीं किया होगा? पर मुझे शांति नहीं मिली, आत्मा की तृषा नहीं मिटी, मेरे मनोरथ पूर्ण नहीं हुए। अब मुझे तो सिर्फ एक निष्ठा है ज्ञान की आराधना करनी है, इन स्त्रियों के जाल में नहीं उलझना है, ये मेरी आत्म तृप्ति को लूटने वाली हैं।" अतः वे एकनिष्ठ होकर उनकी एक-एक बात का उत्तर देने लगे।

उसी समय प्रभव चोर अपने ५०० साथियों के साथ चोरी करने निकला, उसे अनेक विद्यायें सिद्ध थीं, पर वे सब भौतिक थीं, सबको नींद में सुला देने वाली और ताला तोड़ने वाली इन्हीं दो विद्याओं के माध्यम से वह हवेली में चोरी करने के लिए पहुँचा। वहाँ दहेज में आये हुए बहुमूल्य जवाहरात ९९ करोड़ सौनयाँ आदि की पोटलियाँ बाँधकर साथियों को आदेश देता है कि जल्दी से उठाओ इन पोटलियों को और चलो। अत्यन्त धीमे स्वर से—कहने पर भी उसकी आवाज जम्बूकुमार ने सुनली और सोचा कि यह सारा ही धन क्यों न ले जाय, मुझे दुःख नहीं है। मैं तो कल सुबह होते ही वैसे ही सब कुछ त्याग कर प्रव्रज्या अंगीकार करूँगा।

समुद्र कभी मर्यादा नहीं छोड़ता पर वह भी यदि छोड़ दे, सूर्य ठंडक नहीं देता पर वह भी यदि ठंडक देने लग जाय, यहाँ तक कि प्रकृति के सब नियम उल्टे हो जायं पर मेरा संकल्प टूट नहीं सकता। मैं निश्चय पर अटल हूँ, परन्तु

यह दुनिया तो दो रंगी है, लोग तो कहेंगे, दीक्षा लेने की भावना रखता था, दीक्षा की भावना तो ये आठों स्त्रियाँ भी उतार सकती थीं, पर धन चला गया, इसलिये अब दीक्षा ले रहा है, इस लोकोपवाद से बचने के लिये आज रात्रि को धन की चोरी न हो। बस इतना सा संकल्प किया और चोरों के हाथ पोटलियों पर चिपक गये। अदृश्य शक्ति से सभी चोरों के पाँव जमीन से चिपक गये। चोरों के सरदार प्रभव ने देखा कि मेरे ऊपर यह कौन आ गया, इधर-उधर देखा तो ऊपर प्रकाश नजर आया। वह वहाँ पहुँचा। और प्रथम क्षण में ही आश्चर्य में पड़ गया कि यह कोई देवलोक तो नहीं है। दूसरे ही क्षण वह संभला और देखा—यह देवलोक नहीं है, श्रेष्ठी का लड़का जम्बूकुमार है और ये इसकी पत्नियाँ हैं, मुझे इससे इसके पास की विद्या सीख लेनी चाहिए। यह सोचकर वह उन्हें वन्दना करता है और कहता है "आप जीते मैं हारा"। अपने आपसे सौदा करलें, मेरे पास दो विद्या है, वह तुम सीख लो और पैर चिपकाने की विद्या मुझे सिखा दो। जम्बूकुमार ने कहा मुझे कोई सौदा नहीं करना है, मैं तो सब कुछ त्यागकर कल प्रातः दीक्षा ग्रहण कर रहा हूँ। मुझे कोई विद्या आती नहीं हैं, मैंने तो मात्र संकल्प किया था कि "आज रात्रि में सम्पत्ति की चोरी न हो।" यह सुनकर प्रभव विस्मित रह गया, उसने पूछा आपको यह संकल्प की दृढ़ता कहाँ से मिली ? जम्बूकुमार ने कहा कि मैं तो वीतराग देव का परम उपासक हूँ, उनकी वाणी पर अगाध श्रद्धा रखता हूँ, इसी कारण उनकी श्रद्धा के फल स्वरूप आत्म बल की उपलब्धि हुई है।

इस बात का प्रभाव यह पड़ा कि प्रभव अपने ५०० साथियों के साथ जम्बूकुमार की अध्यात्म शक्ति—आत्म बल के आगे झुक गया, प्रतिबुद्ध हो गया। वीतराग वाणी पर उसकी अटूट श्रद्धा हो गई और जम्बूकुमार के साथ ही सुधर्मा स्वामी के चरणों में प्रव्रज्या (दीक्षा) अंगीकार करली। सिर्फ एक व्यक्ति के आत्म बल ने, दृढ़ संकल्प ने सैकड़ों व्यक्तियों को प्रतिबोधित कर दिया।

सज्जनो ! विचार करिये और आप भी भगवान् के दिव्य स्वरूप को सामने रखकर चलने का प्रयास करें। एकनिष्ठ बन जाएँ तो सफलीभूत बन सकते हैं। जम्बूकुमार ने मात्र संकल्प किया, जिससे उसका कार्य सफल बन गया, ऐसी आत्म-शक्ति प्राप्त करने के लिए वीतराग देव के बताये ज्ञान के आचारों का दिव्य स्वरूप समझना है। पांचवा आचार अनिह्नवाचार अर्थात् जिससे ज्ञान प्राप्त किया है, उसके नाम को छिपाने की चेष्टा न करें, अध्यात्म का ज्ञान जिससे मिलता है, उन्हें भूलना नहीं चाहिये, चाहे वह छोटा व्यक्ति हो चाहे बड़ा। गुरुजी ने ज्ञान दिया और चेलाजी आगे बढ़ गये गुरु से, पर वह सोचे मुझे ज्ञान ज्यादा हो गया है, अतः गुरुजी का नाम किस तरह बताऊँ ? इस गुरु के नाम के गोपन से उसका वह प्राप्त ज्ञान भी विलुप्त हो जायेगा

उच्च स्थिति उसके जीवन में है, वह नहीं रह पायेगी। इस बात को आप एक कथन के माध्यम से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

एक नाई बड़े शहर में बाल साफ करने के लिये पहुँचा। उसके पास विद्या थी जिसके प्रभाव से उसके साथ वह बक्सा आकाश में चलता था, जहाँ हजामत करनी होती, वहाँ वह बैठ जाता और इशारा करने पर बक्सा नीचे आ जाता, जिसे देखकर लोग आश्चर्य चकित हो जाते, इस तरह उसकी आमदनी बढ़ती गई। एक संन्यासी जिसने घर बार त्याग कर भगवे वस्त्र धारण कर लिये थे, वह सोचने लगा कि यह विद्या मुझे मिल जाय तो मैं निहाल हो जाऊँ। जब वह नाई अपना कार्य निपटा कर मन्त्र विद्या से पेटी को आकाश में रवाना किया और स्वयं घर की ओर जा रहा था तब पीछे-पीछे संन्यासी भी चलने लगा। जब नाई के साथ वह संन्यासी उसके घर पर पहुँचा और उसके पाँवों पर गिरकर प्रार्थना करने लगा कि आपने यह विद्या कहाँ से सीखी? मुझे भी सिखाने की कृपा करें, आपका यह उपकार मैं कभी नहीं भुलूंगा, तब उस नाई ने कहा कि—मैंने तो यह विद्या एक सिद्धि प्राप्त महात्मा की कृपा से प्राप्त की है। यदि तुम्हारी भी सिखने की इच्छा हो तो तुमको भी सीखा सकता हूँ। इस प्रकार सरलतापूर्वक नाई ने संन्यासी को भी विद्या सिखा दी। विद्या सीखकर वह सोचने लगा कि जहाँ यह नाई रहता है। वहाँ मैं विद्या का प्रयोग करूँगा तो मेरी प्रसिद्धि नहीं होगी। इस तरह सोचकर वह दूर किसी शहर में चला गया और वहाँ मंत्र के प्रयोग से इसी तरह अपनें कमंडल, मोर, पींछी, चिमटादि उपकरणों को आकाश में रवाना कर देता। लोग यह चमत्कार देखते तो आश्चर्य में पड़ जाते, प्रशंसा करते कि यह तो कोई सिद्ध पुरुष है। राजा ने सुना तो मंत्री से कहा कि मैं उस सिद्ध पुरुष के दर्शन करना चाहता हूँ। पर मंत्री ने कहा कि यह चमत्कार नहीं है, कोई एकनिष्ठा से इसने सिद्ध की है। यह कोई साधु नहीं है, साधु होता तो अकेला नहीं घूमता। पर जब राजा ने आग्रह किया और उसके दर्शन करने के लिए तरस बताई तो राजा से कहा—आप न पधारें मैं भोजन के लिए उन्हें यही बुला लेता हूँ। ऐसा कहकर मंत्री ने उस योगी को भोजन के लिए आमंत्रण दिया। आमंत्रण पाकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ, खुशी-खुशी राजमहल में आया। राजा ने भोजन का निवेदन किया और वह भोजन करने लगा। सम्मान से भोजन कराने के बाद राजा ने योगी को सम्मान के साथ बैठाकर बातचीत की और पूछा कि यह विद्या आपने कहाँ से सीखी? यह सुनकर वह संन्यासी विचार करने लगा कि मेरी आज इतनी प्रसिद्धि है, लोग जगह-जगह मेरे चमत्कार की प्रशंसा कर रहे हैं, जब ये पुरुष मुझे सिद्ध पुरुष कह रहे हैं, अगर मैं इनको बता दूँ कि मैंने यह विद्या एक नाई से प्राप्त की है तो ये लोग मेरी हँसी उड़ायेंगे और मेरी पोजीशन डाउन हो जाएगी तथा समाज में मेरी कुछ भी इज्जत नहीं रहेगी। ऐसा सोचकर उसने कहा कि—किसी महात्मा के पास मैंने लम्बे समय तक कठिन साधना की, उस लम्बे समय की

कठिन साधना के फलस्वरूप ही मुझे यह विद्या प्राप्त हुई है। उस संन्यासी का यह कहना था कि आकाश में स्थित वे सारे उपकरण आकर धड़ाम से उसके सामने जमीन पर गिर गये। यह देखकर वह हतप्रभ रह गया, सोचने लगा कि अभी तक ऐसा नहीं हुआ फिर आज यह इस तरह यकायक क्यों हुआ ? गहराई से सोचने पर विचार आया कि अहो मैंने ज्ञानदाता गुरु के नाम का गोपन किया है, इसी कारण मेरी स्थिति आज यह बन गई है। उसे मन-ही-मन बहुत पश्चाताप हुआ। राजा ने जब उससे पूछा कि कहिये आपकी साधना कहाँ गयी, तब उसने पश्चाताप पूर्ण स्वर में कहा कि—जिसने मुझे विद्या सिखाई उसका नाम गोपन करके मैंने योगी का नाम लिया—इसी कारण मेरी सारी विद्या नष्ट हो गई। इसी तरह जो आध्यात्मिक शिक्षा देने वाले हैं उनका नाम छिपायें नहीं। विचार करने की बात है कि गुरु अनल्प उपकार करके वीतराग वाणी का ज्ञान देते हैं, अतः उनके उपकार को विस्मृत करते हुए उनका नाम नहीं छिपाना चाहिये।

आज की स्थिति क्या बन रही है, नवयुवक लोग ऊँची-ऊँची शिक्षा प्राप्त करके बड़े-बड़े ऑफिसर बन जाते हैं, पर जब उनसे अपने पिताजी का नाम पूछा जाता है तो वे अपने पिता का नाम बताने में भी शरम महसूस करते हैं, पर वह स्थिति उन्हें किसकी बदोलत मिली। इस तरह उपकारी के उपकार का गोपन करने से वे उच्च स्थिति में नहीं पहुँच सकते हैं। और पहुँच भी गये तो ज्यादा समय तक स्थिर नहीं रह पायेंगे। अतः ज्ञान के आचारों को ध्यान में रखते हुए पाँचवा जो अनिह्नवाचार है, उसे यथाविधि से जीवन में उतारना अति आवश्यक हैं। जो भी भव्य मुमुक्षु आत्मा ज्ञानाचारों का परिपालन वीतराग भगवान् के द्वारा बतलाई गई प्रक्रिया के अनुरूप करेगा वह अपना जीवन अवश्यमय मंगलप्रद अवस्था से आगे बढ़ाने में सुसफल बनेगा। इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

१-८-८५
बृहस्पतिवार



३३

व्यञ्जन–अर्थ–तदुभय

(सम्यक् ज्ञान का छठा, सातवाँ, आठवां

वीतराग देव की परम पाविनी वाणी का आस्वादन करने ह प्रभु का संस्मरण याद करना आवश्यक है। जो केवलज्ञान दर्श तीर्थंकर पद पर आसीन हुए, उपदेश दिया, वह कितना सरस औ संस्पर्श करनेवाला है।

केवलज्ञान की अनुभूति से जो विचार करता है, वीतराग व त्रय का उल्लेख है, उसमें सम्यक्ज्ञान का प्रथम उल्लेख मिलता बताया "पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठई सव्वसंजए" और अ में उत्तराध्ययन सूत्र के ३२ वें अध्याय में "नाणस्स सव्वस्स गाथा कही गई है, जिसमें बतलाया गया है कि ज्ञान को प्रग आत्मप्रकाश जागृत होगा, राग-द्वेष दूर हटेगा।

जो अनाज है, उसमें कंकर मिल जाते हैं, तो बहिनें ध्यान से उन्हें अलग-अलग कर देती हैं। इसी प्रकार दुनियां में ज्ञान अज्ञान के हैं—उनमें वीतराग देव के सिद्धान्त को अपनी पैनी मति से खोजक कर तदनुसार गति करना, आत्मा के लिए सुखप्रदायक है।

ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य को आठ बातों का अधिक ख्याल रखकर पालन करना होता है। तभी सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सम्यक्ज्ञान का छठा आचार **व्यञ्जनाचार** है, अर्थात् शब्दों का अच्छी तरह किया जाय। यदि उच्चारण शुद्ध नहीं है तो ज्ञान का स प्राप्त नहीं हो पाता। उसका अर्थ भी सही रूप में समझ में नहीं आ प

मनुष्य मानस में मनकल्पित योजना जमाले और उसके अनुसा वाणी का पान करे तो यह उचित नहीं है, बल्कि अपनी मनकल्पित को परे रखकर विचार करे कि वीतराग वाणी में अनंत ज्ञान है, अनन्त पर मुझमें इतनी योग्यता नहीं कि उनका वर्णन कर सकूं, वह तो यही मैं तो जितना अर्थ मेरी बुद्धि में यथातथ्य रूप में ग्रहण किया है, श्रद्ध मैं उसी को लेकर चल रहा हूँ। और समभावपूर्वक उसी का प्रति रहा हूँ।

साधक के जीवन में यदि विषमता है, तब वह अर्थ करने बैठता है तो वीतराग वाणी का अर्थ सम्यक् न करके मनकल्पित कर लेगा, जो कि स्व और पर दोनों के लिए घातक होगा, ऐसा व्यक्ति भव-भवान्तर तक भटकता रहता है। अतः वीतराग वाणी को जो व्यक्ति बिना किसी शंका आदि से उतारता है, जीवन में तटस्थ भाव से परम श्रद्धा के साथ शास्त्रों का उच्चारण अच्छी तरह से करता है, तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवरित, घोष, महाघोष आदि का ध्यान रखते हुए अर्थ का प्रतिपादन भी सम्यक् प्रकार से कर सकता है। सम्यक्-ज्ञान पाने के लिये कितनी प्रबल इच्छा होनी चाहिये। इसके लिए मैं आपको महापुरुषों के जीवन में घटित उदाहरण प्रस्तुत कर देता हूँ।

पूर्व में आचार्य श्री अजरामर जी म० सा० हुए हैं, उनका जीवन तो चोपड़ी, पुस्तकों में मिल जाएगा। अतः मैं उनके जीवन को विस्तार से कहने की स्थिति में नहीं हूँ, पर उनका जीवन का अध्ययन, जब मेरा सौराष्ट्र में विचरण करने का प्रसंग आया, तभी मुझे कुछ करने को मिला। उनके मन में प्रान्तीय भावना नहीं थी। उनकी जिज्ञासा जबर्दस्त थी। आचार्य पद पर आरूढ़ होते हुए भी वीतराग वाणी का अर्थ ग्रहण करने में जो शब्द उच्चारण किये गये वह सही है या नहीं, इसकी जिज्ञासा बनी रहती थी, इसके लिए प्रमाण मिलता है कि सूरत में उन्होंने सूत्रसार पढ़ा, अध्ययन किया पर उससे उनके हृदय में संतुष्टि नहीं हुई। क्योंकि जिसके पास अध्ययन किया, उनका विचार-आचार वीतराग वाणी के अनुकूल नहीं था। स्वाभाविक है जो वीतराग वाणी के प्रति श्रद्धा नहीं रखता है, और मनकल्पित विचार दुनिया के सामने रखता है, तो उस पर श्रद्धा नहीं होती। यह तथ्य है, मनोवैज्ञानिक बात है।

एक बहुत बड़ा पंडित है, उसका प्रभाव समाज पर उतना स्थायी नहीं पड़ता जितना कि एक साधक का पड़ता है। क्योंकि वह जीवन में अनुभूति से उपलब्ध ज्ञान को लेकर चलता है, वह वाणी के अनुकूल आचरण करता हुआ सीधीसादी शैली में उपदेश देता है, तो भी उसका ज्यादा प्रभाव पड़ता है।

जहाँ कहीं छोटे मोटे सुदूर ग्रामों में सन्त अपनी मर्यादा में रहते हुए नहीं पहुँच पाते हैं, वहाँ श्रद्धानिष्ठ श्रावकों का यह कर्तव्य हो जाता कि वे स्वयं अपने कर्तव्य का पालन करते हुए अधिक नहीं तो कम से कम पर्युषण के आठ दिनों में तो समय निकालकर वहाँ दया पालें एवं वीतराग वाणी का सरल रीति से प्रतिपादन करें ताकि वीतराग देव के सिद्धान्तों का सम्यक् प्रचार हो सके। आज तो श्रावक प्रायः आजीविका के लिये ही सारे समय लगे रहते हैं, पर जहाँ सन्त न पहुँच सकें वहां जाकर धर्म की प्रभावना करने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई पड़ती है। आज के लोग सोचते हैं कि साधुओं को अपनी मर्यादा छोड़कर प्र करना चाहिये, पर यह मूल में भूल है कि उन्हें साधु की मर्यादा का ख्याल

संघ निर्ग्रन्थ-श्रम-संस्कृति की सुरक्षा के लिये जागरूक था। अतः उनमें गुजराती अथवा मारवाड़ी के प्रति जरा भी विरोधी भावना नहीं थी (होनी भी नहीं चाहिये) मेरा आप लोगों से भी यही आह्वान है। निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिये अधिक से अधिक आत्मभोग दें, चाहे साधु हो या श्रावक। क्योंकि महाप्रभु ने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के लिये कोई प्रान्तीय भेद नहीं किया था। उन्होंने स्पष्ट कहा कि साधु-साध्वी चाहे किसी भी प्रान्त में हों, पर जो भाव से जागृत है वही सच्चा साधु है। जो भाव से सुप्त है वह साधु नहीं है।

"सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति ॥"

जो श्रावक-श्राविका साधुओं की मर्यादा जानते हैं। उन्हें पूरा ध्यान रखना चाहिये कि साधु मोटा भाई है और श्रावक छोटा भाई है। जब मोटा भाई आगे चलता है तो छोटा भाई का कर्तव्य है कि उसका अनुकरण करे। जब श्रावक सामायिक, पौषध करता है, तो दो करण तीन योग से सावद्य कार्यों का त्याग करता है। तब संवत्सरी के दिवस पर माइक पर प्रतिक्रमण करें तो व्रत भंग होता है और यह श्रमण संस्कृति का अपमान भी है। आपका क्या कर्तव्य है, विचार करें। निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति को सुरक्षित रखना है। माइक सभी दृष्टियों से अनुपादेय है। इस विषयक चर्चा फिलहाल अभी न करके प्रसंग आने पर करने की भावना रखता हूँ। आचार्य श्री अजरामर जी महाराज ने जहाँ गुजरात और सौराष्ट्र में अमर क्रान्ति बुलन्द की थी, श्रमण संस्कृति की सुरक्षा के लिये जैसा, कि वीरजी भाई ने कहा—आपका संघ भी बड़ा है, आप भी गहराई से विचार करें और इस सुरक्षा में सक्रिय सहयोग दें। इस पुण्यतिथि पर आपको सहभागी बनना हो तो जहाँ-जहाँ हिंसा का प्रसंग हो, लाइट, माइक आदि का प्रसंग हो वहाँ पर सामायिक-प्रतिक्रमण न करें, आज के दिवस पर क्रान्तिकारी कदम उठाते हुए यह प्रत्याख्यान अंगीकृत करें। आचार्य श्री जवाहर-लालजी म० सा० की भी यह क्रान्तिभूमि है। जब आगमिक धरातल से भी क्रान्ति के एक-दो पगले उठते हैं, तो लोगों की उँगलियाँ उस ओर भी उठ जाती हैं। अन्यथा भी कहने लगते है, पर भविष्य में वे ही सभी उँगलियाँ जुड़कर वन्दन करने लग जाती हैं, धन्य-धन्य कहने लगते हैं लोग। और चल पड़ते हैं उसी राह पर। अतः आगमिक धरातल पर, क्रान्ति के पथ पर अवश्य ही बढ़ते जाना चाहिये। आप गुणग्राही दृष्टि रखें। अजरामर जी म० सा० के गुणों का अवलोकन करें एवं उनके क्रान्तिकारी विचारों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने जो राह बतायी है. उसकी सुरक्षा के लिए सजग बनें, कटिबद्ध होवें। किसी भी प्रकार से मर्यादित रूप में हमें निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की रक्षा करनी हैं, पूर्व पुरुषों की गुणावली को अपने हृदय में उतारनी है, तभी जीवन मंगलता की ओर प्रयाण कर सकेगा। ज्ञानाचार के पाँचवें आचार सूत्र, अर्थ, तदुभय के लिए आदर्श रूप हैं अजरामर जी महाराज।

जो अर्थ का अनर्थ करता है उसका परिणाम कैसे क्या होता है, इसके लिए एक कथानक उपस्थिति कर देता हूँ।

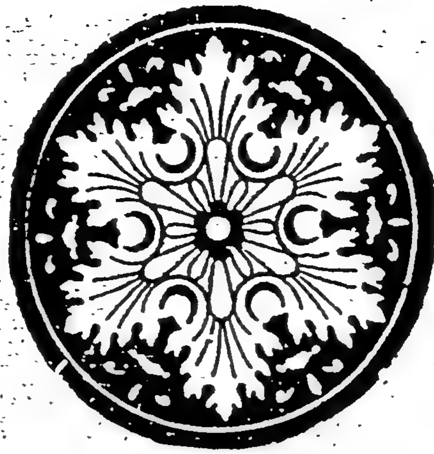
यदि रास्ते में कोई काच का टुकड़ा पड़ा है, तो जौहरी उसे उठाता नहीं पर अशुचि में पड़े अमूल्य हीरे के टुकड़े उठाने में वह कतराता भी नहीं, इसी प्रकार आप भी अपनी दृष्टि को गुणग्राही बनायें।

खीरकदम्बाचार्य के पास बहुत से विद्यार्थी पढ़ने आते थे। पर मैं अभी नारद, पर्वत, वसु तीन विद्यार्थियों का ही उल्लेख कर रहा हूँ। वसु राजकुमार था, पढ़ाई पूरी करने के बाद वसु राजा बना, वह जिस सिंहासन पर बैठकर न्याय करता था वह आकाश में अधर में रहता था। लोग कहते थे कि यह सिंहासन महाराज वसु की न्यायप्रियता की निशानी है। जिस दिन सम्राट वसु न्याय के बदले अन्याय का सहारा लेंगे उस दिन यह सिंहासन अधर में नहीं रहेगा, अपितु जमीन पर आजाएगा। सम्राट के न्याय की सुदूर प्रशंसा फैली हुई थी। एक बार पर्वत यज्ञ कर रहे थे, यज्ञ में 'अज' शब्द आया। उन्होंने बकरी अर्थ किया। तभी नारद भी घूमते-फिरते वहाँ पहुँच गये। उन्होंने कहा—तू गलत अर्थ कर रहा है, गुरुजी ने तो इसका अर्थ धान बताया पर पर्वत नहीं माना। दोनों विवाद में उतर आये तब किसी ने सलाह दी कि राजा वसु के पास जाकर इसका न्याय कराना चाहिये। आपस में शर्त कि जिसकी बात सही होगी उसे इनाम मिलेगा और जिसको बात गलत होगी उसे मृत्युदण्ड मिलेगा। पर्वत की माँ को जब यह ज्ञात हुआ तो सोचने लगी कि मेरा पुत्र गलत अर्थ बता रहा है, मैं जानती हूँ कि इसके गुरुजी ने अज का अर्थ पुराना धान बताया है। पर यदि यह मामला सम्राट के सामने चला गया तो वे तो बहुत न्यायप्रिय हैं, जब न्याय करेंगे तो मेरे पुत्र की गलती साबित हो जाएगी और निश्चय ही उसे प्राण-दण्ड मिलेगा। इस प्रकार सोचकर वह पुत्र की रक्षा के लिये सम्राट के पास जाकर चरणों में सिर रखकर बोली कि पर्वत और नारद दोनों विवाद में पड़े हैं, पर्वत गलत अर्थ बता रहा है। न जाने वह भूल गया है या स्वार्थ में पड़कर ऐसा कह रहा है और सारी बात बताकर दोनों के बीच हुई शर्त भी बतायी, तथा पुत्र के प्राण-बचाने के लिये बहुत जोर दिया। सम्राट वसु ने उसे आश्वासन देकर विदा किया और स्वयं सोच में पड़ गये कि अब किस प्रकार से न्याय करूँ। विचारों में मन्थन चलने लगा, पर्वत उसका सहपाठी एवं उसके अनल्प उपकारी गुरु का पुत्र है, गुरु पत्नी माँ के तुल्य होती है, और वह मेरे पास पुत्र के प्राणों की भीख लेकर आयी है। गुरु के अनंत-अनंत उपकारों से मैं कभी विस्मृत नहीं हो सकता अतः विचार करने का समय नहीं है, जैसे भी हो मुझे न्याय पर्वत के पक्ष में ही देना होगा। ऐसा सोचकर वह न्याय सिंहासन पर आसीन हो गया। दोनों मित्र पहुँचे और न्याय मांगा। वे सही बात जानते थे फिर भी उन्होंने नारद और पर्वत की अलग-अलग बात सुनी और सब कुछ जानते हुए भी निर्णय

पर्वत के पक्ष में दिया, अर्थात् अज का अर्थ बकरा ही बताया। उनके यह निर्णय देते ही वे सिंहासन सहित जमीन पर आ गये। कथानक बहुत लम्बा चौड़ा है. विस्तार से कहने का समय नहीं, बस इतना अवश्य समझना है कि जब वैदिक सिद्धान्त में भी गलत अर्थ करने पर ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है, तो वीतराग सिद्धान्त का जो गलत अर्थ करता है तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। उसका संसार बढ़ जाता है, अनंत-अनंत कर्मों का उपार्जन कर लेता है। वही यदि सरल सरस रीति से वीतराग वाणी के अनुसार सिद्धान्त को समझाता है और कहता है कि जैसा मैंने वीतराग वाणी से पाया है, वही मैं बता रहा हूँ। विशेष क्या कुछ है ये तो ज्ञानी ही जानें, उनकी गहरी दृष्टि का अवलोकन करने की मुझमें पूर्ण क्षमता नहीं है। इस प्रकार से चलनेवाला ज्ञान के पंचम आचार का सम्यक् तया पालन कर साधना पथ पर आगे बढ़ जाता है। सभी को इसी विषय में विचार करना है, अधिक से अधिक सरलता जीवन में अपनायें। निर्ग्रन्थ श्रमण की सुरक्षा के लिये ही हर एक कार्य हो, हर प्रवृत्ति हो। वीतराग वाणी के अनुसार अपने जीवन को बनायें। वीतराग सिद्धान्तानुसार ही दूसरों को बतायें, तभी जीवन की सार्थकता होगी, इससे दूसरों का तो उपकार करेंगे ही साथ ही स्वयं का जीवन भी वीतराग वाणी के अनुरूप आचरण से चमक उठेगा, और मंगलमय दशा को प्राप्त हो जाएगा।

मोटा उपाश्रय २-८-८५
घाटकोपर, बम्बई शुक्रवार





सम्यक् - चारित्र

[जीवन के विशुद्ध आचरण की विधि]

आठ आचार

- इर्या समिति
- भाषा समिति
- एषणा समिति
- आदान भंड मत निक्षेपणा समिति
- उच्चार प्रस्वण-खेल-जल्लमल सिंघाण परिस्थापनिका समिति
- मन गुप्ति
- वचन गुप्ति
- काया गुप्ति

३५ देखो स्वयं को स्वयं के आइने में

(चारित्राचार के आठ आचार)

इस वर्तमान युग में आत्माओं की विचित्र दशाएँ देखने को मिल रही हैं। आत्मा के विविध रूपों को विविध पर्यायों में देखने का प्रसंग आ रहा है। आत्मा स्वयं एक रूप में रहती हुई भी स्वयं के कृत कर्मों के उदय से विभिन्न रूप धारण करती है, इस आत्मा को रूप बनाने की कोई यह प्रेरणा नहीं देता है कि तुम अमुक तरह का कर्म करो। वह तो स्वयं, स्वयं कृत्यों से रूप धारण करती रहती है।

"ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेववा" की धारणा अर्थात् ईश्वर की प्रेरणा से प्राणी स्वर्ग और नरक में जाता है, यह मानना युक्तिसंगत नहीं है, वीतराग अवस्था प्राप्त ईश्वर में यह राग-द्वेष नहीं है।

इस मानव जाति के शरीर पिण्ड में रहता हुआ, यह चैतन्य देव अपने स्वयं की सत्पुरुषार्थ शक्ति से आत्मा के गुणों को घात करने वाले घातिक कर्मों को स्वयं से विलग करके केवलज्ञान, केवलदर्शन से सम्पन्न बन जाता है। इस परम पवित्र स्वरूप में रहती हुई आत्मा समग्र विश्व की आत्माओं का रूप किन-किन पर्यायों से हो रहा है, इनका भी विज्ञान उनके ज्ञान में अभिव्यक्त हो जाता है। प्रभु ने केवलज्ञान की अवस्था में रहते हुए भव्यात्माओं को जो उपदेश दिया, वह उपदेश भी मित्र की तरह वस्तु स्वरूप का कथन किया था, ग्रहण या विसर्जन के लिए कोई आग्रह नहीं किया था। वीतराग अवस्था प्राप्त महाप्रभु ने तटस्थ दृष्टा एवं ज्ञाता के रूप में रहकर आत्मानन्द का रसास्वादन करते हुए भव्यजनों को मनुष्य जीवन की सार्थकता का स्वरूप निर्दर्शन किया था, वह उपदेश आज भी दुनिया के लिए प्रकाश पुंज का कार्य कर रहा है, अन्धकार में भटकने वाली आत्मा उस उपदेश से स्वयं को प्रकाशित करे तभी मनुष्य जीवन की विशेषता है।

मनुष्य इन शरीर की क्रियाओं को अवलोकित जरूर कर रहा है, लेकिन उसका अवलोकन सही ढग से नहीं हो पा रहा है। संसारी सभी आत्माओं के अन्दर क्रिया एवं प्रतिक्रिया होती है। क्योंकि जहाँ क्रिया होती है वहाँ प्रतिक्रिया भी होती है, आघात का प्रत्याघात, ध्वनि की प्रतिध्वनि भी होती है। कौन किस के लिये क्या सोच रहा है, उसके मन की कल्पना पास बैठा हुआ साथी भले

नहीं जानता हो, क्योंकि वह अपूर्ण है, पर मन की क्रिया की गति बड़ी तीव्र होती है। जिस पुरुष के लिए वह मन की क्रिया कर रहा है, उस क्रिया का प्रभाव मनुष्य के चर्मचक्षु से परे होता हुआ भी सम्बन्धित व्यक्ति के मन तक पहुँच जाता है, और उसकी प्रतिक्रिया उसके मन में अदृश्य रूप में होती है। यह विषय मन से सम्बन्धित है। मन की गतिविधि का जिसको विशेष विज्ञान नहीं है, वह भी यह तो अनुभव कर रहा है कि मेरी जितनी भी हलन-चलन की क्रिया हो रही है, यह सब करने वाला कौन है? हाथ स्वतः उठ नहीं सकता, यह हाथ अपने आप उठे तो मुर्दे शरीर के भी उठने चाहिये। आँखें स्वतः झपकने लगें तो मुर्दे की भी आँखें झपकनी चाहिये, किन्तु यह नहीं होता है। इस अनुभव से यह निष्कर्ष सामने आता है कि इस शरीर की संरचना में ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण शक्ति का समावेश है जिससे ये सारी क्रियाएँ हो रही हैं, जिसे शास्त्रीय भाषा में आत्मा कह सकते हैं।

शरीर की बनावट की तरह ही द्रव्य मन की भी बनावट होती है, लेकिन उसकी अध्यक्षता चैतन्य देव आत्मा करता है, वह जैसा-जैसा कर्म करता है, उसके अनुरूप उसके शरीर की रचना, उसका द्रव्य मन बनता है। इस सब स्पष्टीकरण से स्पष्ट होता है कि इस शरीर तंत्र के बीच में इसका चालक कोई स्वतन्त्र कर्ता है, वह स्वयं अपनी इच्छानुसार कार्य सम्पादन करता है, वह शरीर से बाहर नहीं रहकर शरीर प्रमाण अवस्थान में ही रहता है। उसको कोई जबर्दस्ती कार्य कराने में कामयाब नहीं होता, दूसरा अगर कोई करना चाहे तो उसका मन होता है तो ही उस कार्य की परिणति होती है। अतः सर्वशक्तिमान तो आत्मा ही है। पर कर्मों से दबी होने से अपना स्वरूप प्रकट नहीं कर पा रही है। जब आत्मा, मौलिक स्वरूप समझकर उसे निखारने के लिए सत्पुरुषार्थशील होती है, तब आत्मिक शक्ति निखरने लगती है, यदि एकाग्र रूप से किया गया पुरुषार्थ भी आश्चर्यजनक शक्ति देने वाला होता है। सती सीता ने गृहस्थावस्था में पातिव्रत धर्म का अच्छी तरह पालन किया था, उसी का परिणाम था कि रावण की सीता पर बलात्कार करने की शक्ति नहीं रही थी। रावण भी कितना बलशाली था, पर उसने भी एक ही बात रखी कि मैं सीता पर बलात्कार नहीं कर सकता, वह जानता था कि इस सती पर मैं बलात्कार करने जाऊँगा तो मेरी यह सारी क्रिया सफल नहीं होगी, क्योंकि जो शक्ति सम्पन्न चैतन्य देव है, वह नारी जाति के शरीर में भी विद्यमान है और सीता के भीतर तो विद्यमान आत्मा जागृत है। जहाँ आत्मा जागृत है, वहाँ अन्य बल चल नहीं सकता। अबोध को बोध देने में बल चल सकता है, पर समझदार को नहीं। यही स्थिति सारे संसार में रहने वाले मनुष्य की है। यह मन शरीर में रहता है, लेकिन सम्यक् ज्ञान के अभाव में यदि यह कार्य करता है तो उसका कार्य शांतिप्रद नहीं होता। अन्ततो-गत्वा उसे पश्चाताप ही पल्ले पड़ता है। प्रभु महावीर ने अर्थ रूप में जो वाणी का उपदेश दिया, वह द्वादशांगी के रूप में संकलित किया गया। आत्मा को

उन्नति पथ पर ले जाने वाला यदि कोई सारभूत तत्व है तो द्वादशांगी में वर्णित अष्ट प्रवचन है। जो मातृ स्थान को लेकर चलते हैं। वे पाँच सुमति तीन गुप्ति के रूप में हैं। पाँच सुमति तीन गुप्ति के लिये कभी व्यक्ति विचार करे कि ये तो सन्तों के लिये ही हैं, पर जहाँ मैं गहराई से चिंतन करता हूँ तो लगता है कि ये प्रत्येक भव्यों के लिये हैं। प्रत्येक प्राणी को सम + इ = समगति में लाने वाले हैं। मन मिला, शरीर की प्राप्ति हुई लेकिन मन की गति समिति युक्त है या विषम के साथ है। यह सभी के समझने की वस्तु है। एक कथानक के माध्यम से समझिये।

जहाँ भयंकर जंगल में एक डकैत ऐसा बलकारी था, कि जहाँ-जहाँ लूट-पाट करने जाता वहाँ अपनी इच्छानुसार सम्पत्ति लेकर अपने स्थान पर पहुँच जाता। किसी की भी पकड़ में नहीं आता था, उसी जंगल में एक निस्पृह साधक जो पाँच समिति–तीन गुप्ति से युक्त थे, स्व की गति और पर की गतिविधि को जानते थे और पहचानते थे, वे निर्भय होकर भयंकर अरण्य में पहुँचे। उन्हें देखकर डाकू विचार करता है कि यह मनुष्य कौन है ? यहाँ तो मेरा ही साम्राज्य है। यहाँ दूसरा कोई नहीं आ सकता है। मेरा नेतृत्व स्वीकार करने वाला ही यहाँ आ सकता है, पर यह कौन आ रहा है। इस मनुष्य को मैं जंगल का स्वरूप समझाऊँ। इसे मैं मेरे नियन्त्रण में लूँ। यह भावना लेकर वह महात्मा के निकट आया और कहने लगा, "तुम रुक जाओ", महात्मा निर्भय थे, वे स्वयं की समित गति के साथ चल रहे थे, महात्मा ने कहा, "मैं तो रुका हुआ हूँ, तुम रुक जाओ।" डाकू विचार करता है कि यह कैसा मनुष्य है, जो मुझे यह कह रहा है कि तुम रुक जाओ, वह इस अबूझ पहेली को समझ नहीं पाया। अतः यह समस्या डाकू के मन में खड़ी हो गई और वह विचार करने लगा यह कोई साधारण नहीं विशिष्ट पुरुष है। इसका रहस्य जानना चाहिये। डकैत महात्मा को कहने लगा, "तुम उल्टी बात कैसे बोल रहे हो और मैं रुका हुआ हूँ फिर भी तुम ऐसा कैसे बोल रहे हो।" तब महात्मा ने कहा, 'तुम ऊपरि दृष्टि के मनुष्य हो। तुम पैरों की गति को ही गति (चलना) मान रहे हो। पर तुम्हारा मन खड़ा है या चल रहा है ? महात्मा बोले कि यही तो भ्रान्ति है, तुम शरीर से तो खड़े हो पर मन की प्रक्रिया चल रही है। जिस मनुष्य का मन नियन्त्रण में आ जाय, आत्मस्थ हो जाय, तो वह पैरों से चलता हुआ भी खड़ा है, तुम्हारा मन विषम है, तुम्हारी मान्यता पशु जैसी है। पशु भी यही मानता है कि यह जंगल मेरा है, सिंह मानता है कि यहाँ मेरा राज्य है। चूहा शृंगालादि भी यही मानते हैं। तुम विचार करो कि यह जंगल किसका है ? महात्मा की समित गति का, मन की क्रिया का प्रभाव डकैत पर पड़ा और मन की प्रक्रिया को समझने के लिए वह महात्मा के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा कि मैं हूँ, मूर्ख हूँ, यह जंगल सम्पूर्ण विश्व का है, आज तक मैं संकुचित लेकर ही चल रहा था। महात्मा ने कहा कि वीतराग वाणी के

धर्मास्तिकायादि पंचास्तिकायमय है। द्रव्यानुयोग का गहराई से जो बोध दिया जिससे डकैत का मन चोरी करने में ज्यादा आगे बढ़ा हुआ था पर जहाँ महात्मा की अमृतोपम वीतरागवाणी को सुनकर महात्मा के समित मन की प्रक्रिया का प्रभाव पड़ा और डकैत का जीवन परिवर्तित हो गया, तो क्या अन्य का नहीं हो सकता ?

महात्मा के मुँह से वीतराग वाणी सुनकर डकैत का कितना परिवर्तन हो गया, पर वही वाणी संत-सती सुनाते हैं, तो फिर परिवर्तन कैसे नहीं होता ? जब तक मनुष्य की दृष्टि भौतिक तत्त्वों को देखने में ही रहेगी, वहाँ तक जीवन का रूपान्तरण नहीं हो सकता। जिसका आन्तरिक जीवन उस मानसिक क्रिया के साथ प्रतिक्रिया को समझ ले तो उसका रूपान्तर हुए बिना नहीं रहता। जम्बू ने सुधर्मा स्वामी का एक ही उपदेश सुना था, उनके जीवन में परिवर्तन हो गया। कहावत है कि "एक हाथ से कभी ताली नहीं बजती" वीतराग वाणी का उपदेश जीवन रूपान्तरण के लिये दिया जाता है। श्रोतागण उस उपदेश को गहराई से हृदय में ग्रहण करें तो ही परिवर्तन हो सकता है। सूर्य की किरणें सभी को प्रकाश देती हैं, पर रात्रि का राजा (गुग्गु) उल्लू जिसको सूर्य की किरणें भ्रमर की टांग की तरह काली-काली लगती हैं तो दोष किसका है ? सूर्य की किरणों का है या उसे ग्रहण करने वाले का ? उसी जिनवाणी को ग्रहण करने वाला सही नहीं है तो दोष जिनवाणी का नहीं है। जिस प्रकार समान स्तर पर ही व्यक्ति हाथ मिला सकता है। वैसे ही अपनी आत्मा में परमात्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति भी समान स्तर पर ही हो सकती है, मन्द आत्मा कर्मों से काली है तो उसमें परमात्मा की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। जैसे एक मनुष्य का अशुचि से हाथ भरा है, उससे दूसरा व्यक्ति हाथ मिलाने की कोशिश करे तो वह मिला नहीं सकता, इसी तरह जीवन का संशोधन करना है तो चारित्राचार को समझने की आवश्यकता है। बाहर का कितना ही विज्ञान प्राप्त करले, बाहरी डिग्रियाँ कितनी भी क्यों न प्राप्त कर ले पर वह स्व-पर के जीवन को नहीं जान सकता। केवल ऊपर-ऊपर से विचार करने वाला वास्तविक रूप से दूसरों के दिल को रूपान्तरित नहीं कर सकता। इसी तथ्य को एक पौराणिक आख्यान से समझिये।

एक सम्राट विचार करता था कि मैं राजा हूँ। अतः मुझे प्रजा की सुख-दुःख की बात सुननी है। रात्रि का समय परिवार के सभ्य स्वयं के सुख-दुःख की बातें ज्यादा करते हैं। अतः वेश परिवर्तन कर सम्राट रात को नगर का अवलोकन करता हुआ परिभ्रमण कर रहा था। एक बंगले के पास गया, बंगले की खिड़कियाँ खुली थीं और कमरे में कुछ प्रकाश था। स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि कमरे में चार कन्याएँ बैठीं आपस में वार्तालाप कर रही थीं। सम्राट सुनने लगा कि ये क्या बातें कर रही हैं, सुख-दुःख की बातें कर रही हैं या अन्य ?

एकान्त में होने से सम्राट को शंका हुई कि इनके मन में चारित्रहीनता की वात भी पैदा हो सकती हैं। राजा दिवाल से सटकर खड़ा हो गया और ध्यान से उनकी वातें सुनने लगा—

एक वाला ने दूसरी से कहा कि वह' जा रहा है। दूसरी ने इशारा करते हुए कहा—वह नहीं है। तीसरी ने उसकी बात का समर्थन करते हुए कहा—वह होता तो जाता ही क्यों? तब चौथी ने उपेक्षा करते हुए कहा—जाय तो जाने दो न अपना काम तो हो गया। इस विचित्र संवाद को सुनकर सम्राट स्वयं की बुद्धि से विचार करने लगा कि मैं तो चारित्र की प्रतिष्ठा के लिये प्रयास कर रहा हूँ, पर आज तो ये "दिये तले अन्धेरा वाली बात हो गई।" ये चारों चारित्र भ्रष्टा हैं। ये पर-पुरुष की आकांक्षा करने वाली हैं। वह आगे वढ़ा और घूमता हुआ अपने स्थान पर पहुँच गया। रात में राजा को नींद भी नहीं आयी और उसके मन में यह विचार हुआ कि मेरे राज्य में यह चारित्र-हीनता मैं नहीं चाहता हूँ। सवेरे ही चारों को राज सभा में बुलाकर दंड दूँगा। सवेरे होते ही बंगला नम्बर देकर कर्मचारी को वहाँ भेजा और कन्याओं को वुलवाया। कन्याएँ समझ गयीं कि लगता है रात्रि की बात राजा ने सुनली है। उसे सुनकर ही हमें बुलाया गया है। अतः वे तैयार हो गईं और जाने लगीं। तो सर्वत्र उनके चारित्रहीनता की वात हो रही थी। पर वे किसी की परवाह किये विना वहाँ पहुँचीं और निर्भयतापूर्वक राजा को हाथ जोड़े बिना ही एक दूसरी को कहने लगीं। पहली ने कहा—यह तो वही है। दूसरी ने कहा वह तो है पर इसके वे नहीं हैं। तीसरी ने कहा—वे होते तो इन्हें यहाँ आने ही कौन देता। चौथी ने कहा—यदि असावधानी से यहाँ आ भी जाते तो डण्डा मारकर सभा से बाहर निकाल देते।

उनकी इन वातों को सुनकर सम्राट विचार करने लगा कि रात की वात से तो मैं उलझन में पड़ा हुआ था ही और यह वात और खड़ी हो गई। मैंने रात की वात सुनकर इनकी चारित्रहीनता की बात फैला दी, पर यह अच्छा नहीं किया। ये लड़कियाँ कुलीन लगती हैं। इस प्रकार विचारों के महासागर में गोते लगाते हुए राजा ने रात्रि की और अभी की बात पूछी तो उन कन्याओं ने कहा - राजन्! आपकी मन की गति समित है या नहीं? कहीं हमारी बातों को सुनकर आप गलत काम कर दो तो? क्योंकि आप भले ही सम्राट हो, पर मन की स्थिति से आप सम्राट नहीं हो। सम्राट ने कहा— रात को तुम क्या वोली थी? वह कहने लगी कि आपकी मन की क्रिया अच्छी होती तो आप यही सोचते और मन की क्रिया और प्रतिक्रिया का अध्ययन कर लेते। राजा ने कहा—पर मुझे तो तुम्हारी वातों से ही तुम्हारे चारित्र पर शंका हो गयी थी। वे कहने लगीं—दिन में हम दूसरे कार्य सम्पादन करने में लगी रहती हैं, पर पिता के कार्य को पूर्ण करने में रात को सहयोग देती हैं। जब तक पिता के घर हैं तब

तक हमारा कर्तव्य है कि पिता के अवशेष कार्य को निपटाने के लिए हम प्रयास करें। राजा ने कहा कि तुम्हारा कथन मुझे कुछ भी नहीं समझ आ रहा है उन्हें स्पष्ट कर समझाओ। तब उन बहिनों ने कहा—सत्य कटु होता है। कहीं आप सुनकर नाराज तो नहीं हो जाओगे। तब राजा ने कहा—नहीं मैं तुम्हें सौगुना अपराध माफ करता हूँ। जो सच-सच है वह बतला दो। तब वे बालाएं बतलाने को तैयार हुईं। बोली कि अभी की बात समझाएँ या पहले की? तब सम्राट ने कहा—पहले अभी की ही सुनाओ। तब वे कहने लगीं—सम्राट! मन को समित रखना, विषम मत बनाना। हमने अभी जो कहा कि "यह तो वह है" अर्थात् आप सम्राट हैं, सम्राट का उत्तरदायित्व महान् होता है। राज्य धुरा चलाने के लिए विचारों की निर्मलता और बुद्धि का तीक्ष्ण होना परम आवश्यक है। किन्तु खेद है, न आपके विचार शुद्ध हैं और न बुद्धि ही पैनी है। आपने छिपकर रात्रि में कही हमारी बातें सुनलीं और पूर्वापर प्रसंग का विचार न कर हमारे ऊपर चरित्रहीनता का आरोप लगा दिया, जिससे मेरी एक बहिन ने कहा कि ये सम्राट नहीं पशु हैं। पशु में अक्ल नहीं होती, इसमें भी अक्ल का दिवाला है। दूसरी बहिन ने जो बात कही थी, उसका आशय है—"यह साधारण पशु नहीं है, यह तो सींग पूछ रहित विचित्र पशु है। तीसरी बहिन के कथन का अभिप्राय है, यदि इसके सींग पूछ होते तो इसे राज सिंहासन पर कौन बैठाता और मैंने कहा था यदि इसके सीग पूछ होते तो इसे मार पीटकर बाहर निकाल देते। किन्तु अब इसे किस प्रकार निकालें। ये मेरी भूल हो गई और आपको पशु कहा पर अब रात की बात सुनो। तब सम्राट एकदम से चौंक गया। सोचा इन बहिनों ने तो मुझे भरी सभा के बीच पशु बना दिया, पर मैंने इन्हें सौ गुना अपराध माफ किया है। अतः इन्हें कुछ भी नहीं कह सकता। दूसरी बात ये बहुत होशियार और सुशील हैं। फिर राजा ने रात्रि की बात पूछी तब उन लड़कियों ने कहा—राजन्! रात में मेरी एक बहिन ने कहा वह जा रहा है अर्थात् दिये की रोशनी जा रही है, तब दूसरी ने कहा वह नहीं है अर्थात् तेल नहीं है, इसलिये वह जा रहा है। तीसरी ने कहा वह होता तो नहीं जाता अर्थात् तेल होता तो जाता ही नहीं। चौथी बोली जाये तो जाने दे अपना काम तो हो गया। सम्राट कन्याओं की बातों को सुनकर अपनी शंका का समाधान होते ही अत्यधिक प्रसन्न हुआ और स्वयं के जीवन को परिवर्तन कर लिया। आज भी लोगों में परिवर्तन का प्रसंग आ सकता है। जो समझ गया हूँ वहीं सत्य है, ऐसा न सोच कर जिस दृष्टि से यथा तथ्य समझाते हैं, उसी दृष्टि से समझने का प्रयत्न करें तो ये सम्यक् रीति से समझ में आ सकता है। हठाग्रही या अभवी को तीर्थंकर भी आ जाय तो भी नहीं समझा सकते हैं।

मन की गतिविधि क्रिया-प्रक्रिया को समझने की आवश्यकता है। चारित्राचार के द्वारा जीवन के आचारों को, प्रवचन माता के स्वरूप को समझाने

तो स्वयं को स्वयं के आइने में देख सकोगे। अन्यथा वास्तविक रूप में जीवन का परिवर्तन नहीं हो सकेगा।

एक पागल बाजार में सत्य बोलो, सत्य करो कहता हुआ चलता है तो कौन माने। क्योंकि स्व के आचरण में आयी हुई वस्तु ही अन्य पर प्रभाव डालती है, पागल में वह स्थिति नहीं है। सत्य का स्वरूप क्या है, इसके लिए साधु-साध्वी आदि सभी के स्वरूपों को आचार संहिता का विच.र करें कि मेरा विचार, मेरा ज्ञान ही सब कुछ नहीं है, इससे भी विराट् विशाल ज्ञान-विज्ञान अभी बाकी है, शान्ति के क्षणों में बैठकर ही विधिपूर्वक सबका ज्ञान प्राप्त हो सकता है। श्रावक एवं श्राविका भी समिति–गुप्ति का पालन कैसे कर सकते हैं आदि का अच्छी तरह ज्ञान करने पर ही स्वयं के जीवन में उस सम्राट की भांति सद्ज्ञान प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक मानव यह चिन्तन करे कि मेरा जीवन कैसा होना चाहिये ? वर्तमान में मैं कैसे जी रहा हूँ। इन सभी का विज्ञान प्राप्त कर आगे की स्थिति में अग्रसर होने का प्रयास करेंगे, तभी भव्यात्माओं का जीवन मंगलमय दशा की ओर प्रयाण कर सकेगा।

मोटा उपाश्रय ४–८–८५
घाटकोपर, बम्बई रविवार

• □ •

३६ चारित्राचार के साथ ध्यान योग का समन्वय

समस्त विशिष्ट लक्षणों से सम्पन्न परम पवित्र वीतराग स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए तीर्थंकर देव का नाम सुनने से कई मनुष्य विचार करते हैं कि ये तो जैनों के देव हैं, पर जब अर्थ ध्यान में आता है तो मालूम होता है कि वे जाति-पांति वर्ग विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं। जिनका रागद्वेष मिट गया है, वे सभी के हैं। मानव मात्र के ही नहीं, प्राणी मात्र के हितैषी हैं। उनका उपदेश अमुक वर्ग के लिये ही है, यह नहीं होता। उनका उपदेश सभी के लिये कल्याणकारी है। आज की दुनिया में जो अशांति, दु:ख और द्वंद्व हैं, उन सबका अन्त इस उपदेश से हो सकता है। आवश्यकता है, वैसा ही पुरुषार्थ करने की। विमल प्रभु की प्रार्थना में उनके लोचन देखने की बात आई है। उनके लोचन नेत्र विशिष्ट नेत्र याने ज्ञान नेत्र के लिए कहा है। उसे देखने के लिए वैसे ही नेत्र पैदा करने होंगे। आचाराङ्ग सूत्र में कहा है – भगवान् के नेत्र बहुत बड़े हैं, जो लोक को तो देखते हैं, पर अलोक को भी देखते हैं, ऐसे ज्ञान चक्षु से जो आत्मा को देख लेता है वही विमलनाथ भगवान् के नेत्रों का साक्षात्कार कर सकता है। विचार करना है कि भीतर के नेत्र कैसे देखे जायं। इसके लिए प्रभु ने उपदेश दिया है, जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों का उल्लेख है। उमास्वाति ने पहले दर्शन फिर ज्ञान कहा है। सम्यक् ज्ञान व दर्शन के आचारों का उल्लेख, मैं आपके सामने कर गया हूँ। अब विचार करना है कि चारित्र के आठ आचार कौन से हैं। चारित्र की पालना जैन धर्म में कई मनुष्य करते हैं, पर चारित्र की पालना करते-करते विमलनाथ भगवान् जैसे नेत्र उन्हें प्रगट हुए या नहीं, इसके लिए साधु के पाँच महाव्रत और श्रावक के पाँच अणुव्रत बताये हैं। इनका आचरण करके जो प्राण रूप तत्त्व ग्रहण कर लेता है, वही वैसे नेत्रों का साक्षात्कार कर सकता है। जिस शरीर में प्राण नहीं रहते, वह प्राणी नहीं कहलाता। इसी प्रकार आचरण तो करने में आता है, पर उसके भीतरी ध्यान योग को जाने विना उन नेत्रों का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

आज बहुत से मनुष्य, शब्दों का उच्चारण तो करते हैं पर उसके अर्थ को नहीं जानते, ग्रहण नहीं करते। आज के कई मनुष्य बहुत से शास्त्र पढ़ लेते हैं, उसका अर्थ विवेचन भी पढ़ लेते हैं, पर उनके दिल में ध्यान योग की साधना नहीं आती। सोचते हैं कि यह तो दूसरों के पास है, हमारे धर्म में नहीं है।

पर यह मानना सही नहीं है, जैन धर्म में ध्यान योग का पर्याप्त विवेचन मिलता है।

ध्यान साधना चारित्र का प्राण है, इसमें जो दत्तचित्त हो जाता है, उसके भीतर के नयन खुल जाते हैं, पर इसकी साधना करने वाला चाहे साधु हो या श्रावक, सभी को बहुत कम समय मिलता है। कारण कि मन एकाग्र करना पड़ता है। शुरू में कठिनाई अवश्य होती है, पर करते-करते यह हाइवे रोड के समान सुबोधगम्य बन जाती है। शुरू-शुरू में धैर्य की आवश्यकता है। ध्यान रूपी चारित्र का प्राण जब चारित्र के साथ रहता है, तो उसका किस तरह विकास होता है, यह जानने की बात है। पानी का लक्षण क्या है, यही तो, जो मनुष्य की तृषा शांत करे, ठंडक प्रदान करे, वही जल है, पर यदि ये गुण उसमें नहीं हैं तो उसे मीठा पेय नहीं कहा जा सकता। समुद्र के पानी से प्यास नहीं बुझती।

ध्यान आत्मा की तृषा बुझाने वाला है, पर वह हो चारित्र रूप पानी के साथ। आज बहुत से साधक चारित्र की पालना कर रहे हैं, पर उन्हें अन्तर की संतुष्टि नहीं मिलती। कठिन-से-कठिन क्रिया की जा रही है, पर ध्यान रूप प्राण को छोड़कर ही सब कुछ किया जा रहा है, इसीलिये आत्म संतुष्टि नहीं मिल पा रही है। वीतराग देव ने ध्यान को महत्त्वपूर्ण बताया है।

प्राणायाम में जो श्वास ग्रहण की जाती है और छोड़ी जाती है, वह ऊपर की वस्तु है। ध्यान योग नहीं। ध्यान और योग दो शब्द हैं। योग क्या है ? मन, वचन, काय इन तीनों की गतिविधि ध्यान में लगा दें तो हो सकती है। दूसरी-दूसरी जो योग साधना हैं वे खतरनाक हैं, ज्यादा तो उसमें प्राण वायु को रोकने का प्रसंग आता है, हवा रोकी जाती है तो अन्दर कुम्भक होता है। उन बारीक नसों पर बहुत दबाव पड़ता है, जिससे मस्तिष्क की नसों पर ज्यादा दबाव पड़ने से कभी-कभी मनुष्य पागल हो जाता है। कई बार सुनने में आता है कि वह बहुत विद्वान् था, पर योग साधना में श्वास रोकते-रोकते पागल हो गया। कारण स्पष्ट है कि नियन्त्रण नहीं रहा कुम्भक पर।

ब्यावर का प्रसंग है। एक व्यक्ति इसी तरह ध्यान साधना किया करता था, पर एक समय ऐसा प्रसंग बना कि श्वास रोकते-रोकते कुम्भक पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि मस्तिष्क की नसें खिचने लगीं और वह पागल हो गया। यह मेरी आँखों देखी घटना है। रोग मिटाने के लिए औषध लेने में आती है, वह भी कई तरह की होती है। उदाहरण है—एक चिकित्सक यह कहे कि मेरी दवाई से रोग मिटे या न मिटे पर दूसरी बीमारी हो सकती है। दूसरा कहे कि मिटने का चान्स तो है, पर दूसरा रोग भी लग सकता है। तीसरा कहे दवाई तो दे दें पर उससे रोग मिटे यह निश्चित नहीं, किन्तु दूसरी बीमारी नहीं

हो सकती। चौथा कहे कि मेरी दवा से रोग तो मिट ही जायेगा और ताकत भी बढ़ जाएगी तो बताइये आप कौन से चिकित्सक की दवा लेंगे ? उत्तर है, चौथे की। तो बन्धुओ, वीतराग देव ऐसे ही डॉक्टर थे। उन्होंने घनघातिक कर्मों का नाशकर जो सुन्दर औषध दी है, वह है चारित्र पालना में ध्यान योग की साधना। आप चारित्र के साथ ध्यान के प्राण को जोड़ें। चारित्राचार के जो आठ भेद हैं--आठ प्रवचन माता। जो आप सब जानते ही होंगे। प्रवचन माता क्या करती है ? प्राण रूप दूध देती है, पर वह दूध आपने ग्रहण किया या नहीं ? जैनाचार्य ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए दुनिया के सामने एक दृष्टि दी है। सत्वेषुमैत्री - संसार की सभी आत्माओं के प्रति मैत्री भाव हो। हरिभद्र सूरिजी ने भी इसीलिए मिथ्यादृष्टि का वर्णन किया है। यह सब ध्यान योग के लिये है। इसलिये ध्यान साधना किस तरह की जाय ? यह मैं समय-समय पर बताता रहता हूँ। पर उसमें आपकी अरुचि आ गई तो सब निरर्थक हो जाएगा। जो साधक पहले अपेक्षित ध्यान साधना न साधकर चारित्र का पालन करता है तो उसे पूरे फल की सिद्धि नहीं मिल सकती। इसे एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट कर देता हूँ।

पुष्पभूति नाम के आचार्य थे। वे अपने बहुत से शिष्यों को चारित्र के साथ-साथ ध्यान साधना की भी शिक्षा देते थे। अध्यापक चाहे कैसा भी उपदेश दे, पर यदि शिष्य सही रूप में स्वीकारे तो उस उपदेश की सार्थकता है। पुष्पभूति आचार्य का पुष्पमित्र नामक शिष्य बहुत ही गुणवान्, विनयी एवं शास्त्रों की गहराइयों में उतरने वाला था। वह उस ध्यान साधना को पाने के लिए हरेक क्रिया का ध्यान रखता था और सदा निवेदन करता कि ध्यान साधना व चारित्राराधना का मार्ग बतायें। मैं साधना में तल्लीन बनना चाहता हूँ। इस प्रकार ध्यान साधनादि में वह गीतार्थ हो गया।

एक दिन आचार्य प्रवर मन में विचार करने लगे कि मैं चारित्र पालना के साथ ध्यान साधना में विशेष लक्ष्य रखता हूँ तो संघ से अलग होना पड़ेगा। ध्यान साधना के लिए एकाकी रहना होगा। तब संघ को कौन समझायेगा, कौन संभालेगा ? चिन्तन करने के बाद उन्होंने शिष्य पुष्पमित्र को बुलाकर कहा मैं ध्यान साधना विशेष रीति से करना चाहता हूँ, आगे बढ़ना चाहता हूँ। अतः कोई भी दर्शन करने के लिये आये तो तुम उन्हें बाहर ही रोकोगे, उन्हें संभालोगे। क्योंकि आज भी ऐसा देखने को मिलता है, जो लोग दर्शन करने आते हैं तो जोर से 'मत्थएणं वंदामि' कहते हैं। ताकि मोटे महाराज के कान में उनके शब्द पहुँच जाय और जब तक वे आपकी वन्दना न झेलेंगे "दया पालो" न कह दें, तब तक आप अपनी की गई वन्दना को सार्थक नहीं मानते। पर इसमें विवेक रखने की आवश्यकता है। संयमी जीवन का हर एक कार्य अपनी सीमा में होता है। अतः आपको धैर्य के साथ रहना चाहिये। दूर

से ही वन्दनादि कर लेनी चाहिये । वे आचार्य जानते थे कि सभी मनुष्य एक सरीखे नहीं होते हैं, कोई आकर मेरे पांव में भी माथा लगा देगा तो ध्यान साधना में खलन पड़ेगा । लोग आकर पांवों में माथा लगाते हैं । तो यह नहीं सोचते कि इनके ध्यान में मैं बाधक बन रहा हूँ । इनकी साधना में विघ्न उपस्थित कर रहा हूँ । इस तरह मैं इन्हें अन्तराय तो दे ही रहा हूँ, पर साथ ही स्वयं भी कर्मों का उपार्जन कर रहा हूँ ।

शिष्य पुष्पमित्र ने गुरुदेव की वात सुनकर कहा—कि मैं तन, मन से समर्पित हूँ, आप ध्यान साधना में विराजें, मैं एक भी शब्द आपके कान तक नहीं पहुँचने दूँगा । सभी व्यक्तियों को वाहर से ही लौटा दूँगा । शिष्य के विनीत वचनों को सुनकर एवं आश्वासन पाकर आचार्य श्री ध्यान साधना में, तन, मन, काया की साधना में तन्मय हो गए, दूसरे शब्दों में कहा जाय तो समिति के साथ गुप्ति की साधना में तन्मय हो गए । सभी साधु, गुरु भ्राता अन्य कोई भी आते और कहते कि दर्शन करना है, तो पुष्पमित्र यही कहते कि यहीं से कर लो । कुछ दिन तो सभी को संतुष्टि प्रदान की । पर कई साधु प्राण रूप चारित्र जीवन की ध्यान साधना क्या होती है ? यह नहीं जानते थे । अतः कुछ दिन वाद पुष्पमित्र को कहने लगे कि तुम जाने नहीं देते, दर्शन नहीं करने देते आदि कहकर उसकी इस प्रकार आशातना करने लगे । पुष्पमित्र का तिरस्कार करते, पर पुष्पमित्र यही कहते कि आचार्य श्री ध्यान साधना में संलग्न हैं, उनके समीप जाने से विघ्न उपस्थित होगा, उनकी ध्यान साधना में । पर वे ध्यान साधना से अनभिज्ञ साधु न माने और एक दिन जव पुष्पमित्र आवश्यक कार्य से निपटने के लिए जंगल गए हुए थे, तव वे लोग अन्दर पहुँच गये, देखा तो सोचा—अरे ! आचार्य श्री का स्वर्गवास हो गया है, यह पुष्पमित्र हमको अन्तराय दे रहा है । पुष्पमित्र आया तो उसे भी वहुत कुछ कहने लगे । उसने समझाया कि ये महान् हैं, ध्यान साधना में संलग्न हैं, आप इन्हें बाधा न पहुँचाये, पर उन्होंने उसकी वात पर विश्वास नहीं किया । वे लोग शवदाह करने के लिए कहने लगे । इधर पुष्पमित्र अकेला था, फिर भी उसने उन्हें नहीं ले जाने दिया तब वे लोग वहाँ के राजा के पास पहुँचे—कहा कि आचार्य श्रीजी न तो हिलते-डुलते हैं और न कुछ वोलते ही हैं, लगता है उनका स्वर्गवास हो गया है, पर उनका दाह संस्कार नहीं करने दे रहा है । तब सम्राट स्वयं पूछा तो पुष्पमित्र ने कहा कि ये साधु महाव्रत लेकर चल रहे का आचरण कर रहे हैं, पर उससे जो रस आता है, उसे आचार्य श्रीजी को मृत घोषित कर रहे हैं । आप इन्हें सम ध्यान साधना में विराजे हुए हैं, पर साधु लोग कहने लगे । यही है, हमने इतने शास्त्र यों ही पढ़े हैं, इस तरह पुष्पमित्र ने मौन धारण करली कि जो ईर्ष्या एवं क्रोध से

कुछ समझाना बेकार है। राजा आचार्य श्रीजी के समीप गये, उनके हाथ पांव आदि हिलाकर देखा, उनकी नस टटोली, श्वास देखी, पर सब कुछ स्पंदन रहित देखकर कहा कि पुष्पमित्र की बात गलत है, ये सभी साधु ठीक कह रहे हैं। सम्राट ने उनकी शव क्रिया के लिये तैयारी करने की आज्ञा दे दी। तब पुष्पमित्र ने सोचा कि आचार्य श्री तो ध्यान साधना खोलेंगे नहीं, मुझे संकेत बताया था कि जब कभी आवश्यक कार्य होवे तो मेरे अमुक अंग को स्पर्श करना, तब मैं ध्यान की स्थिति से पूर्व अवस्था में लौट आऊँगा। उन्होंने सोचा कि अब रुकने का समय नहीं है। ये लोग तो इनका दाह संस्कार करने की तैयारी कर रहे हैं। अतः वे आचार्यश्री के पास गए और उनके संकेतित अंग पर हाथ लगाया। आचार्य श्री ने ध्यान खोला और कहा कि यह क्या किया? मेरी ध्यान साधना में यह विघ्न उपस्थित क्यों किया? तब पुष्पमित्र ने विनय के साथ करबद्ध होकर सारी स्थिति स्पष्ट की और कहा कि चारित्र की पालना, ध्यान की साधना का भगवन्! इन साधुओं को कुछ भी ध्यान नहीं है। आप तो ध्यान साधना में तल्लीन थे, पर उन्होंने आपको मरा हुआ समझ लिया। मैंने बहुत समझाया कि आप ध्यान साधना में तल्लीन हैं, पर वे नहीं माने और आपकी शव क्रिया करने के लिये ले जाने की तैयारी करने लगे। अतः मैंने आपकी साधना में विघ्न उपस्थित किया, ताकि इन साधुओं को सच्चाई ज्ञात हो सके और इनके नेत्र खुल सकें। तब आचार्य श्री ने उन समस्त साधुओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि तुम लोग इसीलिये अधूरे रह गये हो। केवल ऊपर की वस्तुओं को देखते हो, गहराई में नहीं उतरते हो। अपने ज्ञान को ही महान् समझते हो, गुरु को कुछ नहीं समझते। न पुष्पमित्र का तुम लोगों ने विनय किया। ध्यान साधना में तुम लोगों की रुचि नहीं है—और जो रुचि रखते हैं, उनकी साधना में तुम लोग बाधा उपस्थित करते हो। मेरी समाधि भी तुम लोगों ने अपनी असावधानी से भंग करवा दी। अब मुझे नये सिरे से ध्यान करना होगा।

बन्धुओ! इस उदाहरण से वस्तु स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि साधना किस प्रकार करनी चाहिये। सम्यक् चारित्र के आठ आचारों का विशिष्ट रूप में पालन करने के लिए ध्यान योग की कितनी आवश्यकता है। केवल बाहरी क्रियाओं में ही साधक समिति-गुप्ति का पालन करे और अन्तरंग की ओर ध्यान न दे तो साधना सफल नहीं हो सकती। क्योंकि शास्त्रकारों ने कहा है कि बाह्य रूप से चारित्र पालन क्यों न गौतमस्वामी जैसा कर लिया जाय, पर मन में समित अवस्था नहीं है, वचन की प्रवृत्ति समित नहीं है, तो वह आचार मुक्तानुलक्ष्यी नहीं हो सकता। साधक को सम्यक्चारित्र के आठ आचारों का पालन करने के लिये मन को ध्यान योग में सम्यक्रित्या नियोजित करना आवश्यक है। इसलिये महाप्रभु ने सहजिक ध्यान योग भी बताया है कि प्रत्येक क्रिया

करते समय ध्यान उसी में रहे। जब मन इतना सधेगा, तभी चारित्राचार की परिपूर्ण पालना में ध्यान की विशिष्ट साधना सध सकेगी। केवल ऊपरी तौर पर चारित्र ग्रहण कर लिया, ३२ शास्त्रों का शाब्दिक अध्ययन कर लिया, पर चारित्र के साथ ध्यान साधना नहीं की तो क्या स्थिति होगी? विचार करिये, चिन्तन मनन करिये कि आज जैन समाज में लोगों का विशिष्ट प्रक्रिया की ओर आकर्षण कम लगता है। केवल ऊपरी-ऊपरी ध्यानों की ओर ही आकर्षण ज्यादा है। आज के तथाकथित ध्यान साधक भी ज्यादातर ऊपरी ध्यान की ओर ही लगे हैं, ऊपरी दृष्टि रखकर चले जा रहे हैं। स्वयं को देखने के बजाय पर को देखा जा रहा है। कई तो यही सोचते रहते हैं कि अमुक ने मुझे वन्दना नहीं की, अमुक ने नमस्कार नहीं किया, अमुक ने मेरा सत्कार-सम्मान नहीं किया, अमुक मेरा भक्त कैसे बने, मेरे नाम पर संस्थान कैसे हो। इन बाहरी बातों में ही उलझते जा रहे हैं। इन बाहरी बातों से ध्यान साधना का लक्ष्य तिरोहित होता चला जा रहा है। दशवैकालिक सूत्र में तो साधक के लिये साफ बतलाया है—

"जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठई।"

अर्थात्—वन्दना नहीं करने वाले पर क्रोधित न हों और वन्दन करने वाले पर अभिमान न करें। इस प्रकार का वर्तन करने वाला साधक ही श्रमण धर्म का शुद्ध पालन कर सकता है।

बन्धुओ! मैं आपसे कह रहा था कि चारित्राचार संत जीवन के साथ-साथ श्रावकों के लिए भी ज्ञेय-उपादेय है। उन्हें यथायोग्य रूप में अपनाकर ध्यान योग के साथ रमण करने पर ही दिव्य नयनों को देख सकेंगे। विशेष ज्ञान चर्म नयनों तक ही सीमित नहीं है। जीवन का तत्त्व एवं दिव्य नेत्र अवलोकन करने की चीज है। उसे यों ही सहज ही प्राप्त नहीं किया जा सकता। चारित्राचार के आठ भेदों को समझ कर गहराई से चिन्तन-मनन करते रहें, तभी चारित्र की पालना के साथ-साथ ध्यान योग की साधना जीवन में परिपूर्ण रूप से उतार कर मंगलमय दशा को प्राप्त कर सकेंगे।

मोटा उपाश्रय ५-८-८५
घाटकोपर, बम्बई सोमवार

• ० •

३७ मित्रता हो सभी आत्माओं पर

वीतराग देव को प्रतिदिन भावात्मक दृष्टि से स्मृति में उभारा जाता है क्योंकि सभी आत्माओं का मौलिक रूप वीतराग स्वरूप है। अपने शरीर में जो आत्मा है, उसका भी यही स्वरूप है। भव्यात्माओं का लक्ष्य होता है एक न एक दिन वीतराग देव के सम बन जाना। इसलिये लगभग प्रतिदिन इनको याद करने का प्रसंग बन जाता है, चाहे तीर्थंकर के नाम से याद करें या वीतराग देव के नाम से।

सभी की भावना आज यही है कि वीतराग दशा प्राप्त की जाय। लक्ष्य नहीं होगा तो सभी एकत्व भावना में नहीं आ सकेंगे। एक को साधने वाला ही सब को साधकर सत्य को पा सकता है। कहा भी है—

"एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।"

अर्थात् यदि एक को साध लेंगे तो सभी कार्य सध जायेंगे, पर यदि सभी कार्यों को एक साथ साधने जायेंगे तो मुख्य काम तो बिगड़ेगा ही, साथ ही सभी कार्य भी बिगड़ जायेंगे। वट वृक्ष आपने देखा होगा, उसका मूल बड़ा होता और पत्तियाँ आदि हरी होती हैं। कोई मनुष्य उसकी पत्ती पकड़कर चलता और दूसरा जड़ को लेकर चलता है, जड़ को ग्रहण करने वाला तो फूल-पत्र आदि सब कुछ पा लेता है, पर पत्ते को पकड़कर रहने वाले के हाथ कुछ नहीं आता, वह पत्ता भी एक दिन पककर झड़ जाता है, इस तरह वीतराग दशा को जीवन में लाने का प्रयत्न करने वाली आत्मा सब कुछ पा सकती है, किन्तु जो आत्मा इन्द्रियों से विभिन्न सुख को पाने का प्रयत्न करती है, वह कुछ भी नहीं पा पाती है, वीतराग स्वरूप की प्राप्ति के लिए सम्यक् चारित्र की आराधना के साथ समीक्षण ध्यान का समन्वय करने पर आत्मा का वीतराग स्वरूप निखर सकता है।

सुखविपाक-सूत्र में आप सुन रहे हैं, मूल को पकड़ कर चलने वाले सुबाहु कुमार का वर्णन। जो कि वीतराग दशा को प्राप्त करने में सफल बन जायेंगे, अभी तो देवलोक में गए हैं। आत्मा को उज्ज्वल बनाने में प्रमुख कारण चारित्र है और उसका प्राण है—समीक्षण ध्यान। वीतराग देव द्वारा प्ररूपित समीक्षण ध्यान ही चारित्र का प्राण है। ध्यान की साधना कैसे होती है? यह विचार

करने की बात है। जो विषय आज अपने जीवन के लिये आवश्यक है, उस विषय की बातें चाहे गुजराती में हों' चाहे हिन्दी में, मूल विषय एक ही है और उसे ही सबको पकड़ना है। हाँ तो मैं कह रहा था, ध्यान योग साधना किस माध्यम से हो? हमारा यह शरीर जो दिख रहा है, उसके अन्दर दो शरीर और हैं—तेजस्, कार्मण। ये दोनों ही इस आत्मा को स्वरूप से अलग कर रहे हैं, स्वरूप का ध्यान लगाने में बाधा पहुँचा रहे हैं।

आत्मा तो इतनी प्रखर तेजस्वी है कि सूर्य के प्रकाश की उपमा भी नहीं दी जा सकती। सूर्य में कितना तेज होता है, पर जब बादल आ जाते हैं सूर्य के चारों तरफ, उस वक्त सूर्य का प्रकाश दिखाई नहीं देता है, पर सूर्य की किरणें इतनी प्रखर हैं कि बादल ज्यादा टिक नहीं सकते। जिस प्रकार सूर्य की प्रखर किरणों के तेज से सारे बादल हट जाते हैं और सूर्य अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार सूर्य से भी अधिक यह आत्मा प्रकाशवान् है। यदि इसके तेज से कर्मों को हटा दें तो आत्मा का निर्मल स्वरूप कर्म रहित होकर चमक सकता है, औदारिक शरीर में से आत्मा का भौतिक स्वरूप निखर उठेगा। आत्मा इन शरीरों की मालिक है, उसे चाहिये कि वह अपनी सुख शक्ति को जाने। कर्मों के बादल को हटाकर अनंत ज्ञान का प्रकाश प्रकट करे।

बादल किससे पैदा हुआ? सूर्य की किरणों के माध्यम से ही वे आकाश में जाते हैं और एक दिन उसे ही आवरण में ले लेते हैं, ठीक इसी प्रकार आत्मा, शरीर, मन, वाणी, व्यवहार से कर्म रूपी बादल को इकट्ठा करती है तो उसे हटाने का कार्य भी यह आत्मा ही करती है। पर उसे हटाने में सम्यक्ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र का पुरुषार्थ हो तो शाश्वत शांति की दिशा में आगे बढ़ा जा सकता है।

जैसे आपने अपने हाथों से किसी को रस्सी से बाँधा है, वो एक दिन हाथों से ही उसकी रस्सी भी खोलेगा, पाँवों से नहीं, ठीक इसी प्रकार मन, वचन, काया के द्वारा ही कर्म बँधे हैं, इन्हीं के द्वारा वे नष्ट भी होंगे। मन, वचन, काया को सम्यक् करें। सही संशोधन करने वाला ही योगी होता है, गुफा में बैठने वाला ही योगी नहीं हो जाता।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो मन, वचन, काया की प्रवृत्ति होती है, वह योग है। आपकी जानी मानी चीज अर्थात् जो आप रोजाना बिजली को काम लेते हो, वह बिजली पावर हाउस से जुड़ी हुई है, शक्ति पावर हाउस में है। पर प्रायः कई कार्यों में बिजली का उपयोग होता है, अर्थात् संचार पावर हाउस के होते हुए भी प्रकाश का माध्यम अलग होता प्रकार क्रियाएँ मन, वचन, काया से होते हुए भी शक्ति का संचार द्वारा ही होता है। जिस प्रकार बिजली का पावर हाउस एक

अलग-अलग है, उसी प्रकार आत्मा का प्रकाश पुञ्ज एक है, पर इसके मन, वचन, काया तीन मुख्य माध्यम हैं, जिनके द्वारा वीर्य शक्ति प्रकट हो रही है, पर आज के प्रायः मनुष्य उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। जैसे रात्रि के समय बिजली खुली रह गई तो उसमें अनर्थदण्ड की हिंसा होती है, जिसका कि श्रावक के त्याग होता है। तो फिर कैसे उसके अणुव्रत की सुरक्षा हो सकती है? इसी प्रकार मन, वचन, काया का दुरुपयोग भी अशुभ कर्मों का बन्धन कराने वाला बनता है। मनुष्य स्वयं अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रहा है। लेकिन जो योगों का उपयोग वीतराग दशा की प्राप्ति की ओर करता है तो उसके कर्म निर्जरा का भव्य प्रसंग भी उपस्थित हो सकता है। लेकिन आज मनुष्य की स्थिति कहाँ जा रही है? पानी के नल से पानी की आवश्यकता थी, जितना भरा बाद में नल को खुला छोड़ दिया। व्यर्थ ही पानी बह रहा है, इसमें पानी का तो दुरुपयोग हो ही रहा है, पर साथ ही आपके कर्मबन्ध की स्थिति भी बन रही है। पानी के इस प्रकार बहने से अनंतानन्त जीवों का हनन होता है। पानी जीवों का पिण्ड है, पर कई अविवेकी व्यक्ति उन जीवों का घात व्यर्थ ही कर बैठते हैं। इसी तरह आज जीवन की शक्ति योगों के माध्यम से नष्ट-विलुप्त हो रही है। कर्मबन्ध की स्थिति बनती जा रही है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्य-शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है। कम से कम धर्मस्थान में तो भव्यात्माओं को ज्यादा से ज्यादा सदुपयोग करना चाहिये। धर्मस्थान में बैठते समय श्रावक यह समझे कि मैं सभी जीवों का मित्र हूँ। हरिभद्रसूरि प्रतिपादित आठ दृष्टियों में से एक मित्रा दृष्टि भी है। सभी प्राणियों के साथ उसके जीवन में अहिंसा की भावना आ जानी चाहिये। जिसका तात्पर्य है कि—

"खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा वि खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वैरं मज्झं न केणई॥"

इस प्रकार सभी के प्रति आत्मीय व्यवहार लेकर जितने समय तक भी वह चलता है, उसकी आत्मा में एक विशेष प्रकार की आत्मीयता एवं सुखानुभूति जागृत होती है। लेकिन आज धर्मस्थान में रहकर भी अशुभ अध्यवसायों के माध्यम से कर्मों के बन्धन की स्थिति बनती है, तो वह आत्मा के लिए घातक है, क्योंकि कहा है—

"अन्यस्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विमुच्यते।
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेषो भविष्यति॥"

अन्य स्थान पर किये पाप से छुटकारा धर्मस्थान में मिलता है, पर धर्मस्थान में जो पापक्रिया करके बंध की स्थिति बनाते हैं, उसका विमोचन कहाँ होगा?

बन्धुओ ! वीतराग वाणी को जीवन साधना के साथ जोड़ें। हमारे पाँच महाव्रत हैं और आपके पाँच अणुव्रत हैं। हमारे एवं आपके सभी के लिए यह ध्यान देने की बात है। यह धर्मस्थान है, सभी पापों का विमोचन यहाँ किया जाता है। अन्तःकरण से जिस समय माफी माँगी जाती है, तब योग का दण्डा नीचे रखा जाता है अर्थात् मन, वचन, काया के दण्डों को झुकायें। आप लोग इसे समझें और जीवन में उतारें। जीवों की पिटाई, हिंसा कम से कम धर्मस्थान में न करें, उन्हें अभयदान देकर चलें तभी जीवन का सारा स्वरूप बदलेगा, सहायता मिलेगी। जिसके भी जीवन में ऐसा प्रसंग आता है, उसके अन्तःकरण में क्षमाभावना से आत्मज्योति देदीप्यमान होती है।

एक छोटी-सी बात कह देता हूँ। दो मित्र थे, बचपन से ही साथ-साथ पढ़ते खेलते थे। पढ़ाई पूर्ण हो जाने पर दोनों ने व्यापार करने का निश्चय किया और सम्पत्ति कमाने के लिए विदेश जा रहे थे। आज जितनी यातायात की सुविधाएँ हैं उस समय नहीं थी। वे पैदल चलते-चलते राह भूल गये, जंगल में चले गये, अब वहाँ किससे मार्ग पूछा जाय। वहाँ तो कोई मनुष्य मिलता नहीं, अतः वृक्ष पर चढ़कर चारों तरफ देखा, तो उन्हें एक पहाड़ के मध्यभाग में झोंपड़ी दिखाई दी, नीचे उतरकर मित्र ने कहा कि कुछ दूरी पर एक झोंपड़ी है, अतः संभव है वहाँ कोई न कोई व्यक्ति मिल ही जाएगा तो चलो वहाँ चलकर उससे किसी शहर का रास्ता पूछा जाए। दोनों मित्र चलकर उस झोंपड़ी के पास आए और देखा कि झोंपड़ी के पास साधना की पूर्वभूमिका-मित्रादृष्टि को प्राप्त करके सीधी-सादी पोषाक में एक साधक बैठे हुए थे। व्यापारियों की दृष्टि किनको पहचानती है ? व्यापारियों को वस्तुओं की पहचान हो सकती है, साधकों की नहीं। वे विचार करने लगे, जंगल में रहनेवाला यह जंगली है। वे उस साधक को जाकर कहने लगे, अरे जंगली ! यह सम्बोधन सुनकर साधक सोचने लगा कि ये अपने अहं में डूबे हुए हैं, पर मुझे क्या करना ? मैं तो आत्मरमण की स्थिति में चल रहा हूँ। इनके इस सम्बोधन से मेरी आत्मा पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। ये मुझे नहीं पहचानते हैं, क्योंकि ये व्यापारी हैं, अतः पैसों को पहचानते हैं, यह सोचकर वह योगी बोला—मित्रो ! पधारो।

उस योगी के ये शब्द सुनकर वे विचार करने लगे, अहो यह तो सभ्य है। उसने उन्हें अन्दर ले जाकर बैठाया और कहा कि आपकी आकृति से लगता है कि आप प्यासे हैं, उन्हें झरना बताया कि वहाँ जाकर अपना कार्य निपटाकर प्यास बुझालो। फिर कहा कि आपकी तृषा तो शान्त हो गई, पर लगता है कि आप लोग भूखे भी हैं। उन्होंने कहा—हाँ, भूखे तो हैं, पर यहाँ जंगल में कोई ऐसा वृक्ष नहीं है, जो कि फलों से लदा हो और हमारी भूख मिटा सके। तव उस साधक ने कहा कि फल आदि के लिये आप क्यों चिंता करते हैं, व्यर्थ में वनस्पति की हिंसा करने से क्या लाभ ? मेरे लिए प्रतिदिन भोजन आता

आज का भोजन अभी तक रखा हुआ है, सो आप लोग वह भोजन ग्रहण कर अपनी क्षुधा शान्त करिये। उन लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, पूछने लगे कि यह भोजन हम लोग खा लेंगे तो आप क्या खायेंगे? तब उसने कहा, मेरी चिन्ता न करो। इस तरह बहुत ही प्रेम से उन्हें जिमाया। भोजन करके तृप्त हुए तब उनकी दृष्टि पड़ी कि अहो, यह भी कोई व्यक्ति है, कितना शिष्ट एवं सभ्य है, उन्होंने शिष्टता से पूछा कि हमें शहर का रास्ता बताओ। तब साधक ने पूछा, शहर क्यों जा रहे हो? तो कहा, आजीविका के लिए। योगी ने कहा कि क्या तुम्हारे गाँव में पेट भरने का साधन नहीं मिलता? तो वे बोले, मिलता तो है, पर हमें अधिक साधन की अपेक्षा है। तब योगी ने कहा—मैं समझ गया तुम पेट नहीं पेटी भरना चाहते हो। पर मुझे इससे मतलब नहीं। मैं मित्रा-दृष्टि रखकर चल रहा हूँ। मेरे लिए सभी व्यक्ति समान हैं, यहाँ आनेवाले सभी व्यक्ति मेरे मित्र हैं, जो भी मेरा अतिथि बनकर आता है, उसे अपनी सेवा से संतुष्ट करना मेरा कर्त्तव्य है। तुम्हें शहर का मार्ग तो बता देता हूँ, पर उससे पहले तुम्हें एक काम की बात बताता हूँ, तुम ध्यान से उसे सुनलो।

दोनों मित्रों ने सोचा कि यह जंगल में रहकर साधना कर रहा है, जरूर इसने कोई ऐसी जड़ी बूटी सिद्ध की है, जिसके रासायनिक प्रयोग से स्वर्ण धातु की उपलब्धि होती है। मन ही मन बड़े प्रसन्न होते हुए प्रकट में कहा कि हाँ! हाँ! जरूर बताओ। हम ध्यान से सुन रहे हैं। तब उस साधक ने कहा कि मैं ऐसी जड़ी बूटी जानता हूँ, जिसके प्रयोग से स्वर्ण बनाया जाता है, पर मैं ऐसी परिश्रम से प्राप्त होने वाली वस्तु आपको नहीं बता रहा हूँ। बल्कि विना किसी पुरुषार्थ के सीधे ही आपको रत्न और स्वर्ण की प्राप्ति हो जाए, ऐसी बात बता रहा हूँ। मेरे पीछे जो गुफा है, उसमें आगे जाते हुए बहुत से वृक्ष तुम्हें दिखाई देंगे, उनके बीच में जो दो वृक्ष एक समान हैं, उनके नीचे तुम्हें चन्द्रकान्त, सूर्य-कान्त मणियाँ स्वर्णादि मिल जाएँगे। जिसके प्रकाश के सहारे तुम अँधेरे में भी सब कुछ देख सकोगे। गुफा अन्धेरी है एवं लम्बी है। वहाँ किसी प्रकाश के साधन के सहारे से ही पहुँचा जा सकता है, मेरे पास दो टार्च हैं, जिसमें बहुत कम मसाला है। टार्च का प्रयोग सोच समझकर करना, यदि इधर-उधर देखने में इसका मसाला खत्म कर दिया तो गुफा में भटक जाओगे और फिर कभी वापिस निकल नहीं पाओगे और यदि टार्च का सही प्रयोग करते हुए विना इधर-उधर दृष्टि डाले, एकाग्र चित्त से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाओगे तो निश्चित ही तुम्हें ढेर सारे स्वर्ण एवं चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त मणियों की उपलब्धि होगी। लौटते वक्त जबकि टार्च का मसाला खत्म हो जाएगा पर मणियों का तेज तुम्हारा मार्ग प्रकाशित करेगा और उस प्रकाश में तुम गुफा भी अच्छी तरह देख सकोगे। दोनों खुश हो गये, उस योगी के पाँव पकड़ लिये। बैटरियाँ लीं और चलने लगे, आगे जाने वाला सोचने लगा कि यह योगी बहुत महान्, निस्पृह है, इतनी सम्पत्ति का स्वामी है, पर इसमें जरा भी लोलुपता नहीं है, निःस्वार्थ

भाव से उस खजाने का रहस्य इसने हमें बताया है, इसके कथनानुसार ही सारा कार्य करना चाहिये। यह सोचकर वह एकाग्र मन से टार्च के प्रकाश को इधर-उधर न फेंकते हुए अपने गंतव्य की ओर चलने लगा। पर दूसरे मित्र ने सोचा कि यह साधक बड़ा ही चालाक व्यक्ति लगता है, इसकी बातों का क्या भरोसा? हो सकता है गुफा में इधर-उधर नजदीक में ही अपार धन सम्पत्ति पड़ी हो, और हमें दूर भेजना चाहता हो, ऐसा विचार कर कभी इधर तो कभी उधर टार्च का प्रकाश फैंकते हुए चलने लगा। परिणामस्वरूप मसाला खत्म हो गया और वह गुफा के अन्धकार में रास्ता भटक गया।

पहला मनुष्य योगी के कहे अनुसार वहाँ पहुँच गया, रत्नादि उसे मिल गए, वह चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त मणि एवं यथाशक्ति सोने की पोटलियाँ बाँधकर चल पड़ा, और उस साधक को बार-बार धन्यवाद देने लगा। फिर पीछे मुड़कर देखा तो साथी नहीं था। वह अकेला ही लौटने लगा, तब लौटते वक्त मणि के प्रकाश में गुफा भी देखी एवं बाहर आकर सभी धन साधक के चरणों में रख दिया, पर उस साधक ने कहा मुझे इसकी चाहना नहीं है, मैं तो मित्रादृष्टि लेकर आत्म-कल्याण की स्थिति में चल रहा हूँ। यह सब तुम अपने पास रखो। उसके मन में यह उथल-पुथल मची हुई थी कि मेरा मित्र पीछे कैसे रह गया? अभी तक आया क्यों नहीं? वह कहाँ है? अतः उसने साधक से पूछ लिया कि मेरा मित्र कहाँ है? तब उस साधक ने कहा कि तुम्हारे मित्र ने मुझ पर अविश्वास किया, अश्रद्धा की। मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया, और बैटरी के मसाले का दुरुपयोग किया, जिससे उसका मसाला खत्म हो गया और अन्धकार में रास्ता नहीं सूझने के कारण मार्ग भटक गया है। अब वह आने वाला नहीं है। अपने मित्र की यह दशा सुनकर पहला मित्र व्याकुल हो उठा। उसने कहा कि मैं सूर्यकान्त मणि लेकर जाऊँ और उसके प्रकाश से अपने मित्र को खोजकर बाहर ले आऊँ, तब उस साधक ने कहा कि सब व्यर्थ है। उस गुफा में गुफा के भीतर गुफा है, तुम स्वयं भटक जाओगे, पर खोज नहीं पाओगे, अपने मित्र को। अब तुम्हारा मित्र कभी भी वापस बाहर नहीं आ सकता। अतः तुम लौट जाओ। वह धन एवं मणियें लेकर अपने घर लौट आया। इस तरह जिसने साधक की आज्ञा का पालन किया वह तो सुखी हो गया और जिसने आज्ञा का पालन नहीं किया, उसे अपने जीवन से ही हाथ धोना

वन्धुओ! यह तो कथानक है। पर आप सभी को मनुष्य जन्म की बैटरी सबको मिली है, पर इसमें अपना कार्यभार पुत्रों को सौंपकर आप इस मसाले को की घनघोर गुफाओं में से चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त मणि को प्राप्त करें। उस अनंत ज्ञान के प्रकाश में अपनी परम निर्वाण की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास

व

न

ए

भगवान् की वाणी बता रही है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से दुर्लभ मणि का जो प्रकाश मिला है, जो यह शक्ति मिली है, उसका यदि योग नहीं करेंगे तो दूसरे साथी की स्थिति प्राप्त करोगे। धर्मस्थल में वीतराग देव की आज्ञा का परिपालन करते हुए परम पवित्र आदर्श के साथ साधना का उपयोग करोगे तो निहाल हो जाओगे, अन्यथा दूसरे मित्र की स्थिति बन जाएगी। अतः वीतराग देव की आज्ञा का पूरा पालन करें, नहीं हो सकता हो तो कम से कम धर्मस्थानक में तो उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये। यदि आप पूर्णरूप से वीतराग देव की आज्ञा का पालन तो आपको अवश्य चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त मणि के समान केवलज्ञान-केवल का आलोक प्राप्त होगा, जिससे आप संसार की इन भयानक अँधेरी गुफाओं देखते हुए सुरक्षित निकलकर अपने लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे।

तप भी कर्म के कोहरे को हटाने में एक महत्त्वपूर्ण उपयोगी साधन है आपका मित्र हूँ, और मित्र किसी पर जबर्दस्ती करता नहीं। आप तो संकेत से समझने वाले हैं। इशारा ही पर्याप्त है।

अरिष्टनेमि महाप्रभु के इशारे को पाकर तो सारथि ने प्राणियों अभय दे दिया था। आपको मालूम होगा कि अरिष्टनेमि भगवान् विवाह क के लिए बारात लेकर विवाहस्थल पर पहुँचे, वहाँ बहुत से पशु-पक्षी पिंजरों बन्द आकुल-व्याकुल होकर करुण क्रन्दन कर रहे थे। अरिष्टनेमि ने अ सारथी से पूछा कि ये पशु-पक्षी यहाँ क्यों बन्द किये गये हैं। बन्धुओ। विच करना है कि भगवान् अरिष्टनेमि क्या अनभिज्ञ थे ? तीन ज्ञान के धारक थे, क उन्हें पता नहीं था, कि ये पशु क्यों बंद किये गये हैं, पर वे अपने इंगित से सार को भी अवगत कराना चाहते थे। देखना चाहते थे कि सारथी उनके इंगित नुसार कार्य करने में सक्षम है या नहीं ? उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन कहा गया है कि—

"आणाणिद्देसकरे, गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपण्णे, से विणीए त्ति वुच्चई ॥"

शिष्य की गुरु के प्रति इतनी समर्पणा होनी चाहिये, कि वह गुरु की आँखों के संकेत मात्र से समझ जाय। यही समर्पणा दास की स्वामी के प्रति भी होनी चाहिये। सारथी अरिष्टनेमि के चेहरे को देखकर उनके मन के भाव समझ गया। उसने कहा, प्रभु ! ये सारे पशु-पक्षी आपकी बारात में आए मेहमानों के भोजन के लिए हैं। यह सुनते ही अरिष्टनेमि करुणार्द्र हो उठे, उनकी भावनाओं को समझते हुए सारथी ने सभी प्राणियों को बन्धन मुक्त कर दिया। तत्काल आज्ञा का पालन किया गया। बन्धन मुक्त होते ही सारे पक्षी प्रसन्नता से कलरव करते हुए, पंख फड़फड़ाते हुए उड़ गये, उड़ते हुए मानो उन्होंने मूकवाणी से अरिष्टनेमि कुमार को आशीर्वाद दिया कि जिस तरह आपने हमें इस कठोर

बन्धन से मुक्त करके व्योमविहारी बनाया है, उसी तरह आप भी इन अष्ट कर्मों के बन्धन से मुक्त बनकर मुक्ति के अनन्त गगन में विचरण करेंगे। पक्षियों को मुक्त करवाने के बाद भगवान् अरिष्टनेमि ने अपने अलंकार आभूषण उतारकर सारथी को दे दिये एवं रथ लौटा दिया। इस पर कई यह तर्क करते हैं कि भगवान् को दीक्षा लेनी थी, इसीलिये अपने जेवर दान में दिये, जीव रक्षा के लिये नहीं, पर विचार करें कि उन्होंने उसी समय दीक्षा नहीं ली, पर राज्य में लौट आये। वर्षीदान दिया और पुनः बहुमूल्य गहनों से अलंकृत होकर दीक्षा लेने पधारे और उस समय पुनः गहनों का दान करते हुए श्रमण पर्याय अंगीकार की। उन्होंने सारथी को जो इनाम दिया, उसके कार्य से खुश होकर उसकी योग्यता की पहचान कर ही दिया क्योंकि वह "इंगियागार संपण्णे" था।

जो व्यक्ति इंगितानुसार नहीं चलता है, उसकी क्या हालत होती है, उसे भी एक रूपक से समझा देता हूँ।

एक सेठ की लड़की वड़ी हो गयी तो सेठ ने सेवकों को कहा कि तुम लोग जाओ और मेरी लड़की के अनुरूप कोई २० वर्ष का अच्छा सा लड़का खोजकर उसके साथ सगाई पक्की कर दो। सेवकों ने वर खोजने के लिए प्रस्थान कर दिया। उनके मन में उत्साह था, उमंग थी कि सेठजी के मन मुताबिक कार्य करेंगे तो खूब सारा इनाम मिलेगा। वे गाँव-गाँव में घूमे, पर लड़की के अनुरूप बीस साल का कोई लड़का उन्हें नहीं मिला। वे चिन्ता में पड़ गये एवं विचार करने लगे कि अब क्या किया जाय ? तभी उनके मन में विचार आया कि क्यों न १०-१० वर्ष के दो लड़कों के साथ इसकी सगाई पक्की कर दी जाय। उन्होंने ऐसा ही किया और उसी उमंग और उत्साह के साथ आकर सेठजी को वधाई दी कि २० वर्ष का लड़का तो हमें कहीं नहीं मिला, अतः १०-१० वर्ष के दो लड़कों के साथ हमने आपकी लड़की की सगाई पक्की कर दी। पर अब उन्हें क्या इनाम मिलेगा ? जो सेवक सेठ के इंगितानुसार कार्य नहीं करता वह इनाम का भागीदार नहीं हो सकता।

वन्धुओ ! मैं आपको कह रहा था कि आप लोग यह सोचें कि महाराज हम कहें कि इतना करो, यह तप करो ही, ऐसा आग्रह मैं नहीं करता, पर मैं संकेत कर देता हूँ, आप अपनी शक्ति अनुसार तप करें। मैं तो प्रेरणा देता हूँ। तपस्या करके ध्यान साधना में अपने जीवन को जोड़ते हुए आगे बढ़ेंगे तो आपका जीवन मंगलप्रद अवस्था को प्राप्त करेगा।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, वम्बई

□ □ □

२८ समति गुप्ति की साधना करें

जब जीवात्माएँ बहुत तरह से अशांति का अनुभव करती हैं, तब कहीं उसके मन में शांति की जिज्ञासा पैदा होती है। चारों तरफ से जब कष्ट के बादल मंडराते हैं, तब व्यक्ति सोचता है, कैसे इनसे मुक्ति मिले और मैं जीवन को आगे बढ़ाऊँ।

संसार में जिधर दृष्टि डालिये कहीं भी सर्वात्मना कष्ट रहित अवस्था नहींवत् मिलती है, ऊपर से भले कोई कह दे कि मैं शांति से, सुख से रह रहा हूँ, पर अन्तःकरण में दुःख अनुभव करता है। वह सोचता है, भले ही मुझे धन वैभव मिला है, पर अन्तर में संतुष्टि नहीं है, तृष्णा रहती है कि यह प्राप्त करूँ, वह प्राप्त करूँ। यह संसार का रूप प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। जब बच्चा जन्मता है तो विशेष कोई आवश्यकता नहीं रहती, मात्र दूध की आशा रखता है, वह मिलने के बाद वह संतुष्ट हो जाता है, पर वास्तविक रूप में नहीं हो पाता क्योंकि धीरे-धीरे दूध के बाद खाने की ओर चाह बढ़ती है, उसके बाद फिर कुछ और उसके बाद तो ९९ का चक्कर उसे सताने लगता है, जो उसे चैन से नहीं रहने देता।

मनोवांछित, संसारी सभी कामनाएँ पूर्ण नहीं होतीं। होगी कैसे? जब तक जीवन में तृष्णा है, उसके रहते सन्तोष आ नहीं सकता। म्यान में अन्य वस्तु है तो तलवार नहीं समा सकती और तलवार है तो अन्य वस्तु नहीं समा सकती। ठीक इसी प्रकार मनुष्य का मन, किसी एक में ही समा कर रह सकता है, जब तक इसमें भौतिक सुख, इन्द्रिय के विषयों की लालसा हिलोरें लेती रहती हैं, तब तक उसे दुःख से छुटकारा नहीं मिलता है। जब इससे मन को खाली करता है, तभी उसमें वास्तविक सुख और शांति भर सकती है। जवांईजी आते हैं तो आप पहले से तैयारी करते हैं कि उनको कहाँ पर बैठाना है, कहाँ पर उनका आसन लगाना है। ठीक उसी प्रकार आत्मशांति को पाने के लिए मन को सजाना होगा।

इस जीवन में एक बहुत बड़ी शान्ति का स्थान पाना है, तो जगह निश्चित कर लेनी चाहिये। क्योंकि यह सदा के लिए चलेगी। तीर्थंकर देवों ने बहुत ही सुन्दर तरीके से बताया कि जहाँ तुम शांति रखना चाहते हो तो देखलो कि वहाँ

क्या है ? चर्मचक्षु से मन को नहीं देखा जा सकता। मन हैरान है, खिन्न है आखिर क्यों ? एक रूपक है—एक सेठ था, बाहरी वैभव से परिपूर्ण था, चेहरा हंस रहा था, अच्छी तरह बोल रहा है, पर मुनीम ने आकर तार पकड़ा दिया मात्र दो शब्द लिखे, कि जो जहाजें आ रही थीं, उनमें करोड़ों की सम्पत्ति थी, वे सारी जहाजें डूब गयीं। यह पढ़कर उसका चेहरा मुरझा गया, शरीर शिथिल हो गया, सारी प्रफुल्लता नष्ट हो गई, बताओ वह प्रफुल्लता कहाँ थी ? क्या आँखों में ? शरीर के भीतर जिसे मन कह सकते हैं, अथवा मस्तिष्क में। मन में कल्पना चल रही थी अरबपति होने वाला हूँ, करोड़ों का माल आ रहा है, यही उमंग थी, उसके मन में, पर तार पढ़ते ही वह सारी उमंग भीतर से नष्ट हो गई। सुख-दुःख का माध्यम-स्थान मन है। ये जो टेम्परेरी अवस्थाएँ हैं, उनको बाहर निकाल दिया जाय एवं शांति को स्थान दे दिया जाय। जो कभी घटे नहीं, हटे नहीं, ऐसा प्रयास किया जाय तो वर्तमान की उपलब्धि सार्थक हो सकती है। ज्ञानीजनों का कथन है कि तुम योग साधना करते हो तो यह महत्त्व-पूर्ण हो जाती है। साधना का अर्थ मन, वचन, काया को साधना और आत्मा को पवित्र बनाना है। इन तीनों को साधने पर ही आत्मा पवित्र बनती है और इन तीनों को साधने का जो सेन्टर है, वह मस्तिष्क है, पर उसमें पहले से जो कचरा भरा है, उसे अलग कर दें, अन्यथा नयी वस्तु वहाँ नहीं बैठ सकेगी। अतः ज्ञानीजनों का कथन है कि ध्यान साधना से आत्मा को पवित्र बनाना है, तो योग साधना को पहचानो, स्वीकार करो। यदि तुम इसे जीवन में उतार लोगे तो सदा-सदा के लिए वह सुख और शान्ति कल्पवृक्ष की भांति तुम्हारे जीवन में आ जायेगी। प्रभु के सारगर्भित उपदेश का मक्खन हर कोई नहीं निकाल सकता, क्योंकि आज के मानव को फुर्सत नहीं है। अतः प्रभु महावीर ने मक्खन रूप में जो सार दिया है, उसको दुनिया पहचाने, जीवन में स्थान दे, तब तो उसका कार्य सिद्ध हो सकता है। प्रभु ने उत्तराध्ययन सूत्र के ३२वें अध्ययन की तीसरी गाथा में बताया कि—

"एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उपवयणं ।।"

इस गाथा में अनन्त सुख का विधान रख दिया है। पाँच समिति बताई है। समिति का तात्पर्य, संक्षिप्त रूप से द्वादशांगी अर्थात् तीर्थंकर देवों की सार रूपवाणी–१२ अंग में तो दृष्टिवाद अभी उपलब्ध नहीं हैं, ११ अंग भी विस्तार से पढ़ने की फुर्सत नहीं रखते हो, अतः १२ अंगों का सार जो प्रवचन माता है, उसकी गहराई से चिन्तना करें। बच्चा कितना ही छटपटाता है पर माता उसके पास चली जाती है, तो उसका रोना-धोना बन्द हो जा मनुष्य दुःख-द्वन्द्वों से घबरा रहे हैं तो अनन्त तीर्थंकरों ने यह कल्पना करिये कि चार व्यक्ति जन्मांध हैं, उन्होंने सूर्य कभी देखा

एकाकी दृष्टि खुलती है, वह भी निर्मल, उसने सूर्य को, शुद्ध स्वरूप को देखा तो उसका वर्णन करेगा। दूसरे की भी दृष्टि खुली। उसने सूर्य को देखा तो वह भी वैसा ही बतायेगा, वैसे ही जितने तीर्थंकर होते हैं, इस भूधरा तल पर। वे सभी एक दृष्टि से केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, जो उनका निर्मल नेत्र है, उसी के द्वारा वे अपने ज्ञान चक्षुओं का प्रयोग कर रहे हैं। बच्चा छोटा होता है तो माँ की अपेक्षा रखता है, पर बड़ा होते ही माँ को भूल जाता है, पर दुःख की तपन जब उन्हें जलाती हैं तो प्रवचन माता की गोद में बैठकर निर्भय बन जाता है। यदि और कोई शास्त्र याद नहीं हो तो, लो इन आठ प्रवचन दया माता को याद करो, इसके शुद्ध रूप को पालें। मन, वचन, काया तीन गुप्ति हैं, इन्हें गोपने का प्रभु ने संकेत दिया कि ये तीनों शक्तियाँ तुम्हारे दुःख को बढ़ाने वाली हैं, अतः इन्हें तुम रोक दो और भीतर का कचरा निकाल दो। यह सब मन के माध्यम से ही होता है। २२,६५,१२० कि. मी. एक सैंकण्ड में मन की गति वैज्ञानिकों ने बताई है, तीव्रमन्द चलता यह मन विषम बन जाता है। अतः इस विषम गति को समित करो। मन में समिती आ जायेगी तो सब कुछ आसान हो जाएगा। मन में समित अवस्था आ जायेगी, कुमति निकल जायेगी।

जहाँ सुमति वहाँ सम्पत्ति नाना।
जहाँ कुमति वहाँ विपत्ति निधाना॥

अर्थात् जहाँ सुमति है वहाँ सम्पत्ति आते देर नहीं लगती और जहाँ कुमति है वहाँ तो विपत्ति का खजाना है। उसी सुमति को प्राप्त करने के लिए योग साधना है जो मन को समित करती है। जब मन की क्रिया समित नहीं होती है, तो उसका जीवन बिगड़ जाता है। हरिकेशी अनगार, चाण्डाल कुल में क्यों आए? इसमें एक कारण मन को समित नहीं करने का भी था और जब उन्होंने मन को समित किया तो वे साधना पथ पर बढ़ते चले गये।

एक बार की घटना है कि एक समय हरिजनों को बैठने के लिए जाजम बिछी हुई थी। सभी हरिजन उस पर बैठे हुए थे, उस समय हरिकेशी भी उस पर बैठने लगे तो सभी ने हंसी उड़ाकर उसका तिरस्कार कर दिया। उसे जाजम पर नहीं बैठने दिया, वह विचारने लगा कि सजातीय भाइयों के साथ बैठने पर भी इतना तिरस्कार क्यों? क्या मैं अपने जाति भाइयों के साथ बैठने के भी योग्य नहीं? इसमें मेरा दोष ही क्या? यही कि मैं इनके समान वर्ण एवं रूप वाला नहीं? तभी जाजम के पास एक काला सर्प निकल आया। सभी में हड़बड़ मच गयी, तब बड़े मनुष्यों ने लाठी से उसे वहीं खत्म कर दिया। तभी एक और सर्प निकला। सभी बालक कहने लगे, पर उसे देखने के बाद लोगों ने कहा यह तो दुमुही है, इसमें जहर नहीं होता, यह किसी को काटता नहीं। इसका निकलना तो लौकिक दृष्टि से शुभ माना जाता है, इस प्रकार आपस में बोलते हुए सभी उसकी पूजा करने लगे।

एक किनारे पर खड़ा-खड़ा हरिकेशी विचार करता है, दोनों एक जाति के प्राणी हैं, पर एक का तिरस्कार दूसरे का सम्मान। विचार करते-करते मन की गहराई में उतर कर सोचने लगा कि मेरे पुरातन कर्मों का उदय है, अतः मेरी जवान में जहर है। जिस तरह कि सर्प को जहरीला समझकर ये लोग मारते हैं। मेरे जीवन में भी कुमति है, मैं अब सुमति की आराधना करूँगा। इस प्रकार विचार करते-करते गहराई में पहुँचा और इससे उसे जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। देखने लगा कि पूर्व जन्म में, मैं आठ प्रवचन माता की गोद में आध्यात्मिक क्रीड़ा कर रहा था, उस समय मेरे मानस में विपरीत परिणाम आये। जिससे मेरी वर्तमान में यह विपरीत दशा बन रही है। उसने पुनः उसी आठ प्रवचन माता की गोद में जाने का निर्णय लिया और प्रवचन माता की गोद का आश्रय भी ले लिया। साधु बन गये। महाव्रत अंगीकार किया, और महाव्रत की प्राणरूप ध्यान साधना में लग गये। परिपूर्ण संयम की साधना में संलग्न बन गये।

भगवान् ने बताया कि साधु छः कारण से आहार करे और छः कारण से छोड़े। अतः वे प्राण रक्षा के लिए आहार करते हैं, जिससे प्राण सुरक्षित रहने पर रत्नत्रय की सम्यक् आराधना भी सम्यक् रीति से हो सके।

अन्नमय कोश, प्राणमय कोश यह शरीर है, इसके द्वारा ही शरीर की गति चलती है, यह समझने की बात है कि जब तक हरिकेशी के मन में कुमति थी तब तक शान्ति नहीं मिली। जब सुमति आ गई तो हरिकेशी अपनी स्थिति से बहुत आगे बढ़ गये। मन, वचन, काया की एकाकारता को अपनी आत्मा के साथ जोड़ा और उसी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़कर आज सिद्ध भगवान् बन गये। अतः विचार करना है कि समिती के साथ सुमति और सुमति से आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त होती है। कुमति का विनाश करके ही अजरामर अवस्था को प्राप्त करने में सक्षम बन सकते हैं। यदि जीवन में सुख चाहिए तो आठ प्रवचन रूप माता की भव्य तरीके से साधना करें, जिससे इस जीवन में तो सुख समृद्धि प्राप्त होगी ही और परभव में भी आप उच्च दशा को प्राप्त कर सकेंगे। इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ।

मोटा उपाश्रय ७-८-८५
घाटकोपर, बम्बई बुधवार



३६ जीवन जीने की कला

मनुष्य जीवन विमलता की प्राप्ति के लिये, विमल स्वरूप को वरने के लिए, विमल की परम ज्योति प्रकट करने के लिये ही प्राप्त हुआ है। इस मनुष्य जीवन में विविध विचित्रताएं रही हुई हैं। इसके भीतर जब देखने का प्रसंग आता है, तब बाहर की कितनी भी रमणीय अवस्था हो, उनसे लगाव हट जाता है। जब तक व्यक्ति को कोई बढ़िया वस्तु देखने को नहीं मिलती, तब तक वह घटिया वस्तु में ही आनन्द मानकर चलता है। जैसा कि देखने को मिलता है कि जिन वस्तुओं को व्यक्ति प्रतिदिन देख रहा है, उससे कोई अलौकिक रचना उसके देखने में आती है तो उसे प्राप्त किये बिना नहीं रहता।

जहाँ धर्मस्थान में श्रोतागण धर्म के स्वरूप को, शास्त्रीय वाणी को सुनने के लिये पहुँचते हैं। धर्म की प्रवृत्ति अपनाने की कोशिश करते हैं पर इतना सब कुछ होते हुए भी कइयों के जीवन की पद्धति में विशेष परिवर्तन नजर नहीं आता। तब मनुष्य की बुद्धि सहज ही खोजने लगती है कि जिस प्रक्रिया से बढ़कर कोई अन्य नहीं, उसे श्रवण किया, आचरण में लाने का प्रसंग आया फिर भी जीवन उसी स्थिति से चल रहा है तो श्रवण में दोष है या आचरण में, व्यवहार आदि में कोई गलती है। इसकी खोज चिन्तक पुरुष अवश्य करता है। उत्तम क्रिया उत्तम ही रहती है। उसमें कोई कमी नहीं आती, पर कभी व्यक्ति उसे जिस विधि से अपनानी चाहिये, उससे नहीं अपनाता है, देखादेखी करता है। शास्त्रीय रीति से साधना नहीं करता इसलिये आचरण में पवित्रता नहीं आ पाती।

चौपड़ी पढ़ी जा सकती है, पर जीवन में भूल कहाँ हो रही है इसका संशोधन वह नहीं दे सकती, मन में शंका उठती है और बुद्धि से जो समाधान लिया वह सही है या गलत इसकी पुष्टि भी नहीं कर पाती। कई विचारवान् पुरुष इस पर विचार करते हैं और गहराई में पहुँचते हैं तो सारी जानकारी हो जाती है। वीतराग के सिद्धान्त अति उत्तम हैं। चाहे कभी भी किसी से भी श्रवण करें। वीतराग देवों के सिद्धान्तानुकूल यदि इस जीवन में श्रेष्ठ धर्म का स्वरूप पाना है तो आपको वीतराग देव की शरण में जाना ही होगा, इसमें कोई संशय नहीं। आज की दुनिया खोजी हो चुकी है। कौनसी वस्तु कहाँ कितनी मात्रा में कितने रूप में मिलती है इसकी खोज में आज का मानव तत्पर है।

आज फॉरेन में लोग वैभव की स्थिति से उदास हो रहे हैं, जीवन की खोज में आगे बढ़ने के लिये अन्वेषण कर रहे हैं। जहाँ हिन्दुस्थान के लोग अमेरिकादि के लुभावने दृश्यों को देख मुग्ध बन रहे हैं। वहाँ के लोग स्वयं की आन्तरिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु हो रहे हैं। डॉ. कुन्दनसिंहजी संघवी पहले बम्बई में विज्ञान की अणुभट्टी में कई वर्षों तक रहे हैं। जैन धर्म के अनुयायी होने के कारण जिज्ञासु भी हैं। स्वर्गीय आचार्य श्री जब उदयपुर विराजमान थे तब वे कई दफा आते थे और अपनी जिज्ञासाओं का सम्यक् समाधान पाया करते थे। अभी कई वर्षों से वे अमेरिका में हैं। बतलाते हैं कि वहाँ उन्हें बहुत ऊँचा स्थान मिला है। कभी-कभी जब भारत भी आते हैं। धार्मिक संस्कारों का उनमें शुरू से लगाव है। अतः वे जहाँ भी मैं विचरता रहता हूँ, वहाँ पहुँच जाते हैं। जब मैं देवगढ़ में था तब उन्हें हिन्दुस्थान के वैज्ञानिकों को निर्देश देने के लिये सरकार ने भारत बुलाया था, तब वे काम से समय निकालकर मेरे पास आये। दर्शन, व्याख्यान सुनने के बाद एकान्त में समय लेकर पहला ही प्रश्न पूछा कि "जीवन तो मिला है, पर जियें कैसे ? जिससे शांति मिले।" मैंने कहा—अमेरिका जैसे वैभव सम्पन्न देश में रहकर भी आपको शांति नहीं मिली। तब उन्होंने कहा कि अमेरिका के लोग अब अपने वैभव धन सम्पत्ति से ऊब गये हैं। वहां के मनमोहक दृश्य भी उनको आकर्षित नहीं कर पाते। वे इससे भी कुछ ऊँची चीज पाना चाहते हैं और वह है—शान्ति। वे आत्मा की आन्तरिक स्थिति को प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु बन रहे हैं। जीवन क्या है ? यह जानना चाहते हैं। तब उनको मैंने आत्मा की शान्ति के विषय में समझाया। इसी के साथ मैंने पूछा कि वैज्ञानिक दृष्टि से निर्जीव पदार्थों में भी हलन-चलन होती है क्या ? जैन दर्शन में तो सजीव की तरह निर्जीव तत्त्वों में भी गति स्वीकार की गई है। इस पर आपका वैज्ञानिक अभिमत क्या है ?

तब उन्होंने कहा कि पहले तो विज्ञान निर्जीव तत्त्वों में गति नहीं मानता था, पर अब वह भी मानने लगा है।

बन्धुओ ! यह जैन दर्शन का स्पष्ट अभिमत है कि पुद्गल स्कन्ध जितने हल्के होते चले जाते हैं, उतनी उनमें गति बढ़ती जाती है। जब वह एक परमाणु रूप में रह जाता है तो उसकी लोकान्त तक गति हो जाती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सजीव की तरह निर्जीव तत्त्व भी गति करता है। अतः गति के दृश्यमान होने मात्र से गतिशील पदार्थ जीव है, यह नहीं माना जा सकता। आत्मा भी जब कर्मपरमाणुओं से परिपूर्णतः हट जाती है। तो वह एक ही **समय** में ऊर्ध्वलोकान्त सिद्ध क्षेत्र में जा विराजती है। आत्मा को कर्म विमुक्त लिए समीक्षण ध्यान योग की अत्यन्त आवश्यकता है। वैसे देश में ध्यान योग सम्बन्धी बहुत प्रक्रियाएँ चल रही हैं। जनता का भी रहा है। जैनों के अनुयायी भी उस ओर आकर्षित हो रहे

कि अपने जैन धर्म में योग पद्धति है या नहीं ? ऐसे व्यक्ति संशयशील हैं उनसे कहता हूँ कि आपने जैन दर्शन को अच्छी तरह श्रवण नहीं किया है और यदि श्रवण किया भी है तो ध्यान से नहीं। जैसे किसी ने कहा कि चिन्ता मणि रत्न भोजन की पूर्ति करने वाला है। मनोवांछा पूर्ण करने वाला तीन दिन का भूखा व्यक्ति चिल्ला रहा है। मेरी भूख मिटाओ, दुःख दूर कर तब एक सुज्ञ व्यक्ति ने कहा कि अमुक सम्राट के पास जाओ, वह चिन्तामणि रत्न देगा, जिससे तुम्हारी भूख प्यास मिट जायेगी, तुम्हारे सारे कष्ट दूर जायेंगे। वह उस सम्राट के पास गया तथा अपनी गरीबी की करुण कथा सु हुए दुःख मिटाने की फरियाद की। राजा ने ध्यान से उसकी सारी बात सु और अपने खजांची को आदेश दिया कि खजाने में से एक चिन्तामणि निकालकर इसे दे दो। आज्ञानुसार कार्य किया गया। रत्न पाकर वह मन मन खुश होता हुआ अपने निजी स्थान पर लौट आया। उस रत्न को हाथ लेकर उलटने-पुलटने लगा। फिर सोचा जोरदार भूख लगी है पहले अपनी क्षु शान्त करलूँ। अतः उस रत्न को अपने मुँह में डालकर जोर-जोर से दाँतों चबाने लगा, जिससे दाँत टूट गये, वह दुःखी होकर कहने लगा कि लोग बोलते हैं कि चिन्तामणि रत्न सुख देने वाला है, मनोकामना पूर्ण करने वाला इसने तो मेरे दुःख को और बढ़ा दिया। विचार करें कि दोष, देने वाले का है ग्रहण करने वाले का है या चबाने वाले का है ? स्वयं को ही विचार करना कि वह चिन्तामणि रत्न क्या था, एक पत्थर अर्थात् जड़ ही तो था पर अ चिन्तामणि से भी ज्यादा मूल्यवान यह मनुष्य तन मिला है। इसकी दशा क बन रही है ? इसका उपयोग किस तरह करना चाहिये और किस तरह करने आ रहा है ? विचार करने की बात है। मैं कहता हूँ कि जैन दर्शन में जित साधना की पद्धति है, उतनी कहीं भी नहीं है और वह है निरुपद्रवकारी आवश्यकता है स्वयं के जीवन को जानने के लिए समय निकालने की। आप कु समय निकाल कर साधना का पूर्ण स्वरूप समझें। अन्य सांसारिक कार्यों देखने के लिये आपको समय मिल जाता है पर वह महत्त्वपूर्ण है या मनु जीवन ? विचार करें, आज जब यह आँखें टिमटिमा रही हैं, तब तक सा वैभव है, पर जब यह बन्द हो जायेंगी तो इस अपार वैभव का क्या होगा ? आज वर्तमान का जीवन है, उसे मूल्यवान बनायें। इसके लिए ध्यान साधना समाधि के लिये कुछ समय निकालें। पर इतनी फुर्सत कहाँ है ? घर पर टी.व आ जाती है तो उसे देखने का आपके पास टाइम है। आप अपना आवश्य कार्य निपटाकर या छोड़कर टी.वी. अवश्य देख लेंगे।

बन्धुओ ! यदि आपको आत्म-शांति पाना है तो भौतिकता के आकर्षण से हटकर वीतराग वाणी को सुनने का प्रयास करना होगा। जितने तीर्थंकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी आदि बन गये हैं, उन्होंने द्वादशांगी में जीवन का सा

भर दिया है और उसका सार आठ प्रवचन माता में दिया गया है। अतः उसकी साधना करें। आत्मसाधना में अवलम्बन की आवश्यकता है पर वह अवलम्बन विनाशी न होकर अविनाशी होना चाहिये। एक बार जब मैं धार में गया तो वहाँ गजानन्द शास्त्री पूछने लगे कि क्या अन्तर की साधना में कोई अवलम्बन की आवश्यकता रहती है? यदि है, तो फिर किसका लिया जाय? मैंने कहा कि आप किस भावना से अवलम्बन लेना चाहते हो, अविनाशी बनने के लिए या नाशवान बनने के लिए। उन्होंने कहा—अविनाशी बनने के लिए। मैंने कहा आप अवलम्बन ले सकते हैं, पर वह अविनाशी हो। वीतराग देव की पद्धति में जाने का प्रसंग है, तो उसमें अवलम्बन भी वैसा ही हो।

आनन्दघनजी ने तीर्थंकरों की प्रार्थना में कहा है—शुद्ध आलंबन होना चाहिये। शुद्ध की क्या पहचान? यही कि जिसे शुद्ध करना हो उसमें चमक शाश्वत रूप में आ जाय तो वह शुद्ध है अन्यथा अशुद्ध है। जड़ तत्त्वों में शाश्वत चमक नहीं आती। अतः अशुद्ध आलंबन है। अभौतिक तत्त्व आत्मा का स्वरूप ज्ञानमय, दर्शनमय और चारित्रमय है। इन तीनों आलम्बनों को लेने के लिये ही भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र के चौबीसवें अध्ययन की पांचवी गाथा में फरमाया है कि—

"तत्थ आलंवणं णाणं, दसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए॥"

ज्ञान कैसा? भौतिक तत्त्वों का ज्ञान नहीं। अपितु आन्तरिक स्वरूप के यथावत् ज्ञान के साथ श्रद्धा एवं चारित्र रूप आचरण का आलंबन होने से आत्मा में शाश्वत रूप से चमक ही चमक आती जाएगी। तब आध्यात्मिक वैभव ऋद्धि का आलोक स्वयं ही प्रगट हो जायेगा।

वैज्ञानिक यह खोज जरूर कर रहे हैं, पर वे भौतिक तत्त्वों तक ही पहुँचे हैं। पर अनिर्वचनीय वस्तु की खोज भौतिक विज्ञान वाले नहीं कर सकते। क्योंकि उनकी खोज अधिकांशतया दृश्यमान तत्त्वों पर आधारित है। जिस प्रकार वाहरी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए आप कितना प्रयत्न कर रहे हैं, ताला लगाते हैं, पहरेदार लगाते हैं, जिससे आपकी वह सम्पत्ति कहीं चली न जाय। लूट न ली जाय। पर जीवन की सुरक्षा के लिए आप क्या प्रयत्न कर
जीवन का, योग का, अन्त साधना का जो श्रेष्ठ विषय है. उन्हें जब
अलग रीति से न समझाया जायेगा, तब तक वह समझ में नहीं आए
आज का युग तर्क का है, पर ज्ञानीजनों का कथन है कि कभी-कभी
करने से भी सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो पाती। आप वि

हमारे जीवन में समीक्षण ध्यान, योग साधना किस प्रकार आये, हम किस प्रकार धर्म के स्वरूप को जानें।

'पन्नासमिखए धम्मम्"

अर्थात् प्रज्ञा के द्वारा धर्म का समीक्षण किया जा सकता है। कई व्यक्ति बाजार में बैठे हैं। एक बहिन सोलह श्रृंगार कर सज धजकर अपने भाई को राखी बांधने जा रही है। बाजार में बहुत रो व्यक्ति बैठे हैं, उसमें उसके पिता भी हैं। उस लड़की को देखकर पिता कहेगा कि यह मेरी पुत्री जा रही है, भाई कहेगा कि यह मेरी बहिन जा रही है। उसका पति होगा तो वह कुछ और ही दृष्टि से उसे देखेगा और यदि कोई कामान्ध व्यक्ति होगा तो उसकी दृष्टि कुछ और ही रहेगी। एक साधु महात्मा भी उसे देखेगा तो उसकी दृष्टि में पवित्रता होगी। देख सभी रहे हैं, पर जिसके जैसे विचार हैं, उसी रूप में देख रहे हैं। यदि विषम दृष्टि है, राग द्वेष परिपूर्ण दृष्टि है तो वह वैसा ही स्वरूप देखेंगे। अतः वीतराग भगवान ने कहा है कि रंग का चश्मा उतारकर सम दृष्टि से, तटस्थ दृष्टि से, प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करो। सच्चा धर्म बाहरी भौतिक तत्त्वों में नहीं है। यह तो यूनीफार्म है, पहचान कराने वाले हैं। वास्तविक धर्म तो आत्मा में है। प्रज्ञा से अन्तर का निरीक्षण करें कि मेरा जीवन का लक्ष्य क्या है, अवलम्बन क्या है ? इस तरह आध्यात्मिक दृष्टि से स्वयं का निरीक्षण करें तभी वास्तविक सुख की स्थिति जीवन में प्राप्त हो सकेगी।

आज के युग में कहीं प्राणायाम चल रहा है तो कहीं विपश्यना ध्यान साधना चल रही है तो कहीं और कुछ। पर हठ योग जैसे ध्यानों में कई खतरे हैं। पर सम्पूर्ण खतरों एवं व्यवधानों से रहित यह सरस रीति वाली जैन धर्म की ध्यान पद्धति है। इसमें जितनी आत्मलीनता बनती है। उतनी किसी में नहीं। जहाँ बाल मन्दिर में छोटे-छोटे बालक जाते हैं और खेलते-खेलते ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार वीतराग देव ने बहुत बड़ा उपदेश दिया है। आठ प्रवचन माता की गोद में खेलते हुए इस साधना पद्धति का अभ्यास करें। तभी उस साधना का सरस फल प्राप्त हो सकेगा। अन्यथा चिन्तामणि रत्न को खाने वाले व्यक्ति जैसी हालत होगी। प्राप्त तो कुछ नहीं कर पायेंगे दुःख और बढ़ जाएगा।

यदि आप यह भावना लेकर आये हैं कि मेरा झूठा मुकदमा है। अतः मांगलिक सुन लूँ। जिससे मेरा कार्य सफल हो जाएगा तो आप चिन्तामणि रत्न को प्राप्त करके भी उसका मुंह में चबाने की तरह दुरुपयोग कर रहे हैं। यदि आपने इस अमूल्य जीवन की साधना सही ढंग से नहीं की तो आहार, निद्रा, भय और मैथुन के इस चक्र में उलझकर पशुवत् अपने जीवन की अमूल्यता को

गंवा देंगे। जैसे खाली हाथ आप यहाँ आये हैं, वैसे ही हाथ पसार कर यहाँ से प्रस्थान कर देंगे।

अतः तटस्थ भाव से समीक्षण ध्यान की पद्धति, आठ प्रवचन माता आदि के रूप में जो वीतराग देव ने बतायी है। उसका उपयोग किस तरह बैठे-बैठे करना है और किस तरह चलते-फिरते करना है। यह सब गहराई से विचार करें एवं ध्यान साधना की गहराई में उतरें। तभी आपके जीवन को सही रूप में जीने की कला प्राप्त हो सकेगी।

मोटा उपाश्रय घाटकोपर, बम्बई

८-८-८५ गुरुवार



४० | मूल्यांकन करो समय का

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के लिए समय का मूल्यांकन करना आवश्यक है। जिस प्रकार बूंद-बूंद करके घट भर जाता है वैसे ही एक-एक समय का मूल्यांकन करने वाला एक दिन महान् कार्यों को सिद्ध करने में सफल हो जाता है। महाप्रभु ने आचारांग सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है---"खणं जाणाहि पंडिए" हे भव्य साधक ! क्षण-समय को पहचान। समय को पहचानने वाला ही पंडित होता है। जो अवसर को नहीं जानता वह सही माने में पंडित नहीं कहला सकता।

कई व्यक्ति व्यर्थ की बातों में जीवन के अमूल्य क्षणों को खो बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। जिस प्रकार डॉक्टर बनने वाला विद्यार्थी अपना समय डॉक्टरी अध्ययन में ही लगाता है, तो वह एक दिन सफल डॉक्टर बन सकता है। वकील बनने वाला व्यक्ति अपना समय वकालत में ही लगाता है तो वह एक दिन सफल वकील बन जाता है। कोई भी किसी भी रूप में अपने आपको बनाना चाहे, पर वह यदि अपने जीवन के बहुमूल्य क्षण उसी में लगाता है तो वह वैसा ही बन जाता है। वैसे ही जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना में अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों को लगा देता है तो एक दिन वह उसमें सफलता प्राप्त कर ही लेता है।

आध्यात्मिक जीवन में समय का बहुत महत्त्व है। इसीलिये भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को सावधानी दिलायी, चेतावनी देते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के १० वें अध्ययन में कहा --

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पंडुरया हवन्ति ते।
से सव्व बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए॥

हे गौतम ! तुम्हारे शरीर की जो वर्तमान स्थिति है वह क्षण विनाशी है। क्षण-क्षण में क्षीण हो रही है और शरीर जीर्णता को प्राप्त हो रहा है। जब शरीर जीर्ण होने लगेगा तो उसके आश्रित रहने वाली इन्द्रियां भी जीर्ण हुए बिना नहीं रहेंगी। शरीर के बलवान होने पर ही इन्द्रियां भी बलवान रह सकती हैं। शास्त्रकारों ने दस प्राण बताये हैं, उनमें श्रोतेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य बलप्राण ये दस बलप्राण हैं।

विचार करना है कि इन सभी बलप्राणों में ज्यादा किसका महत्त्व है ? वैसे तो सभी अपनी-अपनी स्थिति से महत्त्वपूर्ण हैं, पर जब तक काया स्थिर रहती है, तो काय बलप्राण स्थिर रहता है, तभी तक सभी बताये प्राण स्थिर रहते हैं। भगवान् ने काया व स्पर्श दोनों को अलग-अलग बलप्राण बताये हैं। स्पर्शनेन्द्रिय ऊपर-ऊपर का भाग है। बाकी सब भीतर का भाग काया बलप्राण है। यह आप अनुभव कर सकते हैं। आपने कभी डॉक्टर से इंजेक्शन लिया होगा। जब स्पर्शनेन्द्रिय में लगाया जाता है तो ज्यादा दर्द होता है पर भीतर का ढांचा जहाँ काया बलप्राण है उसमें उतना दर्द नहीं होता। सभी बलप्राण प्रायः काया के आधार पर हैं। इसीलिए प्रभु महावीर ने गौतम स्वामी को संवोधित करते हुए कहा कि—तुम्हारा काय बलप्राण क्षीण हो रहा है। तुम कब चेतोगे। जब तक काय का वल क्षीण नहीं होता, तब तक इन्द्रियां अपने-अपने वल को धारण कर सकती हैं, अतः जब तक ये काया सशक्त है तब तक समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। समय किसे कहते हैं ? इसकी क्या उपमा है ? इसे भी समझ लेना आवश्यक है। आँख की एक पलक झपकने में असंख्यात समय निकल जाता है। यह जो उपदेश गौतम स्वामी को इंगित करके दिया गया वे तो प्रमाद का त्याग करके जाज्वल्यमान केवल-ज्ञान की ज्योति प्राप्त करके, मोक्ष में चले गये। लेकिन यह उपदेश सभी के लिए है। आज के प्रायः मनुष्य में समय का पाबन्द नहीं है। नियत समय पर नियत कार्य न होने से मन की गति चंचल हो जाती है। योग साधना, भगवान् की भक्ति, नाम स्मरण आदि करने की इच्छा वहुतों की रहती है, पर जब तक मन की चंचलता स्थिर नहीं होती, कुछ भी नहीं हो सकता। क्या बाहरी किसी भी पदार्थ ने आकर आप का मन चंचल वनाया या अन्य किसी वस्तु विशेष ने ? पर जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है वहाँ आपकी आत्मा ही मन को चंचल बना रही है। आप यह अनुभूति कर सकते हैं।

मान लीजिये—आप भोजन करते हैं, तो जो समय आपका खाने का है उसी वक्त आप रोज खाने वैठ जाते हैं। इस प्रकार एक-डेढ़ महीने तक आप उसी समय खाते रहेंगे, तव आपको घड़ी की आवश्यकता न रहेगी। ठीक समय पर आपको क्षुधा लगने लगेगी। ठीक इसी प्रकार ठीक समय पर जीवन का समीक्षण किया जाय तो अन्तर में जो-जो रचना है उनका ज्ञान भी एक न एक रोज आप कर सकेंगे। ठीक समय पर भोजन करने से पाचन क्रिया खराव नहीं होती। पर आज का मनुष्य इस नियम पर पाबन्द नहीं है, तो फिर अन्य कार्यों में कैसे पावन्द हो सकता है। अनिश्चित समय पर भोजन करने से जठराग्नि विकृत हो जाती है। उसी प्रकार अनिश्चित समय पर किया गया स[illegible] । भी पूर्ण लाभदायक नहीं होता। जैसे किसी व्यक्ति को अफसर से [illegible] तो वह आपको मिलने के लिए निश्चित समय देता है। उसी पर यदि वह व्यक्ति वहां पहुँच जाय तो वह उसका वहुत ही

कार्य कर देता है, पर वह यदि पहुँचने में लेट कर देता है तो फिर न तो वह आपका कार्य सम्पन्न कर सकता है और न अपना ही। अर्थात् उसका दिमाग अस्थिर हो जाता है। कुछ समय अपना निरर्थक जाने पर वह अपने काम में लग जाता है। फिर वह व्यक्ति उसके पास जाए भी तो उसे टाइम नहीं मिलता है, अतः आज जीवन का नियमित स्वरूप हर मनुष्य को बनाना है। यह नियमित जीवन की कला शुरू से आ जाए तो कहीं भी कुछ विकृति नहीं आयेगी। अतः जीवन को नियमित बनाना आवश्यक है। क्योंकि जीवन की सुरक्षा नियमित समय पर निश्चित कार्य करने से ही हो सकती है। वर्तमान में जो शरीर, इन्द्रिय एवं निरोगी काया मिली है उसका नियमित उपयोग लेने से ही सारा कार्य संपन्न हो सकता है। प्रभु वीतराग देव की वाणी को ख्याल में रखते हुए अपने लक्ष्य को स्थिर करें। फिर एक घंटे का समय निश्चित करें और उस समय प्रतिदिन आध्यात्मिक साधना करने में निरत हो जायं।

रात्रि का पिछला समय ध्यान योग साधना के लिए विशिष्ट है। प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निन्द्रा एवं रात्रि के पिछले अर्थात् चतुर्थ प्रहर में ध्यान, योग साधना आदि करना, यह प्रभु का निर्देश भी है। चौथे प्रहर में जो प्रक्रिया होती है, वह मन को स्थिर करने के लिए विशेष उपयोगी होती है। चतुर्थ प्रहर, योग साधना के लिए बहुत ही अच्छा समय है। सूर्योदय होने के बाद तो शोर बढ़ जाता है, बाहरी व्यवधान उपस्थित होने लगते हैं तब मन बाहरी अनेक कार्यों में बिखर जाता है। ऐसे समय में आपका मन योग साधना में लग नहीं सकता। जिस प्रकार साईकिल के पैंडल को घुमाकर छोड़ दें तो वह लम्बे समय तक घूमता ही रहता है, उसी प्रकार सूर्योदय के बाद मन का पहिया बाहरी कार्यो में उलझकर घूमना शुरु हो जाता है तो वह शाम के समय सूर्यास्त तक भी उसी वेग से प्रायः घूमता ही रहता है। सूर्यास्त के बाद वह मन रूप पैडल उपशान्त हो सकता है और रात्रि में विश्राम अच्छी तरह मिल जाय तो मन व इन्द्रियाँ शान्त बन जाती हैं, प्रशांत हो जाती हैं। तब चौथे प्रहर में उत्कृष्ट योग साधना का प्रसंग बन सकता है। अतः समय की पाबन्दी सभी को करनी है, आप अपने मन को आदेश देवें कि चार बजने में सात मिनट बाकी रहे तो मुझे जगा देना। आप देखेंगे कि ठीक समय पर आपकी आंखें खुल जायेंगी। घड़ी में अलार्म भरने की तरह आप अपने मन में अलार्म भरें तो आपका मन व्यवस्थित रूप से चलेगा। बिस्तर से उठकर नींद को उड़ाने के लिए भगवान् ने जो साधना की विधि बताई है। जागृत होने के लिए भगवान् ने वन्दन की विधि बतायी है, यह रूढ़ि नहीं, बल्कि विशिष्ट यौगिक प्रक्रिया है। आप किस तरह वन्दन करते हैं, यह अलग बात है पर आप दोनों हाथ जोड़कर ऊपर से नीचे घुमाते हुए दोनों घुटने टेक कर मस्तक को नमाते हुए जमीन पर लगाया जाय तो ही प्रभु की बतायी गई विधि सध सकती है। यह विधि ज्ञान शक्ति को तरोताजा करती है। इन्द्रियों को

शिथिलता दूर करती है। कम से कम ५ वन्दन और अधिक से अधिक ९ बार वन्दन सुबह उठते ही करना चाहिए। वैसे इससे ज्यादा यथासमय किया जा सकता है। सुबह-सुबह वन्दना करने से जो नसें आपके चिन्तन में, योग-साधना में, काम आने वाली हैं, वे सभी जागृत होकर स्फुरित हो जाती हैं, पर आज के मनुष्य इसे बहुत कम स्वीकार करते हैं, सोचते हैं, यह तो धार्मिक क्रिया है, यौगिक नहीं। उनका यह मानना भ्रान्ति पूर्ण है, क्योंकि धार्मिक साधना के साथ ही इससे मन की साधना अच्छी तरह साधी जाती है। डॉक्टरों का कहना है कि हमारे शरीर में छोटी-छोटी नसों का जाल बिछा हुआ है। रात्रि विश्राम के समय कभी-कभी उनमें ब्लड सर्कुलेशन की गति मंद पड़ जाती है, ये बारीक नसें हमारे हार्ट में ज्यादा रहती है अतः जब सुबह-सुबह उठकर वन्दना करते हैं तो खून का प्रवाह पुनः शुरू हो जाता है, और शरीर में स्फुर्ति आ जाती है। मनुष्य के सीने में दर्द क्यों होता है ? उसमें बारीक-बारीक नसें हैं, जिनमें रक्त की रुकावट बन जाती है तो हार्ट फेल भी हो जाता है। पर यदि रक्त प्रवाह बराबर चल रहा है तो ऐसी स्थिति एकाएक नहीं आती। हार्ट अटेक होने पर आपको बहुत दुःख होता है. पर आप यह नहीं सोचते कि यदि शुरू से ही शरीर का साधन रखा जाता, महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित वन्दना विधि को विधिवत् अपनाया जाता तो हार्ट अटेक का प्रसंग शायद नहीं आता। भगवान महावीर की प्रतिपादित यह जो सहज प्रक्रिया है। वह प्रक्रिया मनुष्य करे तो आगे जाकर वह समीक्षण ध्यान योग साधना भी सुन्दर रीति से साध सकता है। पर मैं आपको क्या कहूँ, आज आपके पास इसके लिए समय ही कहाँ रह गया है। आप अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए वाचमेन नियुक्त करते हैं, पर मैं पूछता हूँ कि आत्मा की सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए आप किसको नियुक्त करते हैं। उस सम्पत्ति की रक्षा के लिए आप क्या कुछ कर रहे हैं ?

एक पटेल पूर्व जन्म की पुण्यवानी लेकर आया था। जिसके आधार पर खूब आगे बढ़ गया था। अतः गर्व में आकर विचार करने लगा कि अहो ! मेरे भाई कितने पीछे रह गये हैं, पर मैं कितना वैभव सम्पन्न हूँ। अतः अब मुझे सत्संग से क्या लाभ ? पर उसकी पटेलन सभी कार्यों को छोड़कर सत्संग में पहले जाती। वहां से ज्ञान प्राप्त करके सोचती कि यह जो अपार वैभव, धन, सम्पत्ति आदि मुझे मिली है, वह सब पूर्व जन्म में कृत शुभ कर्मों का ही फल है। अतः पूर्व पुण्यवानी के साथ वर्तमान की शक्ति को, पुण्यवानी को भी बढ़ाना चाहिए। अतः वह अपने पति से कहती है कि सारा समय आप इन कार्यों में न वितायें, सत्संग में भी चलें। धन और इन्द्रियों में इतने आसक्त न यह सब वैभव तो पूर्व कृत पुण्यवानी का परिणाम है। अतः इस कैसा ? यह पुण्यवानी भी अमर नहीं है। जब पुण्यवानी का पुण्य भी पाप में परिवर्तित हो जायेगा। अतः आप गहराई से कुछ समय सत्संग में वितायें पर वह पटेल सुनी अनसुनी

नाम भी उसे पसन्द नहीं था। इस तरह करते-करते एक समय ऐसा आया कि पुण्यवानी खत्म होते ही सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी। एक समय की रोटी भी नसीब नहीं होती। सोचा अब क्या किया जाए। पटेलन ने कहा जाओ नौकरी करो। सुनकर वह बोला कि क्या मैं इतना बड़ा पटेल होकर नौकरी करूँ! पर मरता क्या नहीं करता? उसे जाना पड़ा। जहां वह जा रहा था, वहीं एक सेठ की हवेली थी, जिसका रुपया पटेल के पास बाकी था। उसने देखा तो आवाज दी और कहा कि मेरा रुपया कब लौटाओगे तो उसने कहा कि अभी मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं है तो आपका रुपया किस तरह लौटाऊं। जब मुझे सम्पत्ति प्राप्त होगी तो मैं आपके बिना कहे ही आपका सारा धन ब्याज सहित लौटा दूंगा। पर उस सेठ ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया और कहा कि मैं क्या तुम्हारी स्थिति नहीं जानता हूँ कि तुम लाखों की सम्पत्ति के मालिक हो, अतः लाओ! मेरा रुपया मुझे लौटा दो। क्योंकि उसने सोचा कि इसकी नियत खराब हो गई है, यह धन का गबन करना चाहता है। अतः सेठ ने उस पर पहरा लगवा दिया। जेल में बन्द करते हैं तो कम से कम रोटी तो खाने को दे देते हैं, पर वहाँ वह पटेल तीन दिन तक भूखा प्यासा बैठा रहा, पर किसी ने उसकी खोज खबर नहीं ली। तीन दिन बाद जब सेठ बाहर आया और उसने पटेल को बैठा देखा तो पूछा तू यहीं बैठा है? क्या रुपया लाया है? तब उसने कहा नहीं। तो सेठ ने कहा कि जाओ रुपया लेकर आओ। पटेल उठा। तीन दिन का भूखा-प्यासा था, चक्कर आने लगे। किसी तरह उठकर घर आया और अपनी पत्नी से कहने लगा कि मैं तीन दिन का भूखा प्यासा हूँ। अब मुझ से कोई काम नहीं होता। तुम अपने धान के कोठे को झाड़ बुहार कर साफ करो। पाव भर धान तो निकल ही जायेगा। उसे पीस कर आटा बना लो एवं उस आटे की राबड़ी बनाकर उसमें पॉयजन मिला दो, जिसे खा पीकर हम सो जायें, ताकि समस्त दुःखों से छुटकारा मिल जायेगा। पटेलन ने उससे सारी बात पूछी और विचार करने लगी कि यह हमारे अशुभ कर्मों का उदय है। अतः आर्त व रौद्र ध्यान की स्थिति में पड़कर कर्म बन्ध को न बढ़ाते हुए समभाव रखना है। तब पटेलन ने उसको समझाया कि पूर्व कृत पापों के उदय से तो यह दशा प्राप्त हुई है। फिर इस तरह आत्मघात करने से कितने क्या कर्मों का बन्ध होगा। क्या आपने सेठ को अपनी वर्तमान स्थिति से अवगत नहीं कराया तो पटेल ने, नहीं कहा। तब पटेलन ने उसे कहा कि तुम पुनः उसी सेठ के पास जाओ और बिना किसी संकोच के अपनी वर्तमान की सारी हकीकत सुना दो। वह सेठ इतना निर्दयी नहीं है, दयालु है, उससे कहना कि पहले का कर्जा तो है ही, आप मुझे सवा मन अनाज और दे देवें। यदि मेरी स्थिति पुनः चमक उठी तो मैं ब्याज सहित सारा धन और सवा मन अनाज चुका दूंगा और यदि नहीं चुका सका तो आप यही सोच लेना कि जहाँ इतना धन डूबा वहां सवा मन अनाज और सही। इससे आपके व्यापार में अथवा धनराशि में कुछ भी फर्क नजर नहीं

आयेगा। पत्नी की बात मानकर वह गया। सेठ दयालु थे। उसकी आकृति देखकर उन्हें विचार आया। पूछा कि तुम रुपये लेकर आये हो ? उसने कहा नहीं, तो पूछा कि तुम्हारा चेहरा उदास क्यों है ? क्या हुआ ? तब उसने अपनी सारी हकीकत सुनायी। सेठ सा. ने सुनकर उसके कन्धे पर हाथ रखा और कहा चिन्ता की कोई बात नहीं, तुम मेरे भाई हो, इस तरह उसे अन्दर ले गये और सब कुछ विस्तार से पूछा—उसने कहा कि मैं आपको हवेली पर आया। तीन दिन तक भूखा-प्यासा बैठा रहा, फिर निराश होकर घर लौटा एवं जहर पीकर मरने की सोचने लगा। पर मेरी पत्नी ने समझा-बुझाकर सवा मन अनाज लाने के लिए पुनः आपके पास भेजा है, अतः आप इच्छा पूर्ण कीजिये। जब सेठ को यह ज्ञात हुआ कि उसने तीन दिन से भोजन नहीं किया है तो पहरेदार को बुलाकर उसे डांटते हुए कहा कि यह क्या किया ? तुमने इसे भोजन भी नहीं करवाया ? जाओ उसे बढ़िया भोजन खिलाकर इसकी क्षुधा शान्त करो। पर पटेल ने कहा कि नहीं, मैं अकेला भोजन नहीं करूँगा ? हमारे घर में यह रीति है कि जो भी मिलता है उसे हम सभी पारिवारिकजन आपस में मिल करके बांटकर खाते हैं। कोई भी व्यक्ति अकेले नहीं खाता। मेरी पत्नी भी तीन दिन की भूखी है, मैं खाऊंगा तो उसके साथ ही और मरूंगा तो उसके साथ ही। उसकी ऐसी भावना देखकर सेठ बड़ा खुश हुआ और बोला कि तुम दो मन अनाज ले जाओ। सेठ की बात सुनकर उसके मन में ताकत आ गयी। यह है मन की प्रतिक्रिया। धान की बड़ी सारी पोटली लेकर घर की ओर चला। पटेलन ने दूर से आते देखा तो सामने गयी और कहा इतना अनाज ? वास्तव में वह सेठ बड़ा दयालु है। इसने हम पर कितनी बड़ी अनुकम्पा की है, विपत्ति के इस भयानक समय में इसने हमारी कितनी बड़ी रक्षा की है। ऐसे समय में अन्य लोग तो हंसी उड़ाते हैं, उपेक्षा करते हैं, पर इनकी महानता देखो कि इन्होंने हमको गले लगाया है। ऐसी अवस्था में जो हमारे प्राण बचाने के लिए अनाज दे, उसका उपकार हमें जीवन भर नहीं भूलना चाहिए। पटेल भी विचार में पड़ गया। उसने रात भर जगकर विचार किया कि मैं इस सेठ का कर्जा लेकर नहीं मरूंगा, चाहे जैसे भी हो मुझे यह कर्जा उतारना है। सोचा—मेहनत मजदूरी से कर्जा उतार नहीं पाऊँगा। इसके लिए तो चोरी ही करनी पड़ेगी। ऐसा सोचकर चोरी करने की भावना से वह आधी रात को घर से निकला। रास्ते में उसे चोर मिले। पूछा कौन ? तो कहा चोर ? उसने कहा तुम कौन हो ? कहा चोर ? चोर-चोर मोसेरे भाई। सभी मिल गये। २९ के तीस हो गये। बड़ी हवेली में चोरी करेंगे। जो पहले घुसेगा उसे दुगुना हिस्सा मिलेगा। उसने सोचा मैं चोर नहीं चोर का जाया नहीं। सिर्फ कर्जा उतारने के लिए चोर बना हूं, यदि दुगुना हिस्सा मिल जाए तो एक बार में ही सारा कर्जा चुक जायेगा। अतः उसने कहा कि मैं पहले प्रवेश करूंगा। वे सब एक हवेली के पिछले भाग में पहुंचे। पहले पटेल उस हवेली के पिछवाड़े से खड्डा करके उसमें घुसकर धीरे

से हवेली के भीतर आ गया। पर भीतर जाते ही देखा तो विचार करने लगा कि यह तो मेरे सेठ की हवेली है, जो कि मेरे उपकारी हैं। इस घर का दाना पानी अभी भी मेरे पेट में है। अतः चाहे मेरे प्राण जायं तो जायं पर इस सेठ की सम्पत्ति नहीं जाने दूँगा। जब अन्य चोरों ने पूछा कि क्यों भाई? क्या बात है? इतनी देर कैसे लगा दी? तो उसने कहा कि नहीं-नहीं मैं यहाँ चोरी नहीं करने दूँगा। यह तो मेरे सेठ की हवेली है। सभी चोर हंसने लगे कि चोरी करने निकला है और कहता है कि यह मेरा सेठ है। उन्होंने कहा कि चलो हटो, हमें तो चोरी करने दो। बड़े सेठ की हवेली है, आज खूब माल हाथ लगेगा। पर उस पटेल ने हल्ला कर दिया, जिससे वे २९ चोर तो भाग गये, अकेला पटेल ही पकड़ा गया। पहरेदार उसे पकड़कर ले गये। प्रातः जब उसे सेठ के सामने उपस्थित किया गया तो उसे देखते ही सेठ बोला—अरे रामा पटेल। तुम यहां? तो उसने कहा हाँ सेठ साहब, आपका कर्जा चुकाने के लिए ही मैंने यह मार्ग अपनाया था। सोचा था कि यह पाप करके मैं उसका सच्चे हृदय से प्रायश्चित कर लूंगा। अतः २९ चोरों के साथ मैं चोरी करने निकल पड़ा। पर जब देखा कि यह आपकी हवेली है, तो आपके उपकार के बोझ से दबे हुए मैंने चोरी करने से साफ इन्कार कर दिया और हल्ला कर दिया। जिससे वे २९ चोर तो भाग गये और मैं अकेला पकड़ा गया। यह सारी बात सुनकर सेठ विचार करने लगा कि यदि वे २९ चोर जिस स्वभाव के थे, उस स्वभाव का यह भी होता तो क्या मेरा धन सुरक्षित रहता? इस पटेल ने सच्ची वफादारी निभायी है। अतः उस सेठ ने उसे स्वयं अपने हाथों से बन्धन मुक्त करके कर्जे से मुक्त कर दिया। यह तो एक रूपक है, आपको जो शरीर वैभवादि सम्पत्ति मिली है, वह पुण्यवानी के योग से मिली है।

"बहु पुण्य केरा पुंज थी शुभ देह मानव को मल्यो।"

बंधुओ, जरा विचार कीजिये कि दिन-रात के २४ घण्टे हैं और २४ घण्टे के कितने मुहूर्त्त ३०। यदि उसमें से एक मुहूर्त्त ध्यान साधना में लगायें तो आपकी संपूर्ण सम्पत्ति की सुरक्षा हो सकती है। यह जीवन की आध्यात्मिक सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए घड़ी भर की ध्यान साधना में अन्तर ज्योति को प्राप्त कर ध्यान योग पद्धति को जीवन में उतार कर आठ प्रवचन माता की सम्यक् आराधना करने का भव्य प्रसंग है। जिस प्रकार एक पटेल ने चोरों का विरोध किया तो सेठ की सारी सम्पत्ति सुरक्षित रह गई। इसी प्रकार २९ मुहूर्त्त व्यर्थ जा रहे हैं, पर यदि एक भी मुहूर्त्त आपने सार्थक कर लिया तो वह मुहूर्त्त पटेल की तरह आत्मा रूपी सम्पत्ति की रक्षा कर सकेगा। अतः विचार करें कि अधिक से अधिक समय सार्थक बनाते हुए जीवन को सही रूप में जीने की कला सीखें।

यदि एक मुहूर्त्त भी समीक्षण ध्यान साधना में सही रूप में लगाया गया तो वह आपके सारे जीवन को सुख की सुरभि से सुरभित कर देगा।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

९-८-८४
गुरुवार

४१ योग का सही प्रयोग

मनुष्य की लम्बे काल से जो अभिलाषा चल रही है, वह यह है कि मुझे तृप्ति मिले, पर जिन-जिन पदार्थों का वह प्रयोग कर रहा है, उन-उन पदार्थों से संतुष्टि नहीं हो पा रही है। क्योंकि वे तृप्ति देने वाले सही पदार्थ नहीं हैं। जैसे - प्यासा मनुष्य कोई भी द्रव पदार्थ देखता है तो पानी की तरह पीने की चेष्टा करता है और वह पीता भी जरूर है, पर तृप्ति नहीं होती, वैसे ही चैतन्य देव आत्मा इस लम्बे चौड़े विराट् संसार में परिभ्रमण करती हुई कई वक्त मनुष्य जन्म भी प्राप्त किया और मनुष्य जीवन में आने के बाद मन की गति भी प्राप्त हुई। ५ इन्द्रिय और मन की प्राप्ति हो जाने पर भी वह तृप्त नहीं हो रहा है। वह सोचता है कि मैं प्यासा हूँ इसको बुझाने के लिए मैं कई वस्तुएँ काम में ले रहा हूँ, ताकि मुझे संतुष्टि मिले। अमुक व्यापार करूँ जिससे इतना धन मिले ऐसी कल्पना भी करता है और उसके पीछे दौड़ता भी है। पर उसे संतुष्टि नहीं मिलती, कभी सोचता है ५ इन्द्रिय के विषय में अधिक रस लूं, जिससे मुझे शांति मिले, वहाँ भी वह विफल हो जाता है। जैसे आग धधक रही है, तब कोई यह सोचे कि यह भूखी है, इसे खाना दिया जाय तो उसका खाना सूखी घास लकड़ी घासलेट या घी है, ये उसे दे दिये जायें तो आग की तृप्ति होगी या और अधिक भड़केगी ? जैसे इन पदार्थों को देने पर अग्नि शान्त नहीं होती है, अपितु अधिकाधिक भड़कती है। वैसे ही मानव मन ५ इन्द्रियों के विषयों में डूबकर पिपासा मिटाना चाहता है पर उसकी तृष्णा, वासना बढ़ती ही जाती है। वस्तुतः इसको ऐसा कोई रस नहीं मिल रहा है, जिससे यह संतुष्टि प्राप्त करे। इस मन की तृप्ति का जो हेतु है, वह जब तक नहीं मिलता है, तब तक मन भटकता रहता है। एकाग्र नहीं रहता।

मन की चंचलता को रोकने के लिए, स्थिर करने के लिये अंतिम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने कितनी गहरी बात योग साधना की पद्धति से बतायी है। १२ अंगों का सार रूप ५ समिति, ३ गुप्ति है। मेरे भाई और बहिन इसे थोकड़े के रूप में अच्छी तरह से रट लेते हैं और पढ़कर विस्तार से वर्णन भी कर सकते हैं। पर सोच नहीं पाते हैं कि ५ समिति, तीन गुप्ति में हमारी अन्तर की तृप्ति की योग साधना कहाँ रही हुई है ?

कइयों का तो यह अभ्यास ही बन गया है कि केवल मूल पाठ का

स्वाध्याय कंठस्थ कर लेते हैं। और उनकी गाथाओं को भी सुना देते हैं, केवल इस तोता रटन की तरह रट लेने में ही सार्थकता नहीं, परन्तु जब तक इसका रस आपके अन्तर में नहीं आयेगा, तब तक सारा जीवन इसके आवर्तन और प्रवर्तन में ही चला जायेगा और इस तरह के प्रयास से स्वयं की पूर्ण तृप्ति नहीं होगी। तृप्ति के लिए जिज्ञासा होनी चाहिए और वह भी आन्तरिक हो।

जो यह मान लेता है कि—मैंने ५-४ व्यक्तियों को निरुत्तर कर दिया। अमुक-अमुक कार्य कर लिया तो बस अब मैं पूर्ण हो गया, मुझे अब अन्य किसी की भी आवश्यकता नहीं है। ऐसा मनुष्य कभी ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा नहीं कर सकता। तथा वीतराग देव के वचनों का सार रूप रस पी नहीं सकता।

मैं कल कुछ बात रख गया था योग साधना की दृष्टि से। भगवान् ने जहाँ १२ अंगों का सार इस योग साधना में बताया और योग साधना की व्याख्या भी बड़े सुन्दर शब्दों में की है। योग का अर्थ जोड़ना और समाधि का अर्थ साध्य को प्राप्त करना है। हरिभद्र सूरि ने भी जहाँ दृष्टियों का प्रतिपादन किया है वहाँ मन, वचन, काया की क्रियाओं को योग के उद्देश्य के साथ जोड़ देना बताया है। तीर्थंकर देवों ने विना पूछे ही आपको योग साधना का अवलंबन बता दिया है कि—

"तत्थ आलंबणं णाणं दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पहवज्जिए॥"

तुम्हारी योग साधना का अवलंबन ज्ञान, दर्शन, चारित्र है। इसी में तू अपने योगों को जोड़। योग की एकाग्रता के साथ शरीर और वाणी की एकाग्रता तो जुड़ी हुई है पर वचन और शरीर को चंचल बनाने वाला मन है। सबसे मुख्य प्रश्न यही है, इसीलिए इस मन की वृत्ति को समझें। नियत समय पर बैठकर योग की साधना करें। कल मैं नियत समय के विषय में कुछ संकेत कर गया था। मैं अनुभव करता हूँ कि योग साधना की पद्धति को सुनने वाले साधक ही यहाँ आये हैं। ऐसी बात नहीं है। आत्म शुद्धि के प्रयत्न की भावना से ही आप संभव है, सुनने आते होंगे। बंधुओ! जहाँ जिन श्रोता गणों को यह ख्याल नहीं कि मैं आत्मिक शुद्धि कैसे करूँ, वे भले ही ऊपरी कथा आदि को चाहें पर आत्म जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे अन्तर के मन को संशोधित करें, तभी आत्मा की वास्तविक शुद्धि होगी। पर्युषण और संवत्सरी आकर चले जाएँगे। प्रतिक्रमण हो जायेगा। खमत-खामणा भी आप अवश्य कर लेंगे, पर यह चिन्तन नहींवत् होगा कि १२ महिनों में मेरी आत्म-शुद्धि नहीं हुई, अन्तर की संतुष्टि नहीं आयी, जो शुद्धि का काम करना चाहिए वह नहीं कर पाया।

तो इन आठ दिवसों में अपने योगों को संशोधित कर लूँ, ऐसे सोचने वाले बहुत कम मिलते हैं।

एक भाई के पास कई दिनों से वस्त्र मैले हो गये। विचार किया कि एक ही साथ इन कपड़ों को धो डालूँ। बड़ी सन्दूक में सारे कपड़े भर के उसमें ताला लगा दिया। फिर सोचा कपड़े ज्यादा हैं तो साबुन की बट्टियाँ भी बहुत लगेंगी। बाजार गया और ले आया और तालाब पर पहुँच कर, सारी बट्टियाँ पेटी पर रगड़-रगड़ कर खत्म कर दीं और संतुष्टि प्राप्त कर ली कि मैंने अपने सारे कपड़े साफ कर लिये हैं। पर वस्तुतः उसका परिश्रम निरर्थक गया है। जरा चिन्तन करें कि कहीं आप भी ऐसा पुरुषार्थ तो नहीं कर रहे हैं। अन्तर की सफाई किये विना बाहरी सफाई निरर्थक होगी। संवत्सरी पर्व आ रहा है। उस रोज भीतर के मैले कपड़े जो विचारों के, राग-द्वेष के उन्हें निकाल-निकाल कर क्षमा साधना से धोते हुए मन को संशोधित करें ताकि वचन और काय भी संशोधित होगी। मन की तिजोरी को साफ किये बिना साबुन की ऊपरी रगड़ की तरह बाहरी रूप से सामायिक, प्रतिक्रमण, तप आदि करने से आत्मिक शुद्धि नहीं होगी। यही नहीं प्रतिदिन भी आप नियत समय पर बैठकर के भगवान् द्वारा बतायी गयी योग साधना के माध्यम से अपने आप के अन्दर में प्रवेश करने का प्रयास करें। हमारे योग का लक्ष्य क्या है? पद्धति क्या है? हमारे ज्ञान दर्शन, चारित्र पर जो मल-आवरण आ गया है, उसे हटाना है या बढ़ाना है?, इसका विचार करें।

एक रूपक है—चार भाइयों में से दो भाइयों ने गलती की। जिससे कपड़े पर चिकना सा धब्बा लग गया। अन्य दोनों भाई विचार करने लगे कि इन लोगों ने प्रमाद वश ऐसा किया है, अव चींटियां आएंगी और इन्हें काट खाएंगी। उन्होंने समझाया कि प्रमाद मत करो। ये धब्बे लग गये हैं तो उन्हें धोकर साफ कर लो। पर वे दोनों कहते हैं कि एक दो धब्बे लग गये हैं तो इससे क्या फर्क पड़ता है। पर वे दो के चार और होते-होते सारे कपड़े उनसे भर गये, तेल के चिकनास से युक्त कपड़ों में दाग लग जाने से वे बहुत गंदे हो गये एवं साफ होने योग्य न रहे। इसी प्रकार अन्य दो भाइयों के कपड़ों पर भी इसी तरह चिकनास युक्त धब्बे लग गये, पर उन्होंने प्रमाद नहीं किया, सुज्ञजनों की सलाह के अनुसार हाथों-हाथ कपड़े धो डाले। जिससे वह चिकनास कपड़ों में जमा नहीं और कपड़े विल्कुल स्वच्छ हो गये। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति नियत समय पर वैठकर योग साधना से जीवन को धोने का प्रयास नहीं करता है तो उसके जीवन में विचारों की गंदगी बढ़ती जाती है, किन्तु जो नियत समय पर योग साधना से आत्म शुद्धि कर लेता है तो उसकी अन्तरंग की सफाई हो जाती है। जहाँ दर्द है वहीं दवा लगाने से लाभ हो सकता है, दर्द तो है सिर में और दवा हो रही है पेट की, तो यह दर्द कभी भी ठीक नहीं हो सकता।

जो यह वीतराग देव की योग साधना है, इसमें आप नियत समय पर बैठने की कोशिश करें तथा बारीकी से इसका अध्ययन करें। जिस रोज आप प्रतिक्रमण करें उस रोज तो विशेष रूप से मन पर लगे पापों का शुद्धिकरण करने का प्रयास करें। मन चंचल है, इसीलिए पाप बंध विशेष होता है, अतः सोचना है कि मन-चंचल क्यों है? यह योग साधना के माध्यम से ज्ञात किया जाता है। योग पद्धति में जाने के बाद योग की विक्षिप्तता आ गयी, तो अनर्थ हो जाएगा। अरणक मुनि की बात सुनी होगी। पिता के साथ दीक्षित होकर मुनि बने और ज्ञान ध्यान का अभ्यास करने लगे, उनके पिता ने कहा—तुम पूरा समय ज्ञान-ध्यान करो, सारा कार्य मैं करूँगा। पर योग साधना की पद्धति पाँच समिति तीन गुप्ति का प्रयोगात्मक रूप नहीं सिखाया—कहा कि जब तुम बड़े हो जाओगे तो तुम्हें साधना की यह पद्धति सिखाऊँगा। इस तरह सुकुमार अवस्था में रखते हुए कुछ भी कार्य नहीं करने देते, दिन भर ज्ञान ध्यान सिखाते। साधु जीवन में जहाँ गोचरी पानी आदि का प्रसंग आता है तो एक साधु गोचरी लाता है, तो दूसरा साधु धोवन पानी आदि। इस तरह अप्रमत्तावस्था में रहकर सभी मुनि मिलजुल कर कार्य करते हैं। ये कार्य भी साधु जीवन के आवश्यक अंग हैं। पर मुनि अरणक के प्रति उनके पिता-मुनि का वात्सल्य प्रेम था। वे उन्हें खूब ज्ञानाभ्यास कराना चाहते थे। वे सोचते थे कि अभी से ही साधु जीवन की चर्या के कार्यों में लगा दिया गया तो इसे अध्ययन में चाहिए, उतना समय नहीं मिल पाएगा। और प्रगति में बाधा आएगी। ऐसा सोचकर वे स्वयं तो अपना कार्य करते ही थे, साथ ही मुनि अरणक के हिस्से का कार्य भी स्वयं ही करते थे। पर उसकी सुकुमार अवस्था को देखते हुए उन्होंने उसे प्रयोगात्मक रूप से समिति गुप्ति आदि का ज्ञान नहीं कराया, जो कि जीवन व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थाश्रम में पुत्र रहता है, उसे आप शाला में पढ़ने के लिए भेजते हैं, वह सीखता है। घर आने पर आप उसे पूछते हैं कि ५-५ कितने होते हैं तो वह कहता है कि मुझे नहीं पता। वह कहता है कि शाला में पढ़ता हूँ और वहाँ ५-५ दस होते हैं। पर उसे यह नहीं ज्ञात कि जो प्रयोग वह शाला में कर रहा है उसका उपयोग यहाँ भी करना है। यही है योग साधना का अभाव। मुनि अरणक के पिता-मुनि काल कर गये। अब उन्हें सारा साधु जीवन का कार्य स्वयं ही करना था। योग साधना से अनभिज्ञ अरणक मुनि को अन्य गुरु भ्राताओं ने समझाया कि तुम भिक्षा के लिए जाओ तो तुम्हारा योग का लक्ष्य मस्तिष्क में होना चाहिए। दृष्टि भूमि पर होनी चाहिए और भिक्षा की विधि को ख्याल में रखते हुए किसी भी घर में जाओ, वहाँ विवेक पूर्वक अपनी दृष्टि से गृहस्थ की सामग्री देखो और विचार करो कि यह सामग्री मेरे योग में दोष लगाने वाली तो नहीं है। उसके बाद सब कुछ देखकर निर्दोष आहार ग्रहण करो और पानी लेने जाओ तो देखकर पक्का पानी ही लाना। मुनि अरणक विचार करने लगे—पिताजी तो

स्वर्गवासी हो गये, उन्होंने मुझे योग साधना की यह प्रक्रिया बतायी नहीं, पर अब तो जाना ही पड़ेगा। गोचरी के लिए निकले, पर सूर्य के प्रचंड ताप से सड़क जल रही थी, सुकुमार थे मुनि! उनके पाँव जलने लगे, पास ही एक बड़ी हवेली की छाया थी। वे उस छाया में जाकर खड़े हो गये। उस हवेली में एक महिला थी। उसने ऊपर से देखा। उसकी दृष्टि योग की नहीं भोग की थी। विचारने लगी कि अहो! इतनी तरुण वय में सुकुमारता में यह कठोर संयम साधना। ये गर्मी से बेचैन हो रहे हैं। अतः इन्हें ऊपर लेकर जाऊँ, यह सोच वह नीचे उतरी और मुनि को ऊपर पधारने की प्रार्थना की। अरणक मुनि ने शास्त्र पढ़े थे। अध्ययन भी खूब किया था, पर अध्ययन के साथ योग साधना से सम्बन्ध नहीं जोड़ा। वे घबरा रहे थे, अतः उस सुन्दरी ने आमंत्रण दिया और मुनि अरणक गर्मी से बेहाल बने और उसके पीछे-पीछे भवन में जाकर ऊपर चढ़ने लगे। बन्धुओ, योग के आन्तरिक स्वरूप को जो समझ सकता है, वही समझ सफल हो सकती है, पर मुनि अरणक योग साधना के प्रयोगात्मक रूप को समझ नहीं सके, इसी कारण अकेली बहिन के पीछे-पीछे चल दिये। वह बहिन सोचने लगी कि यह मुनि योग का रस नहीं जानते, इसलिए मेरे साथ ऊपर आ गये हैं, अतः यह कच्चे मुनि हैं, मेरे वश में आ सकते हैं। उसने अच्छा सरस भोजन उन्हें वहराया और अरणक मुनि से कहने लगी—आप कष्ट पा रहे हैं, यह गोचरी लेकर धर्म स्थानक में किस तरह जाएँगे, यहीं बैठकर भोजन कर लें। जब सूर्य का तेज कम पड़ जाएगा, मौसम में ठंडक आ जाएगी तब आप खुशी-खुशी उपाश्रय पधार जाना। मुनि अरणक कुछ सोच नहीं पाये कि क्या करना और क्या नहीं करना। उन्होंने पहली गलती तो यह की कि अकेली बाई के साथ मकान में गये। दूसरी गलती यह की कि गृहस्थी के घर बैठकर ही भोजन कर लिया। बन्धुओ! भले ही मुनि अरणक ने शास्त्राभ्यास किया था। पर ज्ञानीजनों का कथन यह है कि ज्ञान के साथ जब तक क्रिया नहीं होगी, आचरण नहीं होगा, तब तक योग साधना की, चारित्र आराधना की सही पद्धति सध नहीं सकेगी।

आज आप जो संत-सती को वन्दनीय पूजनीय मानते हैं, ये महावीर की योग साधना को लेकर चल रहे हैं, पर आप विचार करें कि वे जो जमाने के पीछे वर्तमान की सुख सुविधाओं में बह रहे हैं और चाहते हैं ह
हमारे वह चाहिये तो समझना चाहिये कि वे सही माने
भगवान् की योग साधना की पद्धति से बहुत दूर चल रहे
विचार करते हैं कि साधु को आधुनिक होना चाहिए,
कर रहे हैं। क्या श्रमण वर्ग को अपनी अवस्था में ले
और साधु दोनों की एक ही स्टेज रह जायेगी? फिर
मानने से क्या लाभ? अरणक मुनि साधना की यो म

तोड़कर वहाँ भोजन करने लगे। फिर उनकी साधना भ्रष्ट हो गयी। वे वहीं पर रह गये। यह घटना उसकी माँ ने सुनी जो कि दीक्षित थी। बड़ी-बड़ी आशा लेकर चल रही थी कि मेरे पति के पास मेरा पुत्र भी दीक्षित हुआ है। मेरे पति ने उसे जी जान से ज्ञान ध्यान करवाया है, आगे जाकर खूब नाम रोशन करेगा, शुद्ध अन्तरकरण द्वारा आत्म ज्योति जगाएगा। पर जब यह सुना कि वह कहीं चला गया, लौटकर वापिस नहीं आया तो उसके मन में विक्षेप आ गया। धर्म स्थानक से निकल कर जोर-जोर से आवाज देने लगी। अरणक मुनि, अरणक मुनि। वह विक्षिप्त हो गयी, उसकी मानसिक दशा खराब हो गई। योग पद्धति सारी भ्रष्ट हो गयी, खाने का ध्यान नहीं, पीने का ध्यान नहीं रहा, इस प्रकार घूमते-घूमते एक दिन ये शब्द अरणक के कान में पड़े तो वह सोचने लगा अहो ! ये शब्द तो मेरी माता के हैं। उसे सब कुछ स्मरण हो आया। मन पश्चाताप में डूब गया। अहो कहाँ मेरी वह संयमी चर्या और कहाँ मैं यहाँ आकर फंस गया, धिक्कार है मुझे। मैं पतित हो गया अपने महान् लक्ष्य से। काश, मेरे मुनि पिता मुझे बचपन में ही समझा देते, अध्ययन के साथ आचार पालन की पद्धति सिखा देते, योग साधना की सुन्दर रीति समझा देते तो आज मेरी यह स्थिति नहीं होती। मैं यों कायर न बनता। संयम से भ्रष्ट नहीं होता ओह ! यह मैंने क्या किया ? इस प्रकार प्रायश्चित का पावन जल उसके मनोमन्दिर का प्रक्षालन करने लगा। अरणक नीचे उतर आया और बोला—माँ, जिस अरणक को तुम पुकार रही हो तुम्हारा वहीं अरणक मैं हूँ। माँ ने कहाँ अरे ! तुम्हारी क्या दशा हो गयी। तू मेरी गोद को उजालने वाला था, पर तूने तो संयम की इस श्वेत चादर पर काला धब्बा लगा दिया। मेरे उज्ज्वल कुल को कलंकित कर दिया, पर बेटा दोष तेरा नहीं। तेरे पिता ने तेरा जीवन उच्च बनाने के लिए सिर्फ ज्ञानाभ्यास करवाया, इस कारण से योग साधना की बारीकियों का तुम अध्ययन न कर सके। अरणक पश्चाताप पूर्णक स्वर में अपनी माँ से बोला—अब मैं क्या करूँ ? तो माँ ने कहा कि इसका एकमात्र उपाय यही है कि तू पंडित मरण स्वीकार करो, योग साधना को नष्ट करने की अपेक्षा जीवन का विसर्जन करना ही श्रेष्ठ है। दशवैकालिक सूत्र में आया है—

"धिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीविय कारणा।
वंतं इच्छसि भावेउं सेयं ते मरणं भवे॥"

रथनेमि जब संयम से विचलित होकर भोग की कामना करने लगता है तो सती राजमति उसे कहती है कि वमन किये हुए भोगों को भोगने की अपेक्षा तो मर जाना ही श्रेयस्कर है। अतः अरणक की माता कहने लगी—हे पुत्र तू पुनः संयम में स्थिर होकर, कठोर साधना से अपने शरीर का त्याग कर दो, तुम्हारे लिए यही प्रायश्चित है।

बन्धुओ ! मैं आपको एक ही बात बता रहूँ कि जो योग साधना अच्छी तरह से नहीं साध सकता वह अपनी स्थिति से गिर जाता है तो आपका कर्तव्य है कि उन्हें प्रतिबोध देकर पुनः साधना में स्थिर करें। आप स्वयं भी विचार करें कि हमारा जीवन क्या है ? इसकी साधना क्या है ? संत-सतियों के पास जाएँ और साधना की बारीकियों को सावधानी से, गहराई से समझें। उन्हें जीवन में थोड़ा-थोड़ा भी करके उतारें पर उतारें अवश्य ही।

आप विचार करें कि अन्तर की शुद्धि की बातें, आत्मा को पवित्र बनाने की आध्यात्मिक बातें संत-सतियों के पास ही मिलेंगी, अन्य वस्तुएँ तो कहीं भी मिल सकती हैं पर आध्यात्मिक उत्थान की बातें तो आध्यात्मिक मन्दिर में ही मिलेंगी। अतः आप यहाँ नियत समय पर आकर साधना की पद्धति को स्वीकार करें। पर्युषण के दिवस आ रहे हैं। आत्मा के मैल को किस तरह साफ करना है। पेटी वन्द करके उसे ऊपर से धोना है या वस्त्र अलग-अलग करके उन्हें शुद्ध रीति से धोना है, विचार करलें। साधना की सही पद्धति को जीवन में उतारने का प्रयास करें। सहजिक योग साधना हर तरह से जीवन में रम जाए—ऐसा प्रयास लेकर प्रयत्नशील रहेंगे तो एक दिन योग साधना के माध्यम से आप उस उच्च दशा को प्राप्त कर सकेंगे।

मोटा उपाश्रय,
घाटकोपर, बम्बई

१०–८–८५
शनिवार



४२ | साइक और मुनि धर्म

वर्तमान समय, मनुष्य जीवन के लिए स्वर्णिम अवसर है। यह मनुष्य जीवन इस सृष्टि का विशिष्ट जीवन है। सारी ही सृष्टि के मनुष्यों को तथा अन्य सभी प्राणियों को सही दृष्टि से देखने की कोशिश करें तो आपको लगेगा कि सारी सृष्टि में मनुष्य जीवन ही एक ऐसा श्रेष्ठ जीवन है कि जिससे इच्छित फल की प्राप्ति हो सकती है। मनोवांछित पूर्ण किया जा सकता है। मानव जीवन एक चौराहा है। मनुष्य जीवन से यह आत्मा, चैतन्य देव जहाँ भी जाना चाहे जा सकता है। जैसा भी बनना चाहे बन सकता है। इस जीवन के लिये वीतराग देव ने महत्त्वपूर्ण घोषणा की कि यह जीवन सर्वतंत्र स्वतंत्र है। इस जीवन में किसी की परतंत्रता का प्रसंग नहीं आता। शर्त यह है कि इस शरीर को धारण करने वाला चैतन्य देव स्वयं के स्वरूप को समझ ले। अपने स्वरूप को समझने के लिए उसे विशिष्ट महापुरुषों के संदेश को समझने की आवश्यकता है जिन्होंने अपने त्रिकाल अवाधित आत्मिक स्वरूप को प्रकट कर लिया, राग-द्वेष, काम-क्रोध की ज्वालाएँ नष्ट कर दीं, विकारों की परछाइयाँ, जड़ तत्त्वों की बाधाएँ जिनके जीवन में नहीं रही हैं, ऐसी विशिष्ट शक्ति सम्पन्न आत्मा जो हैं उन्हें आप वीतराग, परमात्मा या परिपूर्ण शुद्ध चैतन्य देव के स्वरूप से संबोधित कर सकते हैं। उन्होंने जो दिव्य संदेश दिया, वह मुख्य रूप से मानव के लिये है और गौण रूप से सभी के लिये है क्योंकि मानव वीतराग देव की आज्ञा में समर्पित होकर चलता है और उस आज्ञा को अपने जीवन में स्थान दे सकता है। आत्मा में जब समर्पणा होती है तो परमात्मा का शुद्ध स्वरूप स्वयं में दिखाई देने लगता है। उस स्वरूप को साधने के लिये वीतराग देव को जो साधना है, उस पर आगे बढ़ा जा सकता है और वह साधना साहसिक योग की साधना है। मैं कुछ दिनों से योग साधना की बात कह रहा हूँ, वही साधना का विषय आगे लेना है। वीतराग देव ने बताया कि ध्यान, योग-साधना यह आत्मा के नवनीत पाने की साधना है। फूलों के मकरन्द की साधना है। वृक्षों का राजा आम वृक्ष है, उसके सार रूप फल की साधना है। यह विषय प्रत्येक सुज्ञजनों को समझना है। आप जानते हैं जहाँ आम का वृक्ष सुरक्षित है, किसी भी प्रकार का जन्तु उसमें नहीं लगा है, वही वृक्ष आम्र फल दे सकता है। लेकिन कोई पुरुष यह विचारे कि आम्र वृक्षों की मुझे आवश्यकता नहीं, मुझे तो सिर्फ फल ही चाहिए तो क्या वह पुरुष आम्र वृक्ष की उपेक्षा करके आम्र फल पा सकता है? बुद्धि-

मान व्यक्ति ऐसा नहीं सोच सकता। पुष्प रस का इच्छुक सोचे कि मैं फूल की अवगणना करके उसका रस ले लूं, तो वह रस नहीं पा सकता है अतः फलित होता है कि जिस सार तत्त्व की आवश्यकता है, उस सार तत्त्व का जिसके साथ अविनाभावी संवंध है, ऐसे तत्त्व को भी महत्त्व देकर चलता है तो ही वह सार पा सकता है।

परमात्मा रूप की अभिव्यक्ति इस मनुष्य जीवन की अंतिम साधना है। एक जीवन में भी तीर्थंकर देव की आज्ञा की आराधना सही रूप में कर लेते हैं, तो अंतिम साधना तक पहुँच सकते हैं। अंतिम साधना का सार है—समाधि। आपकी धर्म साधना तभी फलवती होगी, जब कि ध्यान साधना का क्रम उसके साथ संयुक्त होगा। वीतराग भगवन्तों ने इस ध्यान को साहजिक योग साधना की दृष्टि से ५ महाव्रत मूलगुण और १० पच्चक्खाण उत्तरगुण बताया है। पतंजलि योग दर्शन में यम और नियमादि वतलाये हैं। पतंजलि दर्शन बाद का है लेकिन अनन्त तीर्थंकरों ने जो सार बताया है, वह यह है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इसी का छोटा रूप श्रावक का अणुव्रत है। ये दोनों ही वृक्ष के रूप हैं। इसको चारित्र कह सकते हैं, पर यह चारित्र सार्थक कब होगा ? जब ध्यान का मकरन्द जीवन में आयेगा। ५ महाव्रत रूप आम्र वृक्ष और इसका फल साधना के रूप में ले सकते हैं। श्रावक के (५ अणुव्रत, ३ गुण व्रत और ४ शिक्षा व्रत) १२ व्रतों की भावना भी इस चारित्र के साथ योग का रस देने वाली है। पर यदि कोई संत चाहे कि मुझे महाव्रत रूप आम्र वृक्ष की आवश्यकता नहीं अतः इन्हें छोड़ दूँ और ध्यान का मकरंद रूप फल ले लूँ तो क्या वह ले सकता है ? ध्यान की साधना महाव्रत के साथ की गई तो ही फलवती होगी, अन्यथा मकरंद की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

पर्युषण की समीपता के साथ आज छुट्टी का दिन भी आ गया है, सात दिन उसकी उपासना के हैं। उसमें क्या करना चाहिये, इन सात दिनों में आठवें दिन की साधना की परिपूर्ण तैयारी करलें, पर तैयारी क्या है ? भगवान् की आज्ञा की आराधना १२ महिने में जितनी हुई उतनी तो हुई, पर ये आठ दिन उनकी आज्ञा में परिपूर्ण समर्पित होने के हैं। परिपूर्ण समर्पित होने का तात्पर्य—आठ दिनों में अधिक से अधिक अहिंसा, सत्य, आचौर्यादि व्रतों को धारण कर अहिंसक वनकर शक्ति अनुसार १८ पापों से निवृत्त होकर चलने का प्रयास करें। क्योंकि भगवान् भी परिपूर्ण रूप से पापों का त्याग करके ५ महाव्रतों के साथ पूर्ण अहिंसक वने थे। इसी वीतराग देव की साधना के लिये भव्यजनों को आठ दिन में वैसी ही साधना करके दिखा देना चाहिये। यदि वीतराग वाणी की आराधना नहीं की गई तो सम्यक्त्व भी सुरक्षित रहेगी या नहीं ? इसका गंभीरता से चिंतन करना है।

आज का युग परिवर्तन का युग है। आपको मालूम होगा एक समय पत्थर का युग था। समय के साथ युग बदलते रहते हैं। भगवान् ऋषभदेव के समय का युग आया, फिर राजाओं का युग आया, गांधी युग आया, जनतंत्र का युग आया, ये सारे बाहर के परिवेश का परिवर्तन है। किन्तु आत्मिक मौलिक स्वरूप का परिवर्तन तीन काल से भी नहीं हो सकता। मूलतः आत्मा १८ पापों से रहित है, ऐसा मौलिक स्वरूप है। किन्तु कर्मों से आबद्ध होने से पापों में रम रही है। आत्मा का इसलिए प्रभु ने संकेत दिया कि चातुर्मास प्रारम्भ के बाद १२० रात्रि में कम से कम सम्यक्-धर्म की आराधना तो अवश्य करें। भगवान् की आज्ञा का आराधक बनें। इन दिनों में श्रावक व्रत की, सम्यक्त्व की सुरक्षा करोगे तो एक न एक दिन परिपूर्ण समाधि की स्थिति आ सकती है। पर आराधना में कहीं कोई भूल तो नहीं है। आज के इस यांत्रिकी युग में परिवर्तन आ रहा है, जिसमें कइयों की आवाज उठती है कि भगवान् की आज्ञा की आराधना करते हुए, माइक का प्रयोग कर लिया जाय तो क्या हरकत है ? मैं उन भाइयों का अनादर नहीं करता; पर मैं उनसे परामर्श मांगता हूँ कि आप इस विषय का थोड़ा स्वरूप समझ लीजिये और फिर भगवान् की आज्ञा का इसके साथ कितना क्या तालमेल बैठता है ? यह विचार कीजिये।

जहाँ तक यंत्र का प्रसंग है, वह तो निर्जीव है पर उसमें जो प्रवाहित होने वाली बिजली है, उसे तीर्थंकरों ने तेऊकाय के रूप में बताया है, इस बिजली को बादर तेउकाय में गिना है। तथा भगवान् ने प्रत्येक साधक को संकेत दिया है कि षटकायिक जीवों के साथ मैत्री-भाव के साथ मेरी आज्ञा की आराधना करो। भगवान् ने छः काया में बादर तेउकाय को सबसे बड़ा भयंकर शस्त्र बताया। भगवान् की प्रथम देशना आचारांग सूत्र है, उसमें कहा 'जे दीह लोय सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे। जे असत्थस्स खेयण्णे, ते दीह लोय सत्यस्स खेयण्णे।' इस मूल पाठ में किसी का वाद-विवाद नहीं है। इसके मूल अर्थ में कोई अलग अर्थ नहीं निकलता है। मूल पाठगत शस्त्र तलवार, बन्दूक, बम्ब आदि के लिए नहीं समझें, आजकल के युग का शस्त्र न समझें। अनन्त तीर्थंकरों ने कहा कि "बादर तेउकाय सारे लोक को भस्मीभूत करने वाली है। अतः बादर तेउकाय दीर्घलोक शस्त्र है। और ये विद्युत सचित्त बादर तेडकाय है। देरावासी समाज के राजेन्द्र सूरिश्वर ने अभिधान राजेन्द्र कोष के ४० पंडितों को बैठाकर भगवान के समस्त शास्त्रों को इकट्ठे करके जो ७ भाग बनाये हैं। ऐसी जानकारी हुई है। उन्हें भी देख सकते हैं। उसमें बताया कि ये बादर तेउकाय व्यवहार और निश्चय से सचित्त हैं। व्यवहार से सचित्त, छाणे-कंडे के अंगारे, लकड़ी के अंगारे इत्यादि। पर भट्टियों के बीच में जलने वाली सब अग्नि और विद्युत निश्चय से सचित्त है। उत्तराध्ययन सूत्र के ३६वें अध्ययन में तथा पन्नवणा सूत्र आया है—

"संघरिस समुट्ठिए"

संघर्ष से उत्पन्न होने वाली अग्नि सचित्त है। बिजली संघर्ष-घर्षण से उत्पन्न होती है। चाहे सूक्ष्म रूप संघर्षण हो या स्थूल, पर होता अवश्य है। इसलिये वह भी सचित्त है, जीवयुक्त है। जितनी भी बिजली की अग्नि है, वह सारी बादरी तेउकाय है और वह सारे संसार को भस्मीभूत करने वाली है।

आकाश की बिजली जब पृथ्वी पर गिरती है तो पानी के जीव तो मरते ही हैं पर वनस्पति के जीव भी मरते हैं। उस बिजली के वृक्ष पर गिरने से वृक्ष समाप्त होता है, वृक्ष के कोपर में जहाँ पक्षियों के घोंसले हैं, अंडे हैं, उनके बच्चे हैं वे भी सारे के सारे समाप्त हो जाते हैं। पानी में जो ७ प्रकार के जीव हैं, वे सभी मर जाते हैं। एक ही बिजली के प्रत्यक्ष प्रयोग से आप देख सकते हैं कि कितनी हिंसा होती है। भगवान् महावीर ने इससे बढ़कर कोई शस्त्र नहीं बताया है। इससे वही बच सकता है जो वीतराग देव की आज्ञा का आराधक हो।

जब आगमिक दृष्टिकोण से विद्युत सचित्त प्रमाणित हो जाती है तब विद्युत के संचालित सारे साधन भी सचित्त, जीव युक्त ही प्रमाणित होते हैं। जिनमें बोलने से या उनका प्रयोग करने से अवश्य जीवों की हिंसा होती है। लाउडस्पीकर में बोलने वाला या विद्युत के साधनों का उपयोग करने वाला साधक फिर भगवान् की आज्ञा का आराधक कैसे रह सकता है ? व्यावहारिक दृष्टि से भी इस बात को समझलें। जैसे कोई एक सूई अन्य के भी लगाता है और अपने स्वयं के भी चुभाता है, तब उसे अनुभव होता है कि इससे स्वयं को कितना क्या दुःख होता है ? इसी तरह विद्युत, बिजली के करेन्ट को भी अन्य जीवों को लगाते हैं तो स्वयं को भी लगाने पर ज्ञान होगा कि जितना दर्द आपको होगा, उतना अन्य आत्मा को भी होगा। बंधुओ, चिंतन के क्षणों में बैठकर इस विषय को गहनता से समझने की आवश्यकता है और आप तटस्थ दृष्टि से चिंतन कर सकते हैं कि ऐसे भयंकर शस्त्र का थोड़े सुनने के पीछे प्रयोग कैसे कर सकते हैं ?

हमने प्रतिज्ञा की है कि तीन करण और तीन योग से छः काया के जीवों की हिंसा करना नहीं, करवाना नहीं और करने वाले की अनुमोदना भी नहीं करना, मन, वचन, काया से।

यह प्रतिज्ञा व्यक्तिगत नहीं है, वीतराग देव की बताई हुई प्रतिज्ञा लेकर हम चलते हैं।

आपकी एक सामायिक भी अहिंसा की साधना है। आप उसमें बैठते हैं, पौषध करते हैं, उसमें आप भी २ करण ३ योग से प्रतिज्ञा लेकर बैठते हैं पर हमारी सामायिक यावतजीवन की सामायिक है। तीन करण और तीन सामायिक है।

दूसरी बात यह है कि खुले मुंह बोलने वाला भगवान् की आज्ञा का आराधक नहीं होता, क्योंकि भगवान् ने भगवती सूत्र में खुले मुंह बोलने वालों की भाषा सावद्य कही है।

बन्धुओ ! जरा आप विचार करें कि इधर तो मुंह पर जीव रक्षा हेतु कपड़ा लगाया है और उधर षड्कायिक जीवों की विराधना कर लाउडस्पीकर में बोल रहे हैं। यह आपकी कैसी साधना है। खून से रंजित वस्त्र कभी खून से नहीं धोया जा सकता। आप ठंडे दिमाग से विचार करें कि इस तरह १२ महीनों की हिंसा से एक दिन भी आप निवृत्त नहीं हो सकते। एक तरफ तो कहते हैं कि हम भगवान् की आज्ञा की परिपालना कर रहे हैं दूसरी तरफ ऐसी बात लाउड-स्पीकर में बोलकर जीवों की हिंसा कर रहे हैं। बन्धुओ ! ये दिन आत्म शुद्धि के आ रहे हैं, इन दिनों में भी जीवन की शुद्धि नहीं करोगे तो फिर कब करोगे ?

शास्त्रकारों की दृष्टि से आप इस धर्मस्थान में आकर इन आठ दिनों में ध्यान-साधना, मौन-साधना करके आत्मा की धुलाई करें। आप प्रश्न करते हैं कि पब्लिक की अधिकता में हमें सुनाई न दे तो फिर क्या करें ? पर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करके हिंसा करके सुनना भी कोई जरूरी नहीं है। सुनाई न दे तो ध्यान और मौन की साधना भी कर सकते हैं।

आजकल राजनैतिक दृष्टि से सरकार कानून बनाती है एसेम्बली में, पर कितना परिपालन हो रहा है, कानून—कौन परिपालन कर रहा है ? मेरे भाई कहते हैं मा. सा. समय व परिस्थिति के अनुसार कानून भी तोड़े जा रहे हैं। इसलिये आप भी बदलिये। लेकिन बन्धुओ ! यह विचारने का विषय है। जहाँ मौलिक मर्यादा का अनुपालन नहीं होता है, वहाँ संयमी जीवन टिक नहीं सकता। साधु ने संयम लिया है, उसका प्रमुख उद्देश्य आपको सुनाने का नहीं है। उसका सर्व प्रथम मौलिक उद्देश्य आत्म शुद्धि के लिए महाव्रतों की अनुपालना करना है। यदि महाव्रतों को तोड़कर सुनाने का काम करता है, तो वह न तो भगवान् की आज्ञा का आराधक रहता है और न ही अपने आपका सही आत्म संशोधन ही कर सकता है। यदि समुद्र जन कल्याण की भावना से अपनी मर्यादा तोड़ दे, तो कल्याण नहीं प्रलय हो सकता है वैसे ही साधु भी भले जन कल्याण की भावना से महाव्रतों को तोड़ता है, तो वह आगमिक दृष्टि से अपना व दूसरों का संरक्षण नहीं ससार संवर्धन कर रहा है। सुज्ञ सज्जनो। जरा यह गहराई से समझने का विषय है, आप इसे समझने के साथ ही किसी का प्रश्न रह गया हो तो मेरा खुला प्लेटफार्म है। मैं सबको खुली छूट देता हूँ कि आप बाद में भी समयानुसार प्रश्न कर सकते हैं। मैं यथोचित समाधान देने के लिए तत्पर हूँ।

आप लोगों ने सुन तो बहुत कुछ लिया है अब आचरण में लाने की आवश्यकता है। आप इन सात दिनों में ध्यान व मौन की साधना का शिक्षण

लीजिये। त्रास दिये जाने वाले प्राणियों से क्षमायाचना कर उन्हें अभयदान दीजिये। व्यक्ति एक तरफ तो संवत्सरी के रोज क्षमायाचना करते हैं और दूसरी तरफ लाउडस्पीकर में बोल करके उन्हें करेन्ट लगा रहे हैं, उन्हें मार रहे हैं तो यह कैसी आत्म शुद्धि होगी ? यह आत्म शुद्धि का कौनसा रूप होगा ? भगवान् ने तो कहा है कि इस जीवन में जहाँ वचन का भी करेन्ट नहीं लगावें वहां पर बिजली का करेन्ट लगाकर धर्म साधना कैसे की जा सकती है। अतः इन सावद्य साधनों को छोड़कर छोटे से छोटे जीवों को अभयदान देकर क्षमा-याचना का भव्य प्रसंग उपस्थित करना चाहिए।

आप इस महानगरी के प्रबुद्ध नागरिक हैं, अतः मुझे ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

कल्पना करिये—सोचें, इधर तो प्रतिक्रमण चल रहा है और उधर अचानक पावर बंद हो जाय तो उस समय में प्रतिक्रमण कराने वाले के मन में कैसी भावना आयेगी, और समझ लो, लाउडस्पीकर में व्याख्यान चल रहा है। तो व्याख्यानदाता के मन में क्या भावना चलेगी कि जल्दी से जल्दी पावर हाउस चले। एक वेश्या भी यही सोचेगी कि पावर हाउस जल्दी से चालू हो जाय, जिससे मेरा भी काम हो। जिस पावर से कतलखाना चल रहा है, वे भी यही सोचेंगे कि पावर आ जाय, एक जुआरी भी उक्त प्रकार का ही विचार करेगा, तो अब बोलिये इस पावर हाउस के आने की जुदी-जुदी कल्पना करने वाले कितने भागीदार होंगे ? क्या वे इस महापाप के भागीदार नहीं होंगे ?

भगवान् ने जीव वधादि के अनुमोदन में भी पाप माना है तब पावर को जल्दी से जल्दी आने की भावना रूप अनुमोदन से होने वाले जीवों की हिंसा आदि अनेक पापों के भागीदार भी बनेंगे। अतः इस प्रकार के महापाप से कम से कम धर्म कार्यों में तो बचने का प्रयास करना चाहिए।

पर्युषण अथवा संवत्सरी के प्रसंग से जहाँ छोटे से छोटे जीवों को भी अभयदान देने की स्थिति उपस्थित करनी है। पर जहाँ इस महापाप की संस्था का अनुमोदन किया जाय तो कैसी क्या स्थिति बनेगी ?

ब्यावर का प्रसंग है। मेरे सामने ही जो कान्फ्रेंस के अध्यक्ष थे उनकी उपस्थिति में डॉ. डी. एस. कोठारी जो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक हैं
उनसे प्रश्न किया कि डाक्टर साहब ! बिजली सजीव [illegible] र्जीव। तब
उन्होंने कहा—हमारा विज्ञान निर्जीव-सजीव की प [illegible] चता है
पर आप छाणा-कोयला की आग को, आकाश की [illegible] ग को
सचित्त मानते हो तो बिजली निश्चित सचित्त है [illegible] भी
विद्युत में सजीवता स्पष्ट हो जाती है।

डाक्टर साहब ने यह भी साफ कहा कि सचित्त अग्नि के अचित्त की बात तो है ही, पर लाउडस्पीकर लगाकर साधु के नया परिग्रह नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि वे इसके अधीन हो गये, तो फिर इसके बिना बोल ही नहीं सकेंगे— टाइम्स आफ इण्डिया में एक अजैन लेखक ने ध्वनियों की विवेचना करते हुए कहा कि धर्म साधना का क्षेत्र धर्म स्थान में तो इन लाउडस्पीकर जैसी चीजों की आवाज कतई नहीं होनी चाहिए। देरावासी अनुभवी आचार्यों ने भी इसे सचित्त अग्नि बताई है। मेरे कुछ भाई लोग सोचते हैं कि म. सा. ! यह तो सब कुछ होता है पर आप थोड़ी देर के लिए हमें वीतराग वाणी (माइक के जरिये) सुना दो और फिर थोड़ा प्रायश्चित ले लो। बन्धुओ ! यह कैसा प्रायश्चित, यह कैसा दंड ? आप व्यापारी हैं। सरकार की ओर से दूकान पर लगे भाव सूची-पत्र को तोड़कर किसी व्यापारी ने २ नम्बर का पैसा इकट्ठा करके परोपकार में लगा दिया। सरकार को मालूम हुआ कि इस व्यापारी ने भाव सूची तोड़ी है तो इसका दंड मिलेगा या नहीं ? अवश्य मिलेगा। वह व्यापारी कहता है मैंने तो सारा धन परोपकार में लगा दिया है तो बताइये अब मुझे दंड किस बात का है ? पर सरकार उसे नहीं छोड़ती, क्योंकि उसने सरकार की चोरी की है।

बन्धुओ ! जब आपकी सरकार भी नहीं छोड़ सकती है तो क्या हमारी वीतराग देव की सरकार इतनी कच्ची है, इतनी कमजोर है। जब आपको भी छूट नहीं मिलती है तो वीतराग देव की सरकार में कैसे छूट मिलेगी ? अतः पुण्य क्या है, हिंसा किसमें है, धर्म क्या है, इस विषय का विश्लेषण हर भाई-बहिन को लेना चाहिये।

एक बार का प्रसंग है कि कवि आनन्दघनजी के पास एक संन्यासी आया और बोला कि देखो महात्मन् ! आप आध्यात्मिक साधना कर रहे हो, पर हमारे गुरूजी ने इतनी साधना की कि जिसके प्रभाव से उन्होंने एक ऐसा रसायन प्राप्त किया है, जिसकी एक बूंद से पत्थर का सोना बनाकर परोपकार में लगा सकते हो। उस संन्यासी ने कहा, मेरे गुरूजी ने इस रासायनिक तत्त्व की शीशी आपको देने के लिए ही मुझे भेजा है, अतः आप इस शीशी को ले लीजिये।

वह संन्यासी आनन्दघनजी को शीशी देता है तो आनन्दघनजी ने कहा— यह स्वर्ण पैदा करने की रासायनिक शीशी तुम मुझे देना चाहते हो पर मुझे तो आध्यात्मिक रस की शीशी चाहिए। तुम केवल जड़ तत्त्वों की सिद्धि में ही लगे हुए हो। चारित्र की साधना ज्ञान की साधना के साथ ही सध सकती है। तुमने अभी तक आध्यात्मिक जीवन को नहीं समझा। यह भौतिक तत्त्व कोई महत्त्व-पूर्ण नहीं है यदि इसकी एक बूंद से लाखों मन सोना बन सकता है तो एक टोपे से क्या कोई आध्यात्मिक जीवन का सोना बन सकेगा ? तो वह बोला कि ऐसा तो नहीं होगा। आनन्दघनजी ने कहा कि आध्यात्मिक जीवन की साधना को

न तुमने समझा है और न तुम्हारे गुरूजी ने ही। आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि सच्ची साधना से ही हो सकेगी। वह इन चन्द चाँदी के टुकड़ों से नहीं हो सकती। आनन्दघनजी के इतना समझाने पर भी वह बार-बार कहने लगा और नहीं माना तो आनन्दघनजी ने उसके हाथ से शीशी ले ली। और जो रस लाखों मन सोना बनाने वाला था, उसे अपने हाथ में लेकर पत्थर पर फैंक दिया और वोसिरा दिया।

यह देखकर संन्यासी को बहुत क्रोध आया और आग बबूला हो, आनन्दघनजी को कहने लगा—आपने इस लाखों मन सोना बनाने वाले रासायनिक तत्त्व को मिट्टी में मिला दिया। तो आनन्दघनजी ने बड़ी गम्भीरता के साथ कहा कि लाखों मन सोना महत्त्वपूर्ण है या आध्यात्मिक जीवन की साधना अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह कहने लगा कि क्या आपकी ऐसी कोई आध्यात्मिक साधना की शक्ति है कि जिससे तुम भी सोना बना सको। महात्मा ने कहा—जिसकी आध्यात्मिक साधना सच्ची है तो उस साधना की निश्चित रूप से अचिन्त्य शक्ति होती है। मैं चमत्कार दिखाना नहीं चाहता पर फिर भी कुछ नमूना तुम्हें बताता हूँ। बन्धुओ! कमल की सुवास सारी दुनिया को सुरभित कर सकती है। आनन्दघनजी ने एक पत्थर को शिला पर लघुशंका कर दी जिससे सारी शिला सोने की बन गयी। यह आत्मिक शक्ति का चमत्कार देखकर वह नतमस्तक हो गया और उनके चरणों में गिर गया। आध्यात्मिक साधना में वास्तव में अनन्त शक्ति भरी पड़ी है। पर इस साधना को छोड़कर जो यह परिग्रह सारे पापों की जड़ है, जो इसमें पड़ता है वह अपने जीवन को पतन की राह पर धकेल देता है। आध्यात्मिक जीवन की साधना तो इन सब बाह्य परिग्रहों से ऊपर उठकर ही हो सकती है।

जो साधक साधना में बढ़कर भी यश लिप्सा प्रसिद्धि के इच्छुक बन जाते हैं और अपनी प्रसिद्धि के पीछे मर्यादाओं का भी ख्याल नहीं रखते, माइक आदि हिंसात्मक साधनों का प्रयोग भी करते हैं। वे निर्दोष कैसे रह सकते हैं? लाउडस्पीकर में बोलकर सुनाने वाले कई साधक ऐसे भी कहते हुए पाये जाते हैं कि गृहस्थ लाकर रख देते हैं, तब हमारा क्या दोष? यह थोथी कल्पना है। क्योंकि गृहस्थ साधु की इच्छा बिना कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे कि घाटकोपर की बात है कि मैंने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया था कि संयमीय मर्यादा के अनुसार स्थिति बने तो ही मैं चातुर्मास के लिए सोच सकता हूँ तो आपने भी वैसा ही विवेक रखा। इस प्रकार साधु स्पष्ट निषेध करदे तो गृहस्थ की हिम्मत नहीं है कि वह उसके सामने लाउडस्पीकर की बात ला दे। अजमेर में आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. के सामने लाउडस्पीकर की बात चली तो कहते हैं ४० हजार की जनता के बीच में यह कहते हुए आचार्य प्रवर निकल गए कि "मैं लाउडस्पीकर में नहीं बोलूंगा। किसकी हिम्मत कि जो

बुलाए"। आचार्य प्रवर की इस घोर गर्जना के सामने कोई भी नहीं आया। अतः अनिच्छा होते हुए भी गृहस्थ रख देते हैं, यह मानना तो बिल्कुल गलत है। यदि ऐसे उपयोग करने लगेंगे तो फिर वे गृहस्थ तो कार, मोटर, एयरकंडीशन आदि सब व्यवस्था कर देंगे। तब साधु जीवन कहां रह जायेगा ? यदि यह कहा जाय कि इसके लिए हम प्रायश्चित लेते हैं तो यह भी आगमिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रायश्चित वहीं आता है जहाँ संयम जीवन की सुरक्षा में खतरा हो रहा है, वहां यदि अपवाद का सेवन किया जाय तो अविधि में प्रायश्चित की स्थिति बनती है। लेकिन लाउडस्पीकर में नहीं बोलने से संयम जीवन में कोई खतरा नहीं आने वाला है जिससे कि व्रत तोड़कर प्रायश्चित लिया जाय। अपवाद का सेवन वहाँ किया जा सकता है जहाँ उत्सर्ग की स्थिति नहीं निभ रही है। कहा है "उत्सर्गाद परिभ्रष्टस्य अपवाद गमनम्।"

लाउडस्पीकार में नहीं बोलने में उत्सर्ग स्थिति में कोई नहीं जा रहा है और लाउडस्पीकर में बोलना भी अपवाद का सेवन नहीं है एक बात और है कि जिनवाणी के प्रचार-प्रसार के नाम से यदि साधुओं के लिए लाउडस्पीकर खोला जाय तो फिर विदेशों में प्रचार करने के लिए हवाई जहाज भी खुल जायेंगे, जो कि देखने को मिल ही रहे हैं। सत्य है नाव में एक छिद्र हो जाने पर भी वह पूरी नाव को डुबो देता है वैसे ही साधु जीवन में एक दोष का प्रवेश भी उसके सारे साधु जीवन को दूषित कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि बहुत ज्यादा भीड़-भाड़ हर समय नहीं होती है। कभी-कभी ही होती है, जब दीक्षा आदि का कोई ऐसा प्रसंग हो तो उस समय श्रोता सुनने के लिए कम, देखने के लिए ज्यादा आते हैं, जिसके सुनने की सच्ची जिज्ञासा है, वह ऐसे प्रसंगों को टालकर आ सकता है जिससे उसे सुनने को मिल सके। किन्तु सुनने के नाम से साधु को उसकी मर्यादा से नीचे गिराना कतई उपयुक्त नहीं है।

यह भी एक हास्यास्पद बात होगी कि जहाँ वायु के जीवों की रक्षा के लिए तो मुख पर वस्त्रिका को बांधते हैं और अग्नि से होने वाली महा हिंसा की ओर ध्यान न देकर धड़ल्ले से लाउडस्पीकर में बोल रहे हैं।

आज कई साधक भीनासर सम्मेलन का नाम लेकर भी यह कहते हुए पाये जाते हैं कि लाउडस्पीकर तो उस समय ही खुल गया था, पर उनका यह मानना भ्रान्ति मूलक है—क्योंकि भीनासर में १–४–५६ को जो प्रस्ताव पारित हुआ, वह यह था—

प्रस्ताव नं. १० ध्वनिवर्धक यंत्र विषयक—"ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलना, मुनिधर्म की परम्परा नहीं है। यदि अपवाद में बोलना पड़े तो उसका प्रायश्चित

लेना होगा। किन्तु स्वच्छन्द रूप से ध्वनिवर्धक यंत्र का उपयोग नहीं करना चाहिए।"

उपरोक्त प्रस्ताव बहुमत के आधार पर ही पारित हुआ, सर्वसम्मति से नहीं। इस प्रस्ताव के भावों की व्याख्या निम्न प्रकार है :—

इस प्रस्ताव के प्रथम वाक्य में "ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलना मुनिधर्म की परम्परा नहीं है", यह कहकर उत्सर्ग मार्ग में ध्वनिवर्धक यंत्र के उपयोग का कतई निषेध कर दिया है।

दूसरे वाक्य के प्रथम अंश में "यदि अपवाद में बोलना पड़े" तो कह कर मुनि की विवशता व्यक्त की गई और साथ ही ऐसी अपवाद की स्थिति में भी अनिवार्य रूप से प्रायश्चित का कथन किया गया है। और दूसरे वाक्य के दूसरे अंश में तो स्वच्छन्द रूप से बोलने का कतई निषेध है।

अपवाद की स्थिति, संयम रक्षा के लिए अथवा जीवन व धर्म की संकटा-वस्था के समय ही आती है। अपवाद की स्थिति क्या हो सकती है ? स्वच्छन्दता क्या है ? और प्रायश्चित क्या लेना ? इसका भीनासर सम्मेलन में निर्णय नहीं हुआ। इन तीनों शब्दों की व्याख्या नहीं हुई, इसको आचार्य श्री जी म. सा. ने भी स्वीकार किया है जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे। परन्तु फिर भी भीनासर सम्मेलन के बाद, आचार्य श्री जी म. सा. ने अपने शिष्यों को ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलने की आज्ञा प्रदान कर दी। इससे श्रमणवर्ग और संयम प्रेमी चतुर्विध संघ में हलचल मच गई।

उन दिनों में श्रमण संघ के प्रधानमंत्री पद पर व्या. वा. पं. रत्न श्री मदनलालजी म. सा, श्रमण संघ का कार्य सुचारु रूप से कर रहे थे। स्वाभाविक था कि ध्वनिवर्धक यंत्र के खुले उपयोग होने से, समाज में जो उथल-पुथल हुई उसकी शिकायत प्रधानमंत्रीजी म. सा. के पास आतीं और ऐसी शिकायतें उनके पास पहुँची। तव आचार्य श्री जी म. सा. और प्रधानमंत्रीजी म. सा. के वीच में श्रमण संघ सम्वन्धित पत्र व्यवहार आदि के प्रसंग में जो वातावरण वना और जो कटुता का अनुभव हुआ उससे प्रधानमंत्री जी म. सा. ने प्रधान मंत्री पद का त्याग पत्र आचार्य श्री म. सा. की सेवा में पेश कर दिया। उस त्याग पत्र का मुख्य अंश यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

प्रधानमंत्री श्री मदनलालजी म. सा. ने अपने त्याग पत्र में लिखवाया कि– "ध्वनियंत्र विषयक प्रस्ताव में निहित, अपवाद, प्रायश्चित और स्वच्छन्दता" की परिभाषा स्पष्ट हुए बिना ही आचार्य श्री जी म. सा. ने अपने शिष्य वर्ग को ध्वनिवर्धक यंत्र में बोलने की आज्ञा देकर, संघ में एक अव्यवस्था पैदा कर दी है। हमारे पास स्पष्टता के लिए मांग आई है, आदि।[1]

---

१. श्रमणसंघीय विषयों पर विश्लेषणात्मक निवेदन से साभार।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय लाउडस्पीकर नहीं खुला था। जब वह मुनि धर्म की परम्परा में ही नहीं है तो वह खुल भी कैसे सकता है अतः भीनासर सम्मेलन के नाम से लाउडस्पीकर खुल गया, ऐसा कहना साधक के सत्य महाव्रत को सशंकित करता है। भीनासर सम्मेलन में स्थानकवासी संघ के बड़े-बड़े मूर्धन्य मुनिराज थे। जब वहाँ भी यह स्पष्ट निर्णय था कि यह मुनि धर्म की परम्परा के अनुकूल नहीं है तब उसका अब प्रयोग करना मुनिधर्म के अनुरूप हो ही नहीं सकता।

साधु मर्यादा की दृष्टि से देखें तो आप सोचिये कि साधु बारीक वर्षा की बूंदों में भी पाँच कदम चलकर व्याख्यान नहीं दे सकता। भले पांडाल में दस हजार की जनता बैठी हो। क्योंकि जाने पर पानी के जीवों की हिंसा होती है तब अग्नि की हिंसा करके लाउडस्पीकर में बोलकर उपदेश कैसे दिया जा सकता है? वैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक कहा कि लाउडस्पीकर की आवाज अप्राकृतिक आवाज है। इसे सुनने से बहरापन, रक्तचाप आदि बीमारियाँ आ सकती हैं। अतः स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक है। इस बात को सुबोध गम्य बनाने के लिए एक व्यावहारिक रूपक देता हूँ।

एक व्यक्ति उपवास करके १० हजार मनुष्यों का जीमण करता है। वह सबको जिमाना चाहता है। पर बाहर के व्यक्तियों को यह शंका हो गई कि इस जीमन में बनाई गई मिठाई में पॉइजन है तो वे भोजन करने को तैयार नहीं हुए और वे लोग उसे कहते हैं कि आप भोजन कर लो हम सभी १० हजार व्यक्ति जीम लेंगे, पर उसके उपवास है। यदि आप नहीं जीमते हैं तो हम सारे के सारे भूखे रहेंगे। अब आप ही विचार करो कि आप क्या करेंगे। उपवास तोड़ देना या नहीं (श्रोताओं में से उत्तर) एक कहता है नहीं तोड़ेंगे और कोई कहता है समय व परिस्थिति की दृष्टि से तोड़ दे तो कोई हरकत नहीं है। अच्छा, अब बतलाइये, उपवास तोड़ दिया, उन्हें जिमा दिया, बाद में आपसे कोई पूछे कि आपके उपवास है? तो क्या कहोगे? उपवास नहीं तोड़ा ऐसा तो नहीं कहेंगे। श्रोताओं का उत्तर—नहीं ऐसा नहीं कहेंगे। यों कहेंगे कि उपवास तो था। लेकिन इन लोगों को जिमाने के लिए तोड़ दिया। अब मेरे उपवास नहीं है। बहुत अच्छा—अब आप विचार करिये कि एक भाई कहता है कि हम उपवास नहीं तोड़ेंगे, भले लोग भूखे जायं। आपका उपवास तो पत्ते की तरह और साधु के महाव्रत वृक्ष की मूल की तरह हैं। आप उत्तरगुण उपवास को तोड़कर भी लोगों को नहीं जिमाना चाहते तो एक साधु अपने महाव्रतों को तोड़कर किस लिए उपदेश देना चाहेगा? समझ लीजिये उसने लोगों को जिमाने की तरह लोगों को सुनाने के लिए महाव्रत तोड़ दिये। अब मूलगुण की दृष्टि से निर्दोष कैसे रहा? तब उसे कोई पूछे कि आप पांच महाव्रतधारी साधु हैं, तो वह क्या कहेगा? जब आप भी उपवास तोड़कर यह कहते हैं कि मेरे उपवास नहीं है, तो उसे अवश्य कहना होता है कि मैं पहले

पाँच महाव्रतधारी साधु था, पर लोगों को सुनाने के लिए मैंने महाव्रतों में दोष लगाया है। अब मेरे महाव्रत सुरक्षित नहीं हैं। लेकिन वह ऐसा न कहकर अपने आपको पूर्ण पंच महाव्रतधारी साधु माने तो उसमें नैतिकता भी कैसे रह सकती है?

जैसे एक उपवास तोड़ने का प्रायश्चित डबल उपवास का प्रायश्चित आता है तो वैसे ही महाव्रत तोड़ने पर कितना दीक्षा छेद का प्रायश्चित आयेगा, आप विचार कीजिये। इसी तरह वीतराग प्रभु द्वारा दिये गये नियमों को तोड़कर वीतराग देव की वाणी का भोजन जिमाने बैठोगे तो कहना पड़ेगा कि हमारे ५ महाव्रत पूरे नहीं हैं। यह चिन्तन करने का विषय है, मैंने वस्तु स्वरूप रख दिया, अब आप बतलाइये, मेरे सामने ऐसे प्रसंग आवें तो क्या करना चाहिए?

क्या लोगों को सुनाने के लिए वीतराग वाणी से विपरीत चलकर महाव्रत में दोष लगाया जाय या महाव्रत की सुरक्षा करते हुए जितना लोग सुन सकें उतना सुनाया जाय? उत्तर—लोगों की आवाज है—पहले महाव्रत की सुरक्षा अपेक्षित है। इस आध्यात्मिक जीवन की साधना और भगवान् की आज्ञा की आराधना पर्व के दिनों में गृहस्थ वर्ग भी सामायिक, पौषध आदि में हिंसा करते हुए कैसे कर सकेंगे? आप सामायिक, प्रतिक्रमण कुछ भी करो, उस समय खुले मुँह रखकर कुछ नहीं बोल सकते हो।

सुज्ञो! मैं आपको स्पष्ट बतला देता हूँ कि प्रचार-प्रसार के नाम पर आप साधुओं को उनकी मर्यादा से नीचे न उतारें। लेकिन स्वर्गीय क्रान्त दृष्टा आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. ने जो मध्यम मार्ग का संकेत दिया है अतः मध्यम वर्ग बनाकर संत महापुरुषों से ज्ञान प्राप्त कर प्रचार-प्रसार करने में आप स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार वैज्ञानिक लोग दवा बनाते हैं तो बनाने वाले दूसरे होते हैं और प्रचार प्रसार करने वाले दूसरे होते हैं। बनाने वाले ही यदि प्रचार करने में लग जायं तो निर्माण कौन करेगा? वैसे ही साधु को अपनी मर्यादा में रखें। उन्हें महाव्रतों से हटाने के लिए कभी प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए और गृहस्थ को भी सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि में हिंसक साधनों का उपयोग नहीं करना चाहिए।

बन्धुओ! जिसके मन में किसी भी प्रकार की जिज्ञासा हो तो पूछ सकते हो, मेरा तो खुला प्लेटफार्म है और यह मेरा उत्तर नहीं वीतराग देव की वाणी का दृष्टिकोण है, यह पहले भी कह गया हूँ। यह मेरी स्वयं की बात नहीं, वीतराग देव के सिद्धान्त की बात है। इस पर तटस्थ दृष्टि से चिंतन कर, आने वाले पर्युषण के दिनों में वीतराग देव की आज्ञा की सम्यक् आराधना करके आगे बढ़ोगे तो आप साधु जीवन को पवित्र रखते हुए अपने जीवन को पूरी **भव्य** रीति से ऊँचा उठा सकोगे। इसी भावना के साथ। □

११

मोटा उपाश्रय,
घाटकोपर, बम्बई

४३ | योगों का संशोधन हो

वीतराग देव के वचनों का संस्मरण करने का प्रसंग है। विराट् केवलज्ञान में सारे संसार की अवस्था का अवलोकन करके जो निर्देश महाप्रभु ने दिया है, उस निर्देश को याद करने का प्रसंग है। जहाँ चार अंगों की दुर्लभता बतलाई गई है। यथा—

"चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥"

श्रुत का श्रवण करना एक बात है, श्रुति का पैदा होना दूसरी बात है। जब अंतर से श्रुति जागृत हो जाय तो फिर उसके हृदय में स्वभावतः श्रद्धा, रुचि पैदा हो जाती है। कई मनुष्यों में श्रद्धा का प्रसंग सुनकर भी आता है। 'माणुसत्तं' सबसे पहले मनुष्य जीवन की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु आज जो आत्माएँ मनुष्य जीवन प्राप्त करके अलग-अलग कार्य कर रही हैं, इस मनुष्य जीवन में क्या कार्य करने का है। इस जीवन में हाथ, पाँव आदि पाँचों इन्द्रियाँ मिली हैं, पर इसका उपयोग कहाँ करना है। इस विषय का विज्ञान बहुत कम मनुष्य प्राप्त करते हैं। जब तक इस विषय का विज्ञान व शुद्ध रूप से श्रुत का प्रसंग न आएगा, तब तक श्रुत का सदुपयोग नहीं हो सकता। ये बात वीतराग देव ने स्वयं की साधना से बताई है, श्रुत का लाभ सिर्फ मनुष्य जन्म में ही मिल सकता है। मनुष्य पर्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है। आत्मोन्नति की अनंत संभावनाएँ इसी मनुष्य जीवन में रही हुई हैं। यहां से जो साधना करने की हैं, वे करलें तो महत्त्वपूर्ण है और मनुष्य जीवन में जो साधना न करें तो मिट्टी के ढेले की भांति यह देह मिली और नष्ट हो जायेगी। यदि कुछ भी न कर सके तो जीवन व्यर्थ ही जाएगा। श्रुत का अनुभव आत्मा में उदित होता है तो आत्मा की क्या-क्या अवस्था होती है, इसका वर्णन शब्दों से नहीं कर सकते हैं पर अनुभव से किया जा सकता है।

आत्मा की अवस्था का विचार करने पर आयेगा कि सूखे घास की अग्नि भी प्रकाश दे सकती है और जलाने में तो आती ही है। इसी तरह आत्मा की अवस्था होती है। इसी तरह छाणे की आग ज्यादा टिक सकती है, उससे आगे

लकड़ी और दीपक की आग में तफावत है। इसी तरह योग की साधना भी है। साधना का प्रकाश घास से या अन्य प्रकाश से नहीं आयेगा। जीवन की शुद्धि तो अंतर से ही प्रकट होगी, जब अंतर से प्रकट हो जाय तो मन चंचल नहीं रह सकता। मन को इच्छित वस्तु की प्राप्ति न हो जाय तब तक मन चंचल रहता है। बच्चा कब तक रोता है? जब तक उसे खिलौने न मिल जायें। भ्रमर गुनगुनाता है पर कब तक? जब तक कि उसे मकरंद न मिल जाय, मकरंद मिल जाय तो उस पर वह चुपचाप बैठ जाता है। उसी प्रकार आत्मा को श्रुत एवं चारित्र के माध्यम से जीवन का मौलिक रस प्राप्त होता है तो आत्मा भी फिर उस रस को पाने में निमग्न हो जाती है। जिसका मन प्रभु के श्रुत-चारित्र रूप पांच महाव्रत, तीन गुप्ति का गुण मकरंद लेने में लग जाये, तो आत्मा की साधना सध सकती है। किन्तु आज के मानव में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का महत्त्व कम है, इसलिये धर्म का स्वरूप जीवन में नहीं आ पाता। कारण कि उसका मन चंचल है इसलिये धर्म की ओर ध्यान नहीं जाता। पर जो व्यक्ति देवलोक के इन्द्र, नरेन्द्र, चक्रवर्ती, सम्राट् की सम्पत्ति भी तृण तुल्य गिनता है। पत्थर के कटके (टुकड़े) की तरह संसार के पदार्थों को मानता है, वह व्यक्ति योग साधना में सफल हो सकता है। श्रावक के मूल व्रतों को यथाशक्य लिये बिना ध्यान साधना ठीक तरह से नहीं हो सकती है। जो मनुष्य इनको छोड़कर साधना करना चाहे तो नहीं हो सकती है। वह तो आम्र वृक्ष को छोड़कर आम्र फल की इच्छा करने के तुल्य है।

दशवैकालिक सूत्र में प्रभु ने कहा कि—जब संयम जीवन के अंतरंग में आता है तो उसके मन, वचन और काया में भी संयम आ जाता है—"हत्थ-संजए-पाय-संजए वाय संजए-संजए इन्दियस्स" वीतराग देव के वचनों को जीवन में विचारोगे तो आपको समझ में आ सकेगा। स्वयं के भीतर जो अपूर्व खजाना है, उसे प्रकट करने के लिये सबसे पहले तीन गुप्ति का गोपन करो।

कल्पना करिये आपके बंगले पर कोई निमित्तक आकर कहे कि आपके आंगन में सोना, चांदी, मणि-माणिक्यादि के चरू गड़े हुए हैं तो आप क्या करोगे? घर का दरवाजा बंद करके धन के चरू निकालने का प्रयत्न करोगे या क्या करोगे? वृद्धावस्था में भी उसका आकर्षण है। इस तरह अनंत तीर्थंकर डंके की चोट से बता रहे हैं कि शरीर रूपी बंगले में अपूर्व अनिर्वचनीय शक्ति रूपी सम्पत्ति भरी पड़ी है, जो सारे संसार के वैभव की तुलना से भी अधिक है पर उसे निकालने के लिये सबसे पहले योगों के दरवाजे बंद करने की आवश्यकता है। इसके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र अंदर में प्रकट हो, अगर अपूर्व शक्ति की लाइट जीवन में आ जायेगी तो 'हत्थसंजए' आदि से सारी शक्ति प्रकट हो जायेगी।

इन योगों की साधना किस तरह करनी है, यह चिंतन प्रत्येक भव्यों को करने की आवश्यकता है। यह विषय आज का नहीं पूर्व के तीर्थंकरों के समय में भी था और वर्तमान का भी है। पूर्व के श्रावक सामायिक, पौषधादि करते थे, १२ व्रतों का भी ज्ञान था। इन सभी नियमों का पालन करते हुए, ध्यान साधना की प्रक्रिया भी करते थे। उस समय की श्राविकाओं का नाम भी आगे आया।

मगध सम्राट् श्रेणिक की पत्नी चेलना महारानी थी। श्रेणिक, जैन मुनि पर आस्था नहीं रखते थे जबकि महारानी चेलना वीतराग देव के सिद्धान्तों को जानती थी और उसे उस पर अगाध विश्वास था, योग पद्धति का भी ज्ञान था। महारानी चेलना श्राविका व्रत में रहती हुई श्रेणिक सम्राट् को धर्म समझाने का प्रयत्न करती थी। एक बार वह श्रेणिक के पास राज भवन के झरोखे बैठी थी। उस समय राजमार्ग पर बढ़ते हुए जैन मुनि को देखा सिर्फ बाहरी रूप से। श्रेणिक की दृष्टि मुनि के जीवन पर नहीं थी। श्रेणिक भावना रखते थे कि इनका प्रभाव कैसे कम हो, मैं देखूँ तो सही, महारानी मुझे हमेशा कहती है, इनकी साधना कैसी उत्कृष्ट है। संयोग से एक मुनि भिक्षार्थ राज भवन के सामने आ रहे थे। दूर से महारानी चेलना ने साधु को देखा और देखते ही दूर से ही, वहीं बैठी-बैठी स्वयं हाथ से संकेत देकर तीन अंगुली ऊँची की। देखिये वह कितनी आध्यात्मिक जीवन की योग साधना को जानने वाली थी। मुनि वहीं खड़े हो गये और एक अंगुली नीची करके, दो अंगुली ऊँची कर भद्रिक भाव से चले गये। थोड़ी देर बाद दूसरे मुनि आये तो उनके सामने भी महारानी चेलना ने तीन अंगुली ऊँची की तो उन मुनिराज ने भी एक अंगुली नीची करके दो अंगुलियें ऊँची करके चले गये। इसी तरह तीसरे मुनि भी आये वे भी उक्त मुनियों की भांति दो अंगुली ऊँची करके आगे चले गये। संकेत करते हुए किसी ने किसी को कुछ कहा नहीं। श्रेणिक विचार करने लगे कि मेरी महारानी धर्मात्मा कहलाती है, फिर साधुओं के सामने तीन अंगुलियां ऊँची कर इशारा कैसे कर रही है—और मुनिराज क्रमशः दो अंगुली ऊँची कर, एक अंगुली नीचे करके चले गये। इसका रहस्य क्या है? मेरी ये महारानी भगवान् के सिद्धान्तों की गहराई में जाने वाली है पर इस तरह इशारा क्यों करती है? श्रेणिक महारानी के पास आकर कहने लगे कि—तुम धर्म की जानकार हो पर जो अंगुलियाँ तुमने उन मुनिराजों को दिखाई, उनका रहस्य क्या है? उस रहस्य को जानने के लिये मैं उत्सुक हूँ। तुम वीतराग धर्म पर श्रद्धा रखने वाली होकर भी मुनियों को नमस्कार न करके इशारा क्यों किया? महारानी चेलना ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया कि राजन्! इनका रहस्य मैं नहीं बताऊँगी, उन साधुओं से ही पूछो और उनसे ही जो आपको उत्तर मिले, उसे स्वयं के जीवन में जमाओ और फिर मुझसे पूछो। श्रेणिक के मन में

उथल-पुथल मचने लगी। वह मुनिराजों के पास गया और महात्मा से पूछा कि—महात्मन्! आपने महारानी के तीन अंगुली दिखाने पर दो अंगुली क्यों उठाई? महात्मा के जीवन में वीतराग देव के सिद्धान्तों का रस रग-रग में रम रहा था। कहने लगे कि—आपकी महारानी वीतराग योगों का सरस रीति से ज्ञान रखती है और वीतराग योग पद्धति को जीवन में स्थान रखकर उसने संकेत दिया कि तुम साधु बने हो। जो पांच महाव्रतों के प्राण रूप पांच समिति तीन गुप्ति है, तो तुम्हारे जीवन में तीन गुप्ति का अनुभव कितना हुआ? यह बात पूछने के लिये तीन अंगुली ऊंची की और मुझे वीतराग देव द्वारा दर्शित तीन गुप्ति के विषय में पूछा। तब सम्राट् ने कहा कि आपने दो अंगुली बताकर क्या संकेत किया? मुनि ने कहा—मैंने दो अंगुली ऊपर उठाई। इसका तात्पर्य-मेरी दो गुप्ति तो सध गयी पर एक नहीं सधी, इसलिये दो अंगुली ऊँची की। देखिये साधु जीवन की सरलता। साधु का जीवन सरल होना चाहिये। जो ऋजु-भूत होता है, उसके जीवन में ही धर्म आता है। उस साधु ने सम्राट् श्रेणिक से कहा—राजन्! मन गुप्ति और वचन गुप्ति को तो मैंने रोका पर काया गुप्ति वश में नहीं रही। श्रेणिक ने कहा—काया से क्या किया? तो महात्मा ने कहा—और तो कुछ नहीं। मैं वीतराग की बतलाई हुई ध्यान साधना में बैठकर शुद्ध ज्योति को प्राप्त कर रहा था, उस समय नजदीक में आग की गर्मी मालूम हुई तो मेरा शरीर खिसक गया तो काया की गुप्ति वश में नहीं रह सकी। मैंने सोचा—आग कभी मेरे निकट आ जायेगी तो इस शरीर का क्या होगा? मुझे काया पर मोह था, इसलिये मैंने सरलता से कह दिया तो महारानी ने कहा कि तुम्हारी तीन गुप्ति सधी हो तो ही प्रवेश करना। इसी कारण मैं महारानीजी को दो अंगुली बताकर राज-भवन में प्रवेश किये बिना ही लौट गया। यह सुनकर सम्राट् आश्चर्य करने लगे कि इतनी सरलता, अपनी इस गलती को महारानी के समक्ष स्वीकार करली।

सम्राट् दूसरे संत के पास गये, पूछने पर दूसरे मुनिराज ने कहा—काया व वचन की गुप्ति तो सधी पर मन की गुप्ति नहीं सधी। यह सुनकर सम्राट् ने पूछा क्यों? तो मुनि कहने लगे कि एक दिन एक बहिन मुझे वंदन करने आयी तो दृष्टि के माध्यम से मेरा मन उसके पाँवों पर गया और विचार आया कि ऐसे ही पाँवों वाली मेरी धर्म पत्नी थी। मेरा मन उस बहिन के पाँवों को देखकर विचलित हो गया। इसलिये मैं दो अंगुली बताकर चला गया। सम्राट् श्रेणिक ने तीसरे मुनि को भी इसका कारण पूछा तो मुनिराज ने उत्तर दिया—राजन्! मेरी मन की शक्ति मजबूत है और काया की भी, पर मैं वचन पर नियंत्रण नहीं रख सका, क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो वहीं पर साधु को वचन का प्रयोग करना चाहिये, परन्तु एक दिन मैं गोचरी जा रहा था तो वहां एक सम्राट् एक मैदान के किनारे खड़ा असमंजस में पड़ा हुआ था।

उसके सामने बड़ी समस्या थी और वहीं पास में कुछ बच्चे भी हार-जीत का खेल-खेल रहे थे। एक पार्टी दो-तीन बार हार गयी, हारने वाली पार्टी उदास होकर खड़ी थी तो उस समय मेरे मुंह से स्वाभाविक रूप से निकल पड़ा कि उदास क्यों होते हो, उत्साह के साथ काम करोगे तो सफलता मिल सकती है। यह कहकर मैं तो चला गया पर वहाँ जो सम्राट् खड़ा था वह थोड़े दिनों बाद मेरे पास आया और चरणों में गिरकर कहने लगा कि—आपकी कृपा से मैं विजयी हो गया हूँ। मैंने पूछा कि आप कब आये थे मेरे पास ? तब सम्राट् ने मैदान में खेलते हुए बच्चों की हार-जीत देखकर मुनि द्वारा निकले हुए वचनों को दोहराते हुए कहा कि—उस समय वे वचन मैंने भी सुने थे और उन्हीं वचनों के प्रमाणानुसार उत्साहित होकर मैं युद्ध करने गया और पूर्ण विजय पाई। मुनि ने सोचा कि मैंने इस वाणी का प्रयोग व्यर्थ में किया। मैंने तो सम्राट् को कुछ नहीं कहा—खेलने वाले बच्चों को कहा था, पर सम्राट् द्वारा उन वचनों को पकड़ने से व्यर्थ की हिंसा का प्रसंग बना। इस तरह मेरे वचनों की स्खलना हुई। इसी कारण मैं महारानीजी को दो अंगुली बताकर चला गया। मुनिराजों द्वारा संकेतों का स्पष्टीकरण सुनकर सम्राट् श्रेणिक जैन मुनियों से प्रभावित हुआ।

वंधुओ ! आप भी मन में एक ऐसी स्फुरणा पैदा करें कि वीतराग देव के सिद्धान्तों के अनुसार जो ग्रहण करने की बातें हैं, उन्हें ग्रहण करें और जो छोड़ने योग्य हों उन्हें छोड़कर साधना में सफल बनें।

प्रभु की योग साधना का गुण मकरंद लेकर चलें तो जीवन की दशा कितनी सुन्दर बन सकती है। उस साधना का फल मधुर अनुभूतिगम्य होगा। वंधुओ ! पर्युषण के दिवस समीप आ रहे हैं। इन आने वाले आठ दिनों में पाँच समिति और तीन गुप्ति का स्वरूप स्व-जीवन में उतारने का प्रयास करें।

परिपूर्ण अहिंसक बनकर आत्मा को जागृत बनावें तथा प्राणीमात्र को अपना मित्र बनाकर चलेंगे तभी हमारे जीवन में परमात्म दशा की परम ज्योति जल सकेगी।

पर्युषण का प्रसंग, आत्मा के विशेष शुद्धिकरण का प्रसंग है अत: उन महान् आत्माओं का जीवन आदर्श हमारे सामने आने वाला है जो स्वयं के लिये आदर्श रूप होगा।

राजस्थान में यह प्रक्रिया है कि अन्तगड–दशांग सूत्र, कल्प सूत्र आदि का वाचन पर्युषण पर्व के आठ दिनों में किया जाता है। जिसमें, उन महान्

आत्माओं ने अपनी अंतिम अवस्था में किस प्रकार समभाव की साधना करते हुए अपना जीवन सार्थक बनाया तथा पंडित मरण को प्राप्त कर कर्मों का अंत करते हुए अक्षय, अव्याबाध सुखों के स्वामी बने, उनका सांगोपांग वर्णन आता है।

इन महापुरुषों का वर्णन यदि वर्ष में एक बार भी श्रद्धा के साथ सुना जाये तो आपकी आत्मा को अवश्यमेव खुराक मिल सकेगी और आपको उच्चतम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में सहायता मिल सकेगी। इन्हीं मंगल भावों के साथ........।

मोटा उपाश्रय, १२-८-१९८५
घाटकोपर, बम्बई सोमवार



४४ बाहर से हटें, भीतर में झांकें

(पर्युषण पर्व—प्रथम दिवस)

चातुर्मास काल का यह परम पावन प्रसंग, पर्युषण के रूप में हमारे सामने आ चुका है। पर्युषण पर्व वर्ष में एक बार ही आता है। इस पर्व का निर्देशन देने वाले सर्वज्ञ-सर्वदृष्टा महाप्रभु वीतराग देव थे।

यद्यपि वर्ष भर में आने वाले सभी दिन गतिमान हैं तथापि इन आठ दिवसों को महत्त्वपूर्ण इसलिये बतलाया गया है कि इन दिनों में व्यक्ति अधिक से अधिक आत्म-साधना के लिए प्रयत्नशील बने।

तीर्थंकर देव, विशाल वैभव का त्याग कर साधना पथ पर बढ़ते हैं। वे पाँच इन्द्रियों के विषयों से मन की संकल्प-विकल्प जनित दशाओं से उठकर ऐसे अवस्थान में पहुँचते हैं, जहां अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। वह अनुभूतिगम्य ही हो सकता है अभिव्यक्ति में नहीं आ सकता। तीर्थंकर भगवंतों ने संयम जीवन अंगीकार कर साधना पथ पर बढ़कर पहले घनघातिक कर्म-क्षय कर हस्तामलकवत् सम्पूर्ण विश्व को देखने वाले ज्ञान को प्राप्त किया। तदनन्तर उन्होंने सम्पूर्ण प्राणी वर्ग के लिये हितकारी, कल्याणकारी, कर्म कलिमलहारी उपदेश दिया था।

उन वीतराग देव ने अपने केवलालोक में देखा कि प्राणी जगत में यह बहुमूल्य प्राणी, जो मानव है उसे प्रायः यह ज्ञान नहीं हो पाया है कि यह मानव जीवन किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये है। वे तो पाँच इन्द्रियों के पोषण में ही भटक रहे हैं। कान, आँख, नाक, जिह्वा, चर्म आदि के विषयों को पाने में ही सम्पूर्ण जीवन को समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ ही खो बैठते हैं। जिस हीरे से सब कुछ भौतिक साधन पाये जा सकते हैं उस हीरे को मुट्ठी भर चने में बेचने वाले अज्ञानी व्यक्ति की तरह मानव जिस शरीर से मोक्ष सुख पा सकता है साधना के बल पर, उसी शरीर को मुट्ठी भर चने की तरह भौतिक सुख पाने में खर्च कर रहा है।

इस तरह जीवन को निरर्थक बनाने वाले व्यक्तियों को साधना पथ पर आगे बढ़ाने के लिए वीतराग वाणी परम सहायकभूत है। जिनवाणी में किसी भी व्यक्ति विशेष पर कोई आग्रह-दुराग्रह नहीं है। महाप्रभु की वाणी सम्पूर्ण

प्राणी जगत के लिए होने से यथार्थ में सर्वोदय वाणी है अर्थात् वह सबका हित एवं कल्याण करने में समर्थ है। उस वाणी से कल्याण एवं हित तभी हो सकता है, जव मानव एकाग्रता के साथ उसे श्रवण कर जीवन में रमाने का प्रयास करें।

आज के युग में कुछ विचित्र सा परिलक्षित हो रहा है। आज के बहुत से लोग वीतराग वाणी की ओर ध्यान कम देकर अपूर्ण व्यक्तियों की वाणी सुनने में ज्यादा आकर्षित हो रहे हैं। लेकिन सज्जनो! यह निश्चित है कि अपनी मन-कल्पित धारणा कहने वाले व्यक्ति की अपूर्ण वाणी से कभी भी पूर्ण शांति मिल नहीं सकती। आज के व्यक्ति उनके उपदेश को सुनकर बाहरी विषयों में ही भटकते जा रहे हैं, उसी का परिणाम यह आ रहा है कि वे सब कुछ भौतिक साधन पाने के बाद भी शाश्वत शांति की अनुभूति नहीं कर पा रहे हैं। इसका एक ही कारण है कि अपूर्ण व्यक्ति की वाणी को सुनकर आज के लोगों की दृष्टि अधिकांशतया बाहरी बनी हुयी है। लेकिन वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस प्रकार घड़ी का बाहरी कांटा चलता हुआ नजर आ रहा है। उस घड़ी के भीतर की मशीन उसे चलाती है। यदि वह मशीन बन्द हो जाए तो बाहरी कांटा चल नहीं सकता। बाहरी कांटे को चलाने के लिए भीतर की मशीन की अनिवार्य आवश्यकता है। आम को खाने वाला यदि ऊपर से ही उसके छिलके को खावे तो वह खाने वाला उसके वास्तविक आनन्द को नहीं ले सकता, उसके लिए आम के भीतर के रस को चूसने की आवश्यकता है। उसी प्रकार शरीर की वाहरी क्रियाएं हो रही हैं, उसके लिए शरीर के भीतर में एक मशीन काम कर है। उसका संचालक चैतन्य देव आत्मा है। यदि आत्मा अन्दर नहीं हो तो शरीर की कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। अतः शारीरिक क्रियाओं को करने के लिए आत्मा अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण है। आत्मा का रस बाहर से चूसने से नहीं, भीतर से प्राप्त होता है, वैसे ही वास्तविक आनन्द की अनुभूति बाहर की शारीरिक साधना से नहीं, आत्मिक साधना से प्राप्त होगी।

जव व्यक्ति आन्तरिक जीवन को विकसित कर लेता है, तव वह यहां वैठा-वैठा सम्पूर्ण विश्व को आँखें बन्द करके देख सकता है। आचारांग सूत्र में कहा है—"आयतचक्खू लोग विपस्सी।" भीतरी चक्षु से सम्पूर्ण लोक को देखा जा सकता है। पर आज का व्यक्ति, भीतर से नहीं, बाहर से, वाहरी दृष्टि से पुरुषार्थ कर रहा है। राकेट, हवाई जहाज आदि अनेक आविष्कार कर रहा है, पर उससे वह स्थायी शान्ति नहीं पा सकता। स्थायी शांति पाने के लिए वाहरी अंग महत्त्वपूर्ण नहीं है, उसके लिए भीतरी अंग, भीतरी यंत्र महत्त्वपूर्ण है। जिसे व्यवस्थित चलाने के लिए महापुरुषों ने वर्ष भर में आठ दिवस महत्त्वपूर्ण वतलाये हैं। जहां व्यक्ति वाहरी चीजों को पाने में, धन कमाने में, मकान वनाने में, पिक्चर देखने में, भोग विलास में पूरा वर्ष खत्म कर देता है। ऐसा व्यक्ति

कभी स्थायी शांति पा नहीं सकता। स्थायी शांति के लिए कम से कम इन आठ दिनो में तो भीतर के यंत्र को व्यवस्थित चलाने के लिए आत्मिक साधना करना आवश्यक है। इन आठ दिनों में अधिक से अधिक बाहरी तत्त्वों से हटकर, विषय आकर्षण से हटकर जो निरन्तर आत्मिक साधना में लग जाता है तो वह आठ दिनों में भी अपनी आन्तरिक शुद्धि विशेष रूप से करने में समर्थ हो सकता है। योग को लेकर भी जहाँ अष्ट दिवसीय शिविर लगता है, तो वहां भी पूर्ण सादगी, मौन आदि रखवाया जाता है तो फिर यहां तो योग साधना नहीं अपितु आत्मा की चरम एवं प्रकर्ष साधना के लिए आठ दिवसों का प्रावधान रखा गया है। ये आठ रोज अन्तर की साधना के दिन हैं। इन आठ रोज में भव्यात्माएँ सांसारिक प्रपंचों से हटकर साधु जीवन की तरह संवर साधना में रहते हुए, मौन एवं ध्यान की साधना के साथ भीतर में प्रवेश करने का प्रयास करें। इन दिनों में यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी प्रकार की हँसी अथवा मजाक न हो, राग-द्वेष न पनपे। संघर्ष न हो। बाहरी विभावों में न उलझकर आन्तरिक जीवन को विशुद्ध बनाने का प्रयास किया जाए। समीक्षण ध्यान में प्रवेश करने का पुरुषार्थ किया जाए। जो व्यक्ति इस प्रकार पुरुषार्थ करता है तो एक दिन वह परम साधना को पा लेता है।

इस प्रकार की परम प्रकर्ष साधना के प्रकर्ष का वर्णन अभी-अभी ज्ञान मुनिजी ने आपको अन्तगड़ सूत्र के माध्यम से सुनाया। जिसमें आपने सुना कि किस प्रकार वे राजकुमार जिनके पास भौतिक सुख-सुविधाओं की कोई कमी नहीं थी पर उन्होंने महाप्रभु के उपदेश को सुनकर शाश्वत शांति को पाने के लिए भौतिक सुख-सुविधाओं को छोड़कर आध्यात्मिक साधना में प्रवेश कर लिया और संयमी जीवन को स्वीकार करके साधना पथ पर आगे बढ़ गए। लेकिन आज क्या हो रहा है ? आज साधना तो कम, भौतिकता का आकर्षण ज्यादा बढ़ रहा है, जिससे स्थायी शांति मिल नहीं सकती।

प्राचीन युग में तो अध्ययन करने के लिए भी व्यक्ति २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य के पालन के साथ माता-पिता को छोड़कर गुरु के पास रहते थे। उसी प्रकार आन्तरिक साधना के लिए भी सम्पूर्ण निस्पृहता आवश्यक है। एक वार उद्दालक ऋषि के पास एक शिष्य शिखिध्वज आ गया। उसने साधना पथ पर आगे बढ़ने के लिए ऋषि से निवेदन किया तो उन्होंने एक साल उसे मंत्र दीक्षा देकर सादगी, ब्रह्मचर्य आदि के साथ रहने के लिए कहा। शिखिध्वज साल भर तक वैसे ही रहा। उसके बाद दूसरी बार उन्होंने उस शिष्य को अग्नि दीक्षा देने से पहले उसकी योग्यता को देखने के लिये अपने मंत्र के माध्यम से पारस-मणि उपस्थित की और जो पास में बैठे अर्थार्थी लोग थे, उन्हें लोहा लाने के लिये कहा। जब वे लेकर आए तो उन्होंने सारे लोहे को सोना बना दिया। यह देखकर वह जिज्ञासु शिखिध्वज सोचने लगा कि गुरु तो बहुत चमत्कारी

इनसे और कुछ नहीं, अगर पारस मणि ही प्राप्त हो जाय तो मैं बहुत कुछ जनता का उपकार कर सकता हूँ। उसने उद्दालक ऋषि से निवेदन किया—यह मणि मुझे दे दीजिये। तब गुरु ने सोचा अभी तक एक वर्ष साधना करने पर भी इसकी दृष्टि बाहरी तत्त्वों में ही उलझी हुई है। अतः इसे आन्तरिक साधना कराने के लिये पहले इसकी योग्यता देखना आवश्यक है।

उद्दालक ऋषि उसकी परीक्षा करने के लिये उसे अपने साथ में लेकर एक गाँव में एक घर पर पहुँचे। उस घर के भाई को कहा—हम एक रात रहना चाहते हैं। मेरे पास पारस मणि है। मैं तुम्हारा सारा लोहा सोना बना सकता हूँ। पर एक शर्त है कि तुम अपनी जवान कन्या को एक रात के लिये हमारे पास रख दो तो हम सोना बना सकते हैं। एक बार तो वह हिचकिचाया, लेकिन फिर वह तैयार हो गया। उसने अपनी कन्या उद्दालक ऋषि के पास भेजदी। उद्दालक ऋषि ने उस कन्या को कहा कि तुम्हारे पिता तो सम्पत्ति में उलझ गये पर तुम्हारे में तो सत्व होना चाहिये। तुम यहां क्यों आई? लड़की शरमा गई। ऋषि ने शुभाशीर्वाद देकर उसे वहां से विदा कर दिया। समीपस्थ शिष्य ने देखा—अरे! पारस मणि के साथ यह जवान कन्या भी मिलने वाली थी, लेकिन ऋषि ने जब उसे रवाना कर दिया तो वह उदास हो गया। ऋषि वहां से आगे बढ़े और एक सेठ के यहां पहुँचे। उसे कहा कि हम तुम्हारे यहां एक रात रहना चाहते हैं, तुम एक घण्टे में तुम्हारे पास जितना लोहा है, उतना ले आवो, मैं उसे सोना बना दूंगा। पर बाहर से नहीं लाना है। सेठ ने हां तो भर दी। पर नौकरों को आस-पास दौड़ाकर बाहर से भी नीति-अनीति से लोहा इकट्ठा करवा लिया। गुरुजी ने सेठ को समझाया कि तुमने अन्याय किया है, यह उपयुक्त नहीं है।

ऋषि वहां से आगे बढ़कर एक सम्राट के पास पहुँचे। और उसे कहा कि तुम्हारा सारा लोहा सोना बना सकता हूँ पर उसके लिये एक बालक की बलि देनी होगी। सम्राट आनन-फानन में एक बच्चे को पकड़कर उसकी बलि देने को तैयार हो गया। तब ऋषि ने समझाया—अरे! तुम प्रजापालक होकर सोने के पीछे एक अबोध बच्चे की बलि देने के लिये तैयार हो गये। क्या यही प्रजावत्सलता है? सम्राट वह होता है जो निर्दोष बच्चे के लिये अपना भण्डार खाली कर दे पर उसे बचाए। सम्राट को समझाकर ऋषि आगे बढ़ गये और एक ब्राह्मण के पास पहुँचे। उसे कहा कि तुम्हारा सारा लोहा सोना बना सकता हूँ पर तुम्हारे जितने शास्त्र हैं मेरे नाम पर करने होंगे। वह ब्राह्मण तैयार हो गया। देखिये बंधुओ! "सुवर्ण-मय-पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्" सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका जा सकता है। ये सब समझाते हुए ऋषि अपने आश्रम में पहुँचे एवं अपने शिष्य को समझाया—देखा! एक पारस मणि के पीछे कितना अनर्थ हो सकता है। यह मणि कभी भी शाश्वत शांति देने वाली नहीं है। शांति

के लिए अन्तरंग जीवन में प्रवेश करना होगा। भौतिकता से हटकर आध्यात्मिक साधना में प्रवेश करना होगा। जबकि आज तो उल्टा ही लग रहा है।

इन पर्युषण के दिनों में भी कितने पौषध आदि हो रहे हैं। इसका भी सर्वेक्षण करिये। जब मैं बहुत वर्षों पहले उदयपुर वर्षावास में था, तो वहां लगभग ७०० पौषध भाइयों में स्थानीय हुए थे। तो यहाँ घाटकोपर में ५००० स्थानीय घर बताते हैं तो कितनेक पौषध होते हैं। इस ओर ध्यान देना आवश्यक है। पौषध की साधना भी आत्मा की साधना है। भौतिकता से हटते हुए आध्यात्मिकता की साधना हैं। अतः आप घाटकोपरवासियों को भी इस ओर विशेष ध्यान देना है।

महाव्रतधारी साधु तो भौतिकता के प्रपंचों से सर्वथा हटकर अध्यात्म की साधना में लगे हुए हैं। ऐसे साधक भी अगर भौतिकता के प्रपंचों में उलझ जाए तो अध्यात्म की परिपूर्ण साधना नहीं कर सकेंगे। उस शिष्य को तो उद्दालक ऋषि मिल गये जिससे वह पुनः सजग हो गया था। पर ऐसे उद्दालक ऋषि उद्‌बोधन देने वाले विरल ही प्राप्त होते हैं। आप विचार करिये कि जब ५ महाव्रत धारी साधु आपके घर आते हैं तो आपको उन्हें आहार वहराने के लिए कितना ध्यान रखना होता है। लिलोतरी का स्पर्श न हो, अग्नि का स्पर्श न हो, कच्चे पानी का स्पर्श न हो, ताली न बजाएं, ऊपर से कोई वस्तु गिर न जाए—आदि-आदि अनेक नियम होते हैं। उनमें से यदि एक भी नियम का उल्लंघन हो जाए तो फिर क्या साधु आहार लेंगे? नहीं। तो वंधुओ! विचार करने की बात है कि जब छोटा-सा एक नियम भी टूट जाय, तो आप साधु को आहार नहीं दे सकते, तो फिर अग्नि की हिंसा करते हुए प्रतिक्रमण करें, व्याख्यान दें, परमात्मा की साधना करें, आत्मा की आलोचना करें तो आत्मिक शुद्धि होगी? कभी नहीं। क्योंकि अग्नि दीर्घ लोक शस्त्र है। इससे चलने वाला कोई भी शस्त्र क्यों न हो, वह बहुत घातक है। महा-हिंसा करने वाला है, अतः आत्म साधक को अध्यात्म साधना करने वाले को तो उससे परहेज ही रखना चाहिये।

आप एक तरफ तो सभी प्राणियों से "खामेमि सव्वे जीवा" के माध्यम से क्षमा याचना करें और उसी समय अग्नि-विद्युत् के माध्यम से छः काय के जीवों की हिंसा करें तो क्या यह सच्ची क्षमा याचना होगी? जैसे—एक व्यक्ति किसी को विजली के हंटर से मार रहा है, निरन्तर मार रहा है और दूसरी ओर क्षमायाचना करे तो क्या वह उसे माफ कर देगा? वल्कि यों कहेगा कि यह कैसा ढोंग है? एक तरफ तो मुझे मार रहा है और दूसरी तरफ माफी माँग रहा है। अगर माफी ही माँगनी है तो पहले हंटर मारना वंद कर। तो वंधुओ! जो व्यक्ति एक तरफ तो प्रतिक्रमण करता है। सभी प्राणियों को, सभी जीवों

की रक्षा के लिये उपदेश देता है और उसी समय अनन्त जीवों के प्राण हरने वाले विद्युत् के साधनों का उपयोग करता है तो यह कैसी क्षमा याचना होगी ? सिर्फ बाहरी प्रक्रिया मात्र ही रह जायगी । अतः आप लोगों को इन पर्युषण के दिनों में इस विषय में विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

वर्तमान का युग क्रान्ति का युग है । आपके खून में क्रान्ति करने का जोश है तो मैं कहता हूँ कि क्रान्ति करिये । पर क्रान्ति कैसी होनी चाहिये । पहले इसे समझ लीजिये । महात्मा गांधी ने जो क्रान्ति की वह अहिंसा से एवं मर्यादित रहकर की थी । जिसका व्यापक प्रभाव पड़ा था । वैसी ही क्रान्ति व्रतों की सुरक्षा के लिए हो न कि उसे तोड़ने के लिए । जो साधु वीतराग सिद्धान्तानुसार पाँच महाव्रत का पालन नहीं कर रहे हैं, तो उन्हें पालन करवाने के लिये क्रान्ति की जाय। यही सच्ची क्रान्ति होगी । किन्तु आधुनिकता के नाम से साधुओं को यदि व्रतों से अलग किया जाय, उसे लाउडस्पीकर, माइक्रोफोन में बोलने के लिये, प्लेन में यात्रा करने लिए, मर्यादाओं को तोड़ने के लिए प्रेरित किया गया तो यह सच्ची क्रान्ति नहीं होगी । आप घाटकोपरवासियों को समझना है और क्रान्ति को सही रूप में घटित करना है । क्रान्तद्रष्टा आचार्य श्री जवाहर की यह चातुर्मास भूमि रही है । अतः आपको तो इस विषय में विशेष ध्यान रखना चाहिये । साधुओं को व्रतों से नीचे गिराकर क्रान्ति न हो अपितु उन्हें व्रतों में सुरक्षित रखने के लिये क्रान्ति की जाय । महान् क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. ने ऐसी ही सच्ची क्रान्ति, संयम का दृढ़ता के साथ पालन करके, कर दिखायी थी । उसी का परिणाम है कि आज तक उनकी शासन परम्परा अबाध गति से चली आ रही है ।

पर्युषण के दिन आपको यह सब कुछ उपदेश दे रहे हैं एवं जीवन में उतारने के लिए प्रेरित कर रहे हैं । आज के मेरे कई भाई यह सोच बैठते हैं कि जैन दर्शन में बहुत सी बातें बतलायी हैं, पर ध्यान योग से सम्बन्धित बातें नहीं मिलती हैं । लेकिन मैं यह स्पष्ट कह देता हूँ कि जिनवाणी में ध्यान योग से सम्बन्धित जितनी गम्भीर एवं सरस विवेचना है शायद ही, वैसी तलस्पर्शी, आत्म-सम्बद्ध विवेचना आपको दूसरी जगह मिल पायेगी । पर आज के लोगों की दृष्टि तो बाहर की ओर लगी हुई है । अपने भीतर क्या है—इसे देखने के लिये वे प्रयास ही नहीं करते । ऐसी स्थिति में अपने वंश परम्परागत धर्म में आने वाली विशिष्ट ध्यान-साधना की ओर उनका ध्यान ही नहीं जा पा रहा है । उन बाहरी प्रयोगों से कभी भी शांति नहीं मिलने वाली है ।

प्रभु महावीर के साधकों का जीवन ध्यान योग का एक विशिष्ट आदर्श है । क्योंकि वीतराग अनुयायी साधक की प्रत्येक क्रिया सहजिक ध्यान योग के साथ होती है । जो उसके स्वयं के जीवन को संवारने के साथ अन्यों पर भी

विशिष्ट प्रभाव डालने वाली होती है। ऐसे साधकों के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिये। उन्हें कभी भी नीचे गिराने का प्रयास नहीं करना चाहिये, जैसे एक नगर के चेयरमैंन को मारना, एक दृष्टि से पूरे नगर को मारना कहा जा सकता है, एक राष्ट्र के प्रेसिडेन्ट को मारना पूरे राष्ट्र को मारना भी कहा जा सकता है, वैसे ही एक साधु को मारना। मारने से तात्पर्य उसे साधु जीवन से नीचे गिराना है, साधु को अपने व्रतों से गिराने वाला पूरे विश्व का घातक कहलाता है। क्योंकि साधु ने पूरे विश्व के जीवों की हिंसा का त्याग कर अहिंसा का पालन करने का व्रत ले रखा है। ऐसी स्थिति में उसके व्रतों को तुड़वाना जीवों की हिंसा करवाना है। अतः ऐसी हिंसा आप से न हो जाये इसका विशेष ध्यान रखें। साधु का अगर एक भी महाव्रत टूट जाता है तो उसके सभी महाव्रत टूट जाते हैं। साधु के महाव्रत अखण्डित रत्न की तरह होते हैं, उसका एक भी टुकड़ा टूट जाने पर वह पूरा काम का नहीं रहता। वैसे ही साधु के महाव्रत भी हैं। जो संघ प्रमुख वज्जू भाई यहां बैठे हैं, उनका भी एक लेख मुझे देखने को मिला है। उन्होंने भी लगभग कुछ ऐसा ही लिखा था कि जो साधु इन हिंसात्मक साधनों को काम में लेता है, वह फिर वन्दनीय कैसे हो सकता है ? भव्यात्माओ ! आप यहां कर्म धोने के लिये आते हैं, कर्म बाँधने के लिये नहीं। अतः यहां आकर ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये कि जिससे कर्मों का बंधन हो। छोटी से छोटी प्रवृत्ति भी आपकी अहिंसा से अनुप्रेरित होकर होनी चाहिये ताकि धर्म स्थान पर रहकर आप विशेष रूप से आत्म-शुद्धि कर सकें। यहाँ आकर भी प्रतिक्रमण आदि करने में हिंसाकारी साधनों को काम में लेते हैं तो फिर उस पाप को कहां धोएँगे ? ऐसे कार्यों से श्रमण संस्कृति की सुरक्षा नहीं होने वाली है। प्रतिक्रमण न सुनाई दे तो दो, तीन, पाँच, दस विभाग करके अलग-अलग प्रतिक्रमण कर सकते हैं पर सुनने के लिये हिंसाकारी साधनों को कभी काम में नहीं लेना चाहिये और न ही ऐसे हिंसाकारी साधनों में बोलने के लिए साधु को प्रेरित करना चाहिए। इन हिंसाकारी साधनों से श्रमण संस्कृति की सुरक्षा नहीं होने वाली है। भगवान् महावीर के सिद्धान्त अनुरूप श्रद्धान नहीं हो सकेगा। हिंसाकारी साधन में जहाँ कहीं बोला भी जा रहा हो तो उसे सामायिक में सुनना भी मर्यादा में नहीं आता है। आप लोगों को इस ओर विशेष ख्याल करना है। पर्युषण के दिनों में आप विशेष रूप से त्याग-प्रत्याख्यान लेकर चलें, जीवन को साधनामय बनावें।

आप भले ही मुझे मारवाड़ी साधु समझें, राजस्थानी समझें या अमुक सम्प्रदाय से आवद्ध समझें। पर मैं तो आप सबको अपनी आत्मा के तुल्य समझता हूँ। प्रभु महावीर के सिद्धान्तानुसार तो कोई भी प्रान्तीयता भेद होता नहीं है। उन्होंने तो पंच-महाव्रतधारी को, सुसाधु को सार्वभौम और विश्व का वताया है चाहे वह कहीं का भी क्यों न हो। अतः प्रान्तीयता भेद तो मन में

होना ही नहीं चाहिये । ऐसा प्रान्तीय भेद लेकर चलने वाले वीतराग वाणी के प्रतिकूल आचरण से कभी मिथ्यात्व की अवस्था में भी आ जाते हैं । प्रान्तीयता आदि भेद रखना यह सब बाहरी दृष्टि का परिणाम है । जब तक दृष्टि बाहर ही रहेगी तब तक भीतरी ज्ञान हो ही नहीं सकता । भीतरी ज्ञान पाने के लिये "आयतचक्खु लोगविपस्सी" की तरह चलने का प्रयास करें ।

आन्तरिक चक्षु को उद्घाटित करने के लिए आपके सामने इन दिनों में अन्तगड़ सूत्र के माध्यम से महापुरुषों का वर्णन आ रहा है । आप इसे ध्यान से सुनने का प्रयास करें ताकि उनका आदर्श भी आपको समझ में आ सके । इन दिनों में तो सभी को यहां दया पालकर सामायिक का भव्य प्रसंग उपस्थित करना चाहिये । देखिये, साधुमार्गी संघ के अध्यक्ष चुन्नीलालजी मेहता आए हैं, पर सामायिक नहीं की है ।[1] अरे ! मैं इनको क्या कहूँ ? आप जो दूर बैठने वाले खुले मुँह बैठे हैं, उन सभी को मेरा कहना है कि आप सभी सामायिक करके साधना में आगे बढ़ें । सामायिक का भव्य प्रसंग उपस्थित करें ताकि आने वाले जैनेतर भाई-बहिनों पर प्रभु महावीर के शासन का एक अनूठा प्रभाव पड़ सके उपाश्रय में आते हैं, प्रवचन सुनते हैं तो सामायिक करके सुनें तो दुहरा लाभ हो सकता है । मैं तो अपने कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से कह देता हूं पर करना या नहीं करना यह आपके ऊपर निर्भर है । आप भी अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए सर्वांगीण विकास की ओर बढ़ने का प्रयास करें ।

टाइम आपका ग्यारह के लगभग आ चुका है । अब मैं विशेष नहीं बोलता हुआ यही संकेत देता हूँ कि जैसे घड़ी अन्दर की मशीन से चलती है अतः उसकी अन्दर की मशीन को ठीक रखना पड़ता है, वैसे ही आपका शरीर भीतरी चैतन्य देव की शक्ति से चल रहा है । अतः चैतन्य देव के गुणों को सुरक्षित रखने का प्रयास करना आवश्यक है, उसके लिये यह सुन्दर अवसर आ गया है । आप भीतर में झांकें, उसे स्वच्छ बनाने के लिये इन आठ दिनों में आध्यात्मिक साधना में गति करें ।

मोटा उपाश्रय, घाटकोपर, बम्बई — १३-८-८५ मंगलवार

१—मेहताजी गुरुदेव का संकेत पाकर अगले दिन से सामायिक में बैठ गये ।

४५

विचारों को परिष्कृत करें

[पर्यु षण पर्व—द्वितीय दिवस]

वीतराग देव की देशना की विवेचना का प्रसंग पर्यु षण के माध्यम से घाटकोपर में चल रहा है। तीर्थंकर महाप्रभु ने भव्यों के कल्याण हेतु जिन बातों को उपयोगी समझा, उसका वर्णन कर दिया है। फिलहाल उन सभी शास्त्रों का वर्तमान में उल्लेख करने का प्रसंग नहीं है। किन्तु जो अन्तगड़दशाङ्ग सूत्र है, उसमें भी इतना सार भरा है कि वह व्यक्ति के प्रत्येक व्यावहारिक जीवन पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डालता है।

शास्त्र श्रवण के माध्यम से अपनी आत्मा को पवित्र बनाने के लिये मन को अपने अंडर-वश में करना होगा। जिस प्रकार कार का ड्राइवर कार को, मालिक की आज्ञा के अनुसार चलाता है उसी प्रकार इस शरीर रूपी कार का मालिक यदि आत्मा है तो उसका ड्राइवर मन है। मन को आत्मा के स्वामित्व में चलना होता है। यदि आत्मा अपने स्वामित्व को न समझे और मन को वश में नहीं रखती है तो वह मन स्वच्छंद रूप से भागता हुआ, एक्सीडेंट की तरह उस आत्मा को भव-परंपरा के अंधकूप में पटक देता है।

आत्मा को, शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने के लिए मन को समझना एवं उसे आत्मा के तन्त्र में करना आवश्यक है। कई लोग यह शिकायत करते हैं कि मन हमारे वश में नहीं रहता है। लेकिन वे आत्मा एवं मन के ही स्वरूप को नहीं समझ पा रहे हैं। इसलिये मन उनके तन्त्र में नहीं चल रहा है। अन्तगड़ सूत्र के माध्यम से मन को वश में करने की बात भी स्पष्ट हो जाती है। आप विद्वद्वर्य मुनि श्री से अब तक अन्तगड़ सूत्र गत कई महापुरुषों का वर्णन श्रवण कर चुके हैं। लेकिन श्रवण करने के साथ ही उस पर चिन्तन-मनन करना आवश्यक है। जब तक चिन्तन-मनन की स्थिति नहीं बनती है, तब तक शास्त्र का नवनीत नहीं पाया जा सकता, और बिना नवनीत के आत्म पुष्टि नहीं होती। अभी आपने शास्त्र के माध्यम से देवकी महारानी के विषय में भी सुना। देवकी महारानी किस प्रकार से धर्मनिष्ठा और कर्तव्यनिष्ठा को लेकर चल रही है। यह शास्त्रीय वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे गुणों के कारण ही देवकी महारानी का वर्णन प्रसंगवश शास्त्र में आया है। इस वर्णन से प्रत्येक महिला को अपनी कर्तव्यनिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा को समझना चाहिये। जब तक व्यक्ति कर्तव्य का पालन रूप से नहीं कर पाता है, तब तक वह धर्म का पालन भी नहीं कर .।

के पालन के लिए कर्तव्य का पालन पहले आवश्यक है। जब व्यक्ति सही ढंग से कर्तव्य का पालन करता है तो उसके मन में उठने वाली अनुचित बातें एवं स्वच्छन्दता आपेक्षित रूप से शान्त हो जाती है उनकी उपशान्ति के बाद धर्माचरण में मन तन्मय बन जाता है। यदि घर में संघर्ष करके व्यक्ति यहाँ आया है तो उसमें कर्तव्यनिष्ठा नहीं है। ऐसा व्यक्ति क्यों न यहाँ सामायिक करके बैठ जाय, पर उसका मन धर्म में नहीं लग सकता। अत: कर्तव्यनिष्ठा को समझना आवश्यक है।

कर्तव्यों के पालन में महिलाओं की तरह पुरुषों को भी अपनी कर्तव्यनिष्ठा की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह कर्तव्यनिष्ठा आज के सिनेमा घरों में, टेलीविजन में या बाह्यादि माध्यम से मिलने वाली नहीं है। उसके लिए वीतराग महापुरुषों की वाणी का श्रवण एव अध्ययन आवश्यक है। उसी के माध्यम से अपनी कर्तव्यनिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा का बोध प्राप्त कर सकते हैं। जीवन को शांतिमय एवं सुखमय बना सकते हैं। आज तो कुछ विपरीत सा ही देखने को मिलता है और फिर भौतिकता से रंगीन इस बम्बई नगरी का तो कहना ही क्या ? जहाँ न मालूम कितने सिनेमा घर होंगे ? अब तो घर-घर भी सिनेमा घर बन रहे हैं। **वीडियो** मशीन के माध्यम से घर बैठे किसी भी प्रकार के पिक्चर की **कैसेट** लगाकर सिनेमा देख लिया जाता है। आज का व्यक्ति विलासिता में कितना अधिक डूब रहा है। यह तो बम्बई नगरी के लोगों का सर्वेक्षण किया जाय तो स्पष्ट हो सकता है। बन्धुओ ! इसलिए इस भौतिकता में निमग्न होने से आज के भौतिकवादी शाश्वत शांति का अनुभव नहीं पा रहे हैं। जब तक व्यक्ति भौतिकता की चार-दीवारी में ही भटकता रहेगा, तब तक वह अध्यात्म की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। चार दीवारी का तात्पर्य है— जन्म लेना, खेलना-कूदना, कुछ पढ़ लेना, विवाह कर लेना, पैसा कमा लेना आदि बातों की ओर व्यक्ति का अधिकांश लक्ष्य होता है। ऐसी चार दीवारी में भटकने वाले पुरुष या नारी जीवन को परिष्कृत नहीं कर सकते। जब तक पुरुष एवं नारी का जीवन विशुद्ध नहीं होगा, तब तक उनकी संतति का जीवन भी शुद्ध नहीं हो सकता। टंकी में यदि जहर मिला है तो नल से भी विष मिश्रित ही पानी आएगा। ठीक इसी प्रकार जैसा माता-पिताओं का जीवन होगा, उसका प्रभाव संतान पर अवश्य पड़ेगा। माता-पिता के विचारों का प्रभाव भी संतति पर अवश्य पड़ता है। अभी आप मुनि श्री के द्वारा फॉरेन की घटना सुन गए कि गर्भाधान के समय उस बहिन के मन में हब्सी का चित्र आ जाने मात्र से उसका प्रभाव पड़ा कि बच्चा हब्सी हो गया। जब बच्चे पर भी ऐसा प्रभाव पड़ सकता है तो फिर उन विचारों का स्वयं की आत्मा पर कैसा प्रभाव पड़ता होगा, यह विचार करने की बात है। इसीलिए शास्त्रकारों ने विचारों का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट रूप से बतलाया है कि बच्चे के जीवन को और अपने आपके जीवन को

परिष्कृत एवं शान्तिमय बनाना है तो विचारों का परिष्कार अत्यन्त आवश्यक है।

बन्धुओ ! वैसे मैं गत दिन से हिन्दी में ही बोल रहा हूँ। क्योंकि कुछ हिन्दी के अभ्यासी भाई भी उपस्थित हैं और दूसरी बात मुझे यहां के लोगों ने हिन्दी में बोलने के लिए संकेत किया था, उनका भी कहना है कि यहाँ के घाट-कोपर निवासी हिन्दी में प्रायः समझ लेते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए मैं हिन्दी में ही आपको समझाने का प्रयास कर रहा हूँ। यदि आपको कुछ भी वाक्य समझ में नहीं आवे तो आप स्पष्ट रूप से पूछ सकते हैं। तो बन्धुओ ! मैं आपको समझा रहा था कि कर्तव्यनिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा को जीवन में उतारने के लिए विचारों का परिष्कार आवश्यक है। यदि अपनी संतति को सुधारना है, उसे नैतिक एवं चरित्रवान बनाना है तो महिलाएँ बहुत ही सुन्दर ढंग से उन्हें बना सकती हैं। लेकिन माताओं को अपने कर्तव्यों को समझना आवश्यक है और विचारों में परिष्कार लाना आवश्यक है।

देवकी महारानी ने यद्यपि बच्चों को जन्म ही दिया था, पालन नहीं किया था तथापि गर्भावस्था में भी उसके विचार इतने संयमित रहते थे कि बच्चे पर उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था। वैदिक साहित्य में मदालसा महारानी का वर्णन आता है कि मदालसा महारानी ने अपनी इच्छानुसार पुत्रों को शिक्षा देती हुई उन्हें आध्यात्मिक पथ पर बढ़ाकर महिलाओं के समक्ष एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित कर दिया। मदालसा अपने बच्चे का जब पालन करके हालरिया देती थी, तब भी यही भावना एवं शब्दों का उच्चारण करती थी—

"सिद्धोसि, बुद्धोसि, निरंजनोसि, संसार माया परिवर्जितोसि
संसार स्वप्नं तज मोह निद्रां, मदालसा वाक्य मुवाच पुत्र ! ॥"

हे पुत्र ! तुम आत्मा के मौलिक स्वरूप से सिद्ध हो, बुद्ध हो, मुक्त हो, निरंजन हो, संसार माया से परिवर्जित हो। अतः हे पुत्र ! संसार को स्वप्नमय समझ कर उसे छोड़ते हुए आत्म साधना में रमण करो। ये मदालसा के वाक्य हैं। ये गहरे संस्कार पुत्रों पर पड़ते और वे आगे बढ़ते ही दीक्षित हो जाते। यह देखकर सम्राट ने कहा—मदालसा तुम यह क्या कर रही हो, मेरा राज्य कौन सम्भालेगा ? तब मदालसा ने कहा कि अबकी बार जो पुत्र होगा, वह आपका राज्य भी सम्भालेगा और बाद में संयम लेकर आत्म कल्याण भी कर हुआ भी वैसा ही। मदालसा की तरह, शास्त्रों में धारिणी का वर्णन है। उस प्रसंग से कहा कि गर्भावस्था में महिला को विकारी विचार चाहिये। अधिक तीखा, कड़वादि भी नहीं खाना चाहिए, क्योंकि जीव पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो

बच्चे पर माता के विचार, उच्चारण एवं आचरण का कितना प्रभाव पड़ता है ?

वर्तमान युग को देखते हुए यह विषय गहरा विचारणीय बन चुका है। आज कई माता-पिताओं का जीवन किस विलासिता में व्यतीत हो रहा है। राग, द्वेष, मद, मोह की परिणतियां कितनी तेजी से बढ़ रही हैं। वे लोग कितने रागान्ध हो रहे हैं। लेकिन यह नहीं सोच पा रहे हैं कि इसका कितना भयंकर घातक प्रभाव सामने आ रहा है। आज बच्चा जन्म लेने के साथ ही भौतिकता में डूबा नजर आता है, कुछ बड़ा होने के साथ गलत एवं विकारी प्रवृत्तियों में घिरा परिलक्षित होता है। माता-पिताओं का अपमान कर देता है। उनकी बात को नहीं मानता है। इन सबका मूल कारण है, माता पिताओं के दूषित विचार एवं दूषित आचरण। जब तक माता-पिता के जीवन में परिष्कार नहीं आएगा, तब तक पारिवारिक जीवन सात्विक नहीं बन सकता। महिलाओं के जीवन में यदि कर्तव्यनिष्ठा आ जाती है तो वे परिवार के जीवन को सुधार सकती हैं। इन माताओं को कभी कुम्भकार और प्रजापति की उपमा दी है। यदि ये चाहें तो दुनिया की दुर्नीति को बदल सकती हैं, अनीति को हटा सकती हैं। ये बहिनें अपने कर्तव्यों के अनुसार चलें तो बड़े-बड़े ऑफिसरों के दिमाग भी ठीक कर सकती हैं। इसके लिए मैं आपको एक उदाहरण दे देता हूँ।

एक बहुत बड़े वकील थे, जिनकी प्रतिभा बहुत तीक्ष्ण थी। मुकदमों में किस प्रकार दाव पेच करके अपने पक्ष को जिताना वे अच्छी तरह जानते थे। गलत केस भी उनके हाथों आ जाता तो वे उसे भी अपने बुद्धिबल के द्वारा न्यायालय में सही प्रमाणित कर देते। एक बार की घटना है कि उनके पास एक ऐसा केस आया कि एक भाई को सामने वाले व्यक्ति को पचास हजार रुपये देने थे और वह देने की स्थिति में नहीं था, सामने वाले ने उस पर केस (दावा) कर दिया, उस व्यक्ति ने भी अपने पक्ष को रखने के लिए इन वकील सा. को अपना वकील बना लिया। वकील सा. यह अच्छी तरह जानते थे कि जिसका केस मैंने लिया है, उसे सामने वाले व्यक्ति को पचास हजार रुपये देने हैं, किन्तु केस जब वकील सा. ने अपने हाथ में लिया तो ऐसे झूठे केस को भी जिताने के लिए, लगाने लगे अपनी बुद्धि की दौड़। आखिर बुद्धि ने कमाल दिखाया। एक के बाद एक तर्क कोर्ट में पेश करने लगे। आखिर उन्होंने अपने पक्ष को जिता ही दिया। जिताया ही नहीं अपितु जिसको उसे पचास हजार रुपये देने थे, उसे देने की बात दूर रही, उससे पचास हजार रुपये लेने निकलवा दिये। देखिये आज के कोर्ट का न्याय। जहाँ दूध का दूध और पानी का पानी होना चाहिये, वहाँ ऐसे वकीलों के परिणामस्वरूप आज कैसे अन्धकारमय निर्णय सामने आते हैं, जहाँ दुःख का मारा व्यक्ति अपना न्याय लेने के लिए न्यायालय में आये और उसकी ऐसी स्थिति बने तो उसके दिल पर क्या बीतती है ? आज तो कई सुज्ञ व्यक्ति अपनी

हानि सहन कर लेते हैं, किन्तु कोर्ट में लड़ने नहीं जाते। वकील साहब तो केस जीत लेने के कारण बहुत प्रसन्न हो रहे थे, मन ही मन फूले नहीं समा रहे थे। जीत की खुशी में उन्मत्त होते हुए वे घर पर पहुँचे। भोजन करने के लिए बैठे ही थे कि उनकी धर्मपत्नी भोजन परोस रही थी, इतने में ही जिस पक्ष को उन्होंने जिताया था उस पक्ष का व्यक्ति अत्यन्त खुश होता हुआ वहाँ आ पहुँचा और दस हजार रुपये के नोट वकील साहब को लेने के लिए आग्रह करने लगा। वकील सा. समझ गये, मैंने इसके पक्ष को जिताया, उसी के फलस्वरूप यह दस हजार रुपये देने का आग्रह कर रहा है, लेकिन मेरे इस बुद्धि के चमत्कार को मेरी पत्नी कैसे जानेगी ? मैं अपने मुँह से कहूँ, इसकी अपेक्षा इसके मुँह से ही कहलाऊँ तो ज्यादा अच्छा होगा। यह सोच कर वकील सा. तिरछी नजर से देखते हुए बोले "यह रुपये किस बात के हैं ?" इस पर वह व्यक्ति हाथ जोड़कर विनम्रता के साथ बोला—वकील सा. यह रुपये आपके बुद्धिबल के चमत्कार के परिणाम हैं। आपने कोर्ट में वह चमत्कार दिखाया कि जिससे मेरा असत्य पक्ष भी सही साबित हो गया। मुझे जो सामने वाले व्यक्ति के पचास हजार रुपये देने थे, उसके बदले आपने पचास हजार रुपये और दिलवाए, इस प्रकार मुझे एक लाख रुपये की आमदनी करवादी। इतने रुपए तो मैं नहीं दे सकता, किन्तु आपकी फीस के दस हजार रुपए दे रहा हूँ।

वकील सा. सोच रहे थे कि इस व्यक्ति की बात सुनकर मेरी पत्नी बहुत खुश होगी और कहेगी कि बहुत अच्छा किया आपने, मैं आपकी बुद्धि की दाद देती हूँ, अब मेरे बहुत जेवर और पोशाक बन जाएंगे, अपने ही विचारों में खोए वकील सा. ने ज्योंही अपनी धर्मपत्नी की ओर देखा तो उनके विचारों पर कुठाराघात हो गया। उनकी सारी भावनाओं पर पानी फिर गया। पत्नी के खुश होने की बात तो दूर रही। उसकी आँखों से धर-धर आँसू आ रहे थे।

वकील सा. की तो सारी प्रसन्नता ही कहीं गायब हो गई। वे सहमते हुए पत्नी से बोले– अरे, तुम रो क्यों रही हो ? लो ये दस हजार रुपए मैं तुम्हें देता हूँ, इससे तुम जो चाहो सो बनवा लेना। इसके अतिरिक्त भी जो तुम्हारी इच्छा होगी सो भी पूरी कर दूंगा, लेकिन तुम रोती क्यों हो ?

पत्नी का रोना इसलिए तो था नहीं कि उसे रुपए चाहिए, उसकी आत्मा तो इसलिए कराह रही थी कि अहो ! कितना घोर अन्याय हो रहा है। जिस कोर्ट से न्याय की अपेक्षा रखी जाती है, उसी कोर्ट में यह घोरतम अन्याय और वह भी मेरे पति द्वारा, तुच्छ रुपयों के लिए। वह बोल उठी पति से। मुझे नहीं चाहिए ऐसा रुपया और न ही मुझे ऐसी कोई भी फैशनेबल साड़ी या जेवर ही चाहिए। मैं एक पोशाक से भी अपनी गुजर कर सकती हूँ। किन्तु मुझे अनीति का एक पैसा भी नहीं चाहिए। ईमानदारी का तकाजा था कि आप इस व्यक्ति

से पचास हजार रुपए सामने वाले को दिलवा कर सही इन्साफ करवाते । लेकिन आपने पचास हजार रुपए उसे दिलवाने की बात तो दूर रही बल्कि पचास हजार रुपए उससे और निकलवा लिए, क्या आपने सोचा कि जिसके एक लाख का घाटा हुआ उसका कितना कलेजा टूटा होगा ? कलम और बुद्धि से होने वाली कितनी क्रूर हिंसा है यहां । ऐसे कृत्यों से भारी कर्मों का बन्धन होता है ।

मैं आपकी धर्मपत्नी और आप मेरे पति हैं । अतः मेरे पति ऐसे हिंसाकारी कार्यों से उपरत होकर ऊपर उठें । न्याय और नीति से वित्तोपार्जन करें । जिससे यह जीवन भी सुखी बने और पर जीवन भी सुखमय बन सके । अतः मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आप इस प्रकार के अनीतिपूर्ण कार्यों को छोड़ें । ऐसे धन की अपेक्षा सीधा और सात्विक जीवन जीना बहुत उत्तम है ।

पत्नी की मानवीय भावना और आध्यात्मिक जीवन का प्रभाव वकील साहब पर भी गहरा पड़ा । वे भी सोचने लगे—जब मेरी पत्नी भी अनीतिपूर्ण धन को नहीं चाहती है तो फिर इसे रखकर क्या करना है ?

वकील सा. ने उस भाई से कहा—यह रुपए तुम वापस ले जाओ । मेरी पत्नी इस प्रकार के अनीतिपूर्ण धन को रखना बिल्कुल पसन्द नहीं करती । तुम्हें भी जो पचास हजार रुपए आए हैं, उन्हें तो वापस सामने वाले व्यक्ति को देने ही पड़ेंगे ।

देखिये ! बहिन की धार्मिक भावना—समीक्षण दृष्टि के अभ्यास ने क्या चमत्कार दिखाया ।

देखिए बन्धुओ ! एक नारी का जीवन । वकील सा. की धर्मपत्नी ने किस प्रकार वकील सा. का जीवन बदल दिया । नारी में वह शक्ति है कि जो पारिवारिक जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन ला सकती है, लेकिन यदि नारी ही विलासिता में फंसी हुई है तो वह दूसरे के जीवन को कैसे बदल सकती है ? आज तो पति को नीति की शिक्षा देने की बात तो दूर रही । वे तो यही सोचती हैं कि पति नीति से कमायें या अनीति से कमायें पर उसे तो गहने चाहिए, फैशनेबल साड़ी चाहिए, इम्पोर्टेड गाड़ी चाहिए, सुन्दर बाड़ी चाहिए, न मालूम क्या-क्या मांग होती हैं, उनकी ये तो आप ही जान सकते हैं । ऐसी नारियाँ न अपना हित कर सकती हैं, न परिवार का हित कर सकती हैं । ऐसी बहिनों को अन्तगड़ सूत्र गत देवकी महारानी के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए । सबसे पहले वह अपने जीवन को सुधारे और फिर परिवार के जीवन को । बहनों में यदि जोश आ जाय तो वह भाइयों को नीतिमय बना सकती हैं । उन्हें सामायिक, प्रतिक्रमणादि में लगा सकती हैं । क्योंकि आज देखा जाता है कि पुरुष लोग औरों की बात मानें या न मानें पर धर्मपत्नी की बात तो उन्हें (प्रायः) माननी ही पड़ती हैं ।

नारी शक्ति अगर केन्द्रित होकर सही दिशा में आगे बढ़े तो व्यक्ति-व्यक्ति को बदलती हुई सारी दुनिया को बदल सकती है । शास्त्रों में देवकी महारानी का वर्णन आता है कि वह मुनिराजों को किस प्रकार भक्ति भाव से वन्दना करती है और उन्हें प्रतिलाभित करती है । यहाँ पर भी भाई-बहिनों को शिक्षा लेनी चाहिए कि अगर घर में अशनादिक प्रासुक नहीं है तो वे संत-मुनिराजों को कैसे प्रतिलाभित करेंगे ? बतलाइए आपकी यह बम्बई नगरी बड़ी है या द्वारिका नगरी ? जन आवाज है कि द्वारिका नगरी । तो देखिये वहाँ के लोगों में, महारानी आदि सभी में कितना विवेक था । आप सभी में भी ऐसे विवेक का भव्य प्रसंग उपस्थित होना चाहिए । वैसे घाटकोपर-वासियों में कइयों में विवेक की स्थिति परिलक्षित होती है । घरो में भी सुलभता से धोवन पानी आदि मिल जाता है । अभी जब सुबह मैं जंगल से आ रहा था तब एक बहिन कह रही थी कि मेरे यहाँ धोवन पानी भी है, पधारिये ।

बन्धुओ ! यह तो विवेक है, संत मुनिराज व्याख्यान के पश्चात घरों में से सहज सुलभ प्रासुक मिलने वाला धोवन पानी लेकर आते हैं । धोवन पानी तो घर-घर सहज रूप से बनता है, विवेक रखने वाला चाहिए । केवल राख का पानी ही आवश्यक नहीं है । चावल का पानी, दाल का धोया हुआ पानी, कठौती का धोया पानी, दाख का धोया पानी भी साधु के उपयोग में आ सकता है । यहां पर संत मुनिराज ऐसा पानी भी लाते हैं । यहाँ संत नौ एवं महासतियाँजी बाहर से आने वाली पन्द्रह हैं तथापि आहार पानी घरों में सहज प्रासुक मिल जाता है । वैसे भी घाटकोपर में **पांच हजार** घर बतलाते हैं । व्याख्यान उठने के बाद संत-सती आहार पानी लेने के लिए दूर-दूर जाते हैं और घरों से प्रासुक आहार-पानी लाते हैं । गोचरी कभी-कभी एक या डेढ़ बजे भी आती है ।

भीड़ भाड़ की दृष्टि से भी देखा जाय तो, यद्यपि घाटकोपर बम्बई का एक अंग है, तथापि घाटकोपर में जितनी भीड़ भाड़ नहीं दिखती है, उससे ज्यादा भीड़ शोरगुल जयपुर, उदयपुर जैसे शहरों में देखने को मिलती है । जंगल की दृष्टि से भी पूरी सुविधा है । जब मैं पूर्व में आया था तब भी यहाँ रहा था । उस समय ही मैंने यहाँ जंगल देख लिया था, प्रासुक जगह मिल जाती है । परठने-परठाने के लिए भी थोड़ी दूरी पर स्थान मिल जाता है । साधु मर्यादा में दोष लगे, ऐसा किंचित् भी कारण परिलक्षित नहीं होता । उपाश्रय की कल्पनीय-अकल्पनीय विधि जब आपको बतलाई गई तो आप सुज्ञों ने उसे भी कल्पनीय बना दिया । बोरीवली में भी जंगलादि की पूरी सुविधा थी ही और यहाँ पर भी है । मैं बम्बई के कई उपनगरों में भी गया, वहाँ भी बाहर जाने की सुविधाएँ हैं । वालकेश्वर में तो पास में थोड़ी दूरी पर ही वैसे ही अन्यान्य उपनगरों में भी जंगल जाने को स्थान मिल गया था । भी घरों में गवेषणा करने पर एषणीय मिल जाता है ।

कई उपनगरों में साधु जीवन के पूर्ण पालन की स्थिति नहीं होने से वहाँ मैं नहीं गया। माटुंगा में मैंने सुना था कि वहाँ जंगल का स्थान नहीं है, तो मेरी जाने की भावना कम हो गई थी क्योंकि जहाँ संयम का पालन सुरक्षित रूप से न हो वहाँ साधु को नहीं जाना चाहिए। **दूसरों को लाभ देने के पहले स्वयं के जीवन को सुरक्षित रखना आवश्यक है।** इधर माटुंगा के लोग अति आग्रह कर रहे थे तो मैं एक दिन के लिए वहाँ जाने का विचार करके पहुँचा और वहाँ जंगल की गवेषणा की तो थोड़ी ही दूरी पर प्रासुक जंगल मिल गया। मैंने इस बात का जिक्र जिन लोगों के समक्ष किया तो उन्हें भी आश्चर्य हुआ कि यहां कहां जंगल है ? हमने तो अब तक देखा ही नहीं ? मनसुखभाई और मासुखभाई तो बोले--हम भी आपके साथ चलकर जंगल देख लेते हैं ताकि पौषध में हम भी वहाँ जा सकें। वे भी साथ चले और उन्होंने भी जंगल देखा तो आश्चर्यचकित हो गये। वैसे ही अंधेरी आदि क्षेत्रों में भी जंगलादि की सुविधाएँ हैं। कहीं-कहीं उपाश्रयों में अकल्पनीय स्थिति नजर आई तो मैंने वहाँ के प्रमुखों को सूचित किया कि हमें यहाँ नहीं कल्पता है तो उन्होंने तुरन्त कल्पनीय स्थिति बनाई। कान्दीवली, मलाड़ आदि अनेक स्थलों पर ऐसा हुआ भी है।

इन सब बातों को देखते हुए यह सुस्पष्ट हो जाता है कि बम्बई में आकर यदि साधु चुस्त संयम का पालन करना चाहता है तो वह कर सकता है और यदि वही ढीला-शिथिल हो जाय तो उसका क्या उपाय है ? उसका दोष इसे नहीं दिया जा सकता। मैं तो वैसे भी यहां इलाज के लिए आया था और डॉक्टर को दिखलाने के बाद यहाँ से जाने की सोच रहा था. पर घाटकोपर-वासियों के आग्रह से एवं यहां साधु मर्यादा में कोई दोष नहीं लगेगा. ऐसी आपने खातिरी भी करवाई थी और कहा था कि हम आपके व्याख्यान में चंदा चिट्ठा भी इकट्ठा नहीं करेंगे। जिनवाणी के कल्पानुसार आप जैसा फरमा रहे हैं, वैसा ही करेंगे। इस प्रकार आपके द्वारा कहने पर ही यहां चातुर्मास का प्रसंग उपस्थित हुआ है। और आप देख ही रहे हैं, संत सतीवर्ग किस प्रकार की संयमीय मर्यादाओं को विशुद्धता के साथ लेकर चल रहे हैं।

मैं सौराष्ट्र में भी अनेक गांवों-शहरों में घूमा, वहां पर भी एक बार तो प्रासुक पानी लाने के लिए अनेक कठिनाइयां सामने आईं, लेकिन संत धैर्यता के साथ आगे बढ़ते गए। जगह-जगह गृहस्थों को प्रासुक पानी का स्वरूप समझाया तो फिर वहाँ भी प्रासुक पानी सहज सुलभ हो गया, यह तो संतों का विवेक होना चाहिये। बिना आलस्य करते हुए वे अगर गवेषणा करते हैं तो प्रासुक आहार, पानी, जंगल का स्थान प्राप्त हो सकता है। तो मैं बतला रहा था कि देवकी महारानी के द्वार पर जब प्रथम सिंघाड़ा पहुँचा तो उसने उन्हें अत्यन्त भाव-भक्ति के साथ प्रतिलाभित किया। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे सिंघाड़े को भी प्रतिलाभित किया। फिर उसके मन में जो जिज्ञासा उठी, उसका समाधान पाने हेतु उन्हें निवेदन किया और जिज्ञासा का समाधान पाया।

यहां पर भी भव्यात्माओ ! विचार करिये कि जिसके प्रति देवकी के मन में जिज्ञासा उठी, वह उन्हीं से समाधान चाह रही है। ऐसा नहीं कि मन में उठी शंका को मन में ही रखकर इधर-उधर फैलाते हुए, वातावरण दूषित करे। आज के बहुत से भाई ऐसे भी हैं, जो कई प्रकार की गलत शंकाएं मन में करके बैठे रहते हैं। जिसके प्रति शंका है उससे तो पूछते नहीं और बात का बतंगड़ बनाते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति आत्म-कल्याण कैसे कर सकते हैं? सामने कुछ भी न कहकर पीठ पीछे किसी की निन्दा या अन्यथा कथन करने वाला सच्चा धार्मिक नहीं हो सकता।

मैं तो स्पष्ट रूप से आह्वान करता हूँ कि आप मेरे या इस शासन में चलने वाले किसी भी साधु-साध्वी में किसी भी प्रकार का दोष देखे तो खुले रूप में कहें, मैं उससे नाराज नहीं होऊंगा, बल्कि और अधिक खुश होऊंगा। यदि साधु-साध्वी में दोष होगा तो उन्हें प्रायश्चित देकर शुद्धिकरण कर दिया जाएगा और यदि नहीं होगा तो आपकी भ्रान्ति का स्पष्टीकरण हो जाएगा। आप अपने मन में कोई बात नहीं रखें। साफ-साफ बतलाइये। देवकी महारानी की तरह समाधान ले लीजिये। जो व्यक्ति समाधान नहीं लेता है तो वह भ्रान्ति में ही अपने विचारों को दूषित करता हुआ, अमूल्य जीवन को सार्थक नहीं कर पाता। इसके लिए एक उदाहरण है।

एक गाँव में कुछ संत मुनिराज आ रहे थे, उनके सामने कई श्रावक अगवानी करने हेतु जा रहे थे। उन श्रावकों ने, सामने आने वाले एक किसान से पूछा कि मुँह पर कपड़ा बांधने वाले महाराज को क्या तुमने देखा है? तो वह बोला—हाँ साहब देखा है, वे नदी में बैठे पानी पी रहे थे।

जब श्रावकों ने यह सुना तो वे शंकाशील हो गए, अरे, साधु होकर नदी का कच्चा पानी पीते हैं, नहीं वे साधु नहीं हो सकते। गए थे अगवानी करने, पर बिना साधुओं की अगवानी किए, सभी अपने-अपने घर या स्थानक चले गये। मुनिराज सभी वैसे ही उपाश्रय में पहुँच गए तो वहां देखा कि श्रावकों का व्यवहार बहुत रूखा-सूखा नजर आ रहा है, क्या बात है? इनमें क्या शंका है? आखिर खोज की, पूछा तो एक श्रावक ने सारी बात बतला दी।

मुनिराज, समझ गए, उन्होंने उस किसान को बुलाकर पूछा—भाई! तुमने हमें देखा? तो वह बोला—हाँ साहब देखा। कहाँ देखा, तो वह बोला नदी में आप पानी पी रहे थे तब देखा। यह सुनकर श्रावक बोल उठे कि सुन लीजिये, यह साफ बतला रहा है। आप नदी में पानी पी रहे थे। इस पर भी मुनिराज उत्तेजित नहीं हुए और बोले कि भाई-बताओ हम पानी किससे पी रहे थे। तब वह बोला - ओ महाराज! आपके पास जो लकड़ी का बर्तन है ना। उसमें जो पानी था वही पी रहे थे, तो महाराज बोले—नदी का तो पानी नहीं पी रहे?

तो वह बोला—महाराज, आप कैसी बात करते हैं। नदी में तो एक बून्द भी पानी नहीं है, वह तो सूखी है। यह सुन सभी श्रावकों का स्पष्टीकरण हो गया और वे पूर्ववत् श्रद्धा भक्ति करने लगे।

बन्धुओ, यह तो एक रूपक है। इससे शिक्षा लेना है कि आप किसी भी प्रकार की शंका मन में न रखें, विचारों को दूषित न बनावें।

इन परम पवित्र दिवसों में सभी शंकाओं का समाधान पाकर निःशंक बनें। जिसके प्रति शंका हो, उसी से पूछलें, अन्य जगह निन्दा करके कर्मों को न बांधें। इस दिव्य सूत्र से प्रेरणा मिल रही है, उसे ग्रहण करें।

"संशयात्मा विनश्यति"

जो व्यक्ति संशय रखता है, उसका समाधान नहीं करता है तो नीतिकार भी कहते हैं कि उस आत्मा का कल्याण नहीं होता। जो भी आत्मा कर्तव्यनिष्ठ बनती हुई, अपनी भ्रान्तियों को हटाकर, विचारों को परिष्कृत करती हुई आगे बढ़ेगी तो उसका कल्याण होगा।

मोटा उपाश्रय, १४-८-८५
घाटकोपर, बम्बई बुधवार



४६

स्वतंत्रता : ऊपरी नहीं, वास्तविक हो

(पर्युषण पर्व—तृतीय दिवस)

अनंत आत्मिक शक्ति से सम्पन्न तीर्थंकर देवों ने भव्यजनों के लिये जो उपदेश दिया है, उसे एक अपेक्षा से अनिवर्चनीय भी कहा जा सकता है। जिसका निर्वचन-विवेचन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि विवेचन अधूरी वस्तु का होता है, किन्तु वीतराग देव की वाणी अधूरी नहीं अपितु परिपूर्ण है। भव्यों को समझाने के लिए उस भाषा में विस्तार से समझाना और बात है, पर वीतराग वाणी को अधूरी समझकर उसका विवेचन करना उपयुक्त नहीं है। जो आत्मा सच्ची जिज्ञासा भावना से जिनवाणी को सुनती है, वह निश्चय ही उसे जीवन में उतारने में भी समर्थ हो जाती है। ऐसी आत्मा का रूप परमात्म रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। अतः सबसे पहले अपने आप में सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न करनी चाहिये। सच्ची भूख लगने पर किया गया भोजन जिस प्रकार पाचक होता है, उसी प्रकार सच्ची जिज्ञासा के साथ ग्रहण किया गया सम्यक्ज्ञान आचरण के साथ आत्मा को तुष्टि देनेवाला होता है। जब तक व्यक्ति के मस्तिष्क में वैभाविक विषय एवं मोह ममत्व का रंग भरा रहेगा, तब तक शांति की सच्ची जिज्ञासा भी उत्पन्न नहीं हो सकेगी। सच्ची शांति को जीवन में प्रवेश कराने के लिए सबसे पहले मन-मस्तिष्क में भरी बाहरी बातों को हटाना होगा। जिस प्रकार चिन्तन करने के लिये व्यक्ति सोचता है कि बाहरी कोलाहल का शांत होना आवश्यक है, वैसे ही आत्मशांति पाने के लिए अन्तरंग में राग-द्वेष का कोलाहल शांत होना आवश्यक है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति मटकी को पानी पर एकदम उल्टी करके उसमें पानी भरना चाहे तो क्या उसमें पानी प्रवेश हो सकेगा? आपको शायद इसका पूर्ण अनुभव नहीं होगा, लेकिन यह स्पष्ट है कि मटकी का उलटा मुँह करके, पानी में एकदम डुबा देने पर भी पानी की एक बूँद भी उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। यद्यपि चर्मचक्षुओं से कुछ भी नहीं दिखता है, मटकी खाली दिखती है, फिर भी उसमें हवा भरी होती है। जब मटकी तिरछी हो जाती है, तब डबडब की आवाज के साथ पानी अंदर प्रवेश करने लग जाता है, ज्यों-ज्यों हवा बाहर निकलती है, त्यों-त्यों पानी अन्दर प्रवेश करता है। इसी प्रकार आपने ग्लूकोज की बॉटल को डॉक्टर के द्वारा चढ़ाते हुए भी देखा होगा। जब तक उस बॉटल में डॉक्टर हवा जाने का रास्ता नहीं कर देता, तब तक ग्लूको शरीर में प्रवेश नहीं करता है। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब

दूसरे तत्त्व भीतर भरे हैं, तब तक अन्य तत्त्वों का उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। जब तक आत्मा में विभाव के तत्त्व भी रहेंगे तब तक सच्ची शांति को तो वहाँ अवस्थान ही नहीं मिलता है। उसे अवस्थान दिलाने के लिये पूर्व से भरे हुए विकृत वैभाविक तत्त्वों को बाहर निकालना आवश्यक है।

आज का पन्द्रह अगस्त का यह दिवस भारतीय स्वतंत्रता का प्रतीक दिवस भी है। आज के रोज भारत ने अंग्रेजियत-परतंत्रता से हटकर संवैधानिक रूप से वर्षों पूर्व स्वतंत्रता प्राप्त करली थी। और आज तक संवैधानिक ढंग से भारत स्वतंत्र रूप से चला आ रहा है, पर विचार यह करना है कि स्वतंत्रता क्या वास्तविक रूप से जीवन में आई है या फिर कागजी कार्यवाही की स्वतंत्रता ही आई है, और वैसे परतंत्रता का आचरण चल रहा है, क्या कहूँ जरा अपने में और इर्द-गिर्द देखने की कोशिश करिये। मानव स्वतंत्रता के स्थान पर कितना अधिक परतंत्रता में जकड़ता चला जा रहा है। बाहरी फेसिलिटी को देखिये—खान-पान, रहन-सहन को देखिये, आपको पाश्चात्य संस्कृति जकड़ी हुई नजर आयेगी। आज के व्यक्ति भारतीय सभ्यता को छोड़कर पाश्चात्य संस्कृति को अधिक से अधिक अपनाने में उत्साहित हो रहे हैं। ऐसी परतंत्रता में व्यक्ति कभी भी सच्ची स्वतंत्रता को प्राप्त नहीं कर सकता है। बाहरी स्वतंत्रता के साथ आचार एवं व्यवहार में भी स्वतंत्रता आना आवश्यक है। सामान्य जनता की बात तो जाने दीजिये, राष्ट्र के नेताओं के जीवन में भी वास्तविक रूप से स्वतंत्रता देखने को कम मिलती है। **जो मकान बाहर से स्वच्छ एवं चाक् चक्य दिखने वाला हो पर अन्दर से भयंकर दुर्गन्ध से भरा हो तो ऐसे मकान को कोई भी सभ्य व्यक्ति पसन्द नहीं करेगा। इसी प्रकार केवल बाहरी कागजी स्वतंत्रता तो आ जाय पर भीतरी स्वतंत्रता न आवे तो वह वास्तविक स्वतंत्रता नहीं होगी।**

आज के दिन स्कूल-कॉलेज तथा बड़े-बड़े प्रतिष्ठान एवं राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्रता का प्रतीक राष्ट्रीय ध्वज फहरा दिया जाता है, किन्तु इस ध्वजा से प्रेरणा बहुत कम ली जाती है। हर वर्ष पन्द्रह अगस्त आती है और चली जाती है, हर वर्ष झंडे फहराये जाते हैं, पर जीवन को परिमार्जित करने का झंडा बहुत कम फहराया जाता है। **आज के लोगों के हाथ में झंडा नहीं है केवल डंडा ही रह गया है, वह डंडे को ही लेकर चल रहे हैं। वास्तविक आदर्श को तो भूलते चले जा रहे हैं।**

सच्ची आजादी पाने के लिये स्वप्न जरूर देखे जाते हैं, पर व्यावहारिक स्तर पर कुछ भी काम नहींवत हो पाता है। आज लोगों का जीवन किस प्रकार विलासिता में डूबता चला जा रहा है। स्वार्थ की भावनाएँ कितनी अधिक घर कर गई हैं। वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये राष्ट्र से भी विद्रोह करने के लिये

तैयार हो जाता है। देश में कितनी हिंसा एवं विद्रोह की भावना भड़क उठी है। यह तो आप देख ही रहे हैं। क्या यह सच्चे भारतीय का कर्त्तव्य है, क्या इसे सच्ची स्वतंत्रता कहेंगे ? सच्ची आजादी लेकर चलनेवाला, कभी भी भाई-भाई के साथ संघर्ष नहीं करता है, पिता-पुत्र के साथ संघर्ष नहीं होता है। वह देश के समस्त व्यक्तियों को अपने समान समझकर चलनेवाला होता है।

राष्ट्र की रक्षा के लिये अपने स्वार्थों को तिलांजलि देने में जरा भी हिचक नहीं होती है। उसे अपनी रक्षा नहीं राष्ट्र को रक्षा का ध्यान ज्यादा होता है। इसके लिये मैं जापान का एक उदाहरण देता हूँ।

एक हिन्दुस्थानी व्यक्ति जापान में पहुँचा। रेल में बैठकर आ रहा था। तब उसे फलों की आवश्यकता थी। वह सब जगह फिर गया परन्तु कहीं पर भी फल नहीं मिले। अब उसके धैर्य का धागा कितनी जल्दी टूटता है। अब उसके धैर्य का धागा टूट गया। देखिये आर्यदेश वालों के धैर्य का धागा कितनी जल्दी टूटता है। आपेसे बाहर होकर कहने लगा कि यह कैसा निकम्मा देश है, जंगली देश है कि जहाँ पर फल फ्रूट भी नहीं मिलते हैं। यह बात किसी व्यक्ति को लेकर नहीं कही परन्तु वह सामान्य रूप से बड़बड़ा रहा था। उसी रेल में जापान का ही साधारण-सा मजदूर था। परन्तु उसके मन में देश के प्रति गौरव था। उसने सुनकर सोचा कि मेरे देश की निन्दा नहीं होनी चाहिये। जिसको अपने देश की निन्दा का ख्याल रहता है, तो वह अपनी निन्दा का, देश की, समाज की निन्दा का ख्याल रखता है। उस गरीब जापानी को अपने राष्ट्र का गौरव रखना था। वह झट से भागा हुआ गया। उसके घर में जो खाने के लिए फल रखे थे, वे सारे उठाकर ले आया, और हिन्दुस्थानी महाशय के सामने रख दिये। फलों को खाने के बाद हँसता हुआ महाशय पैसे देने लगा। उसने कहा—मुझे पैसे नहीं चाहिये; तो पूछा कि क्यों नहीं चाहिये ? तब उसने कहा कि आप हमारे देश में आये हैं तो हमारे देश की निन्दा मत कीजिए, बस यही अपेक्षा है।

सुज्ञ बन्धुओ ! विचार करिये उस जापानी के मन में अपने देश के प्रति कितनी निष्ठा थी। वह अपने देश की जरा भी निंदा नहीं सुनना चाहता था। क्या ऐसा देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम है भारतवासियों में ? जरा अपने-अपने घट में विचार करिये। आप सोच रहे होंगे कि म० सा० आप तो साधु हैं। धर्म की बातें करिये। राष्ट्र की बातें राजनेता करते रहेंगे। बन्धुओ ! ऐसी बात नहीं है। धार्मिकता में चलनेवाले के लिए राष्ट्र की सुव्यवस्था सहायक होती है। स्थानाङ्ग सूत्र में ग्रामधर्म आदि दस भेदों में से एक भेद राष्ट्र धर्म भी आया है। यदि राष्ट्र में समुचित व्यवस्था नहीं होगी तो धर्म की साधना व्यवस्थित रूप में नहीं की जा सकती है। अतः राष्ट्र की सम्यक् सुरक्षा की ओर संयम सा। मर्यादित रूप से ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

मैं तो अपनी मर्यादा में रहता हुआ कर्तव्य की दृष्टि से संकेत कर देता हूँ। उसका अनुपालन करना या न करना, यह आप लोगों के ऊपर है। वर्तमान युग में तो राष्ट्र की सुरक्षा की बात एक तरफ रखकर अधिकांश राष्ट्रनेता कुर्सी के पीछे दौड़ रहे हैं। उन्हें कुर्सी चाहिये जिसके लिए वे लाखों रुपये इलेक्शन में अपना प्रचार-प्रसार करने में खर्च कर देंगे, अनेकों जनहित की घोषणाएँ करके पब्लिक को वोट देने के लिए विश्वास में ले लेंगे, लेकिन कुर्सी पर आकर जनहित की वे सभी बातों पर प्रायः गजनिमिलिका ही कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति वास्तविक रूप से राष्ट्रप्रेमी नहीं कहे जा सकते। नहीं वे यथार्थ में स्वतंत्रता प्राप्त ही माने जा सकते हैं। ऐसे लोगों के कारण देश में विकृतियां फैल रही हैं। राष्ट्र नेता ही नहीं व्यापारिक वर्ग भी राष्ट्र प्रेम को भूलकर अधिकांश रूप से अपने ही स्वार्थ की पूर्ति में लगा हुआ है। मैं किस-किस की बात कहूँ—आप स्वयं ऊपर से नीचे तक सर्वेक्षण कर जाइये तो आपको ज्ञात होगा कि इस स्वतंत्रता प्राप्त देश के निवासियों का राष्ट्र के प्रति कितनाक प्रेम है भी या नहीं ? जब तक देश के प्रति देशवासियों की निष्ठा जागृत नहीं होगी, तब तक देश का समुचित उत्थान नहीं हो सकता। इसके लिये आज के रोज प्रत्येक व्यक्ति को देश के प्रति अपने-अपने कर्तव्यों को समझकर देश की वास्तविक स्वतंत्रता एवं नैतिक सुरक्षा के लिये आगे आने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये। मैं राष्ट्र की बात क्या कहूँ, परम पावन आध्यात्मिक जीवन में भी वर्तमान में अनेक कूटनीतियाँ फैलती हुई परिलक्षित हो रही हैं। साधना पथ पर बढ़ने वाले निःस्वार्थ निस्पृह कहे जाने वाले साधकों के मन में भी स्वार्थ, स्व का प्रदर्शन, मोह, ईर्ष्या, राग-द्वेष की भावनाएँ बनती जा रही हैं। इस परिवार के बीच चलनेवाला साधक कभी भी अपनी आत्मा को कर्मों के बंधन से स्वतंत्र नहीं कर सकता। हमारी आत्मा भी कर्मों से पराधीन बनी हुई है। जब तक वह कर्मों के बन्धन को तोड़ने का प्रयास नहीं करेगी; तब तक वह शाश्वत शांति की प्राप्ति नहीं कर सकती। सूत्रकृताङ्ग सूत्र में महाप्रभु ने कहा है।

"बंधणं तिउट्टिज्जा" हे भव्य साधक ! बंधन को समझकर उसे तोड़ने का प्रयास करो।

स्वतंत्रता के इस दिवस को प्रतीक बनाकर भी अध्यात्म साधक को, आत्मा को स्वतंत्र बनाने का प्रयास करना चाहिये।

अन्तगड़दशाङ्ग सूत्र के माध्यम से आपके सामने ऐसी एक नहीं, अनेक घटनाएँ उभरकर सामने आ रही हैं, जिन घटनाओं में उन महापुरुषों का वर्णन आ रहा है, जिन्होंने कि संसार के स्वरूप को समझकर जन्म-जन्म से कर्मों की जकड़ी भटकती हुई आत्मा को साधना पथ पर लगातार संशोधित-परिष्कृत कर परिपूर्णतः स्वतंत्रता प्राप्त की थी। जिस स्वतंत्रता को पाने के बाद उनकी आत्मा

कभी भी बंधन में नहीं जकड़ सकती । अनन्त सुख में तल्लीन हो जाती है । ऐसी ही स्वतंत्रता पाने के लिए भव्यात्माओं को प्रयत्नशील बन जाना चाहिये ।

अन्तगड़ सूत्र के माध्यम से अभी विद्वान मुनि [श्री ज्ञानमुनि जी] से आपने गजसुकुमाल एवं श्रीकृष्ण के जीवन के विषय में श्रवण किया । प्रतिवर्ष की अपेक्षा आपको इस वर्ष अन्तगड़ सुनने में समझने में कुछ तफावत लगी होगी । आपने सुना गजसुकुमाल कुमार को, श्रीकृष्ण अपना सारा राज्य देने के लिए तैयार हो गये । कितना अपने छोटे भाई के प्रति श्रीकृष्ण का स्नेह था, यह तो इस घटनाक्रम से स्पष्ट हो जाता है । क्या आज के भाइयों में अपने भाइयों के प्रति इतना प्रेम है । क्या वे अपने भाई के सुख-दु:ख में सहायक बनते हैं । यह तो दूर रहा अगर भाई भोला या नासमझ है तो उसे पिता की संपत्ति से वंचित किया जाता है, ऐसा भी देखने को मिलता है कि एक भाई तो भूखा मर रहा है और दूसरा भाई ऐश कर रहा है ।

वन्धुओ ! जव जीवन में भाई-भाई के प्रति भी प्रेम-स्नेह की भावना उत्पन्न नहीं होगी तो विश्व के सभी प्राणियों के प्रति आत्मीय भावना की उत्पत्ति की संभावना ही नहीं की जा सकेगी । आत्मशुद्धि के इस पावन प्रसंग पर सभी के प्रति आत्मीयता भाव जागृत करना आवश्यक है । आज तो कई व्यक्ति ऐसे भी देखने को मिलते हैं कि वे धर्मस्थान पर भी अभिमान को छोड़कर नहीं अपितु लेकर आते हैं । ऐसे व्यक्तियों के यहाँ पर भी बैठने के लिए कुर्सियाँ चाहिये । उनके अभिमान पर किसी भी प्रकार की ठेस नहीं लगनी चाहिये । परन्तु ऐसे विचारों के व्यक्ति यहाँ आकर के भी अपने जीवन का संशोधन नहीं कर पाते बल्कि और अधिक से अधिक कर्मों का बन्धन कर लेते हैं । ऐसे व्यक्ति को अभिमान छोड़कर सच्चा जिज्ञासु बनना चाहिये । जव तक व्यक्ति अभिमान में भरा रहता है, अपने प्रदर्शन में लगा रहता है, तब तक वह व्यक्ति सच्ची आत्मशुद्धि नहीं कर सकता न ही परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है ।

मुस्लिम मजहव में एक घटना आती है कि हुसैन नाम का सम्राट प्रतिवर्ष मक्का मदीना की यात्रा करने के लिए जाया करता था, वह अपने साथ वहुत-सी धन संपत्ति, वाहनादि भी लेकर जाता था । उसका जाने का मुख्य उद्देश्य यह रहता था कि लोग उसके ऐश्वर्य को देखकर उसकी प्रशंसा करें । लेकिन एक गरीव असहाय वहिन राबिया भी प्रतिवर्ष मक्का मदीना की यात्रा करती थी, लेकिन उसकी यात्रा सभी प्रकार के प्रदर्शन से दूर, केवल अल्लाह की भक्ति से अनुप्रेरित होकर होती थी । राबिया किसी भी वाहन में न वैठकर पैदल ही यात्रा करती थी ।

एक समय की बात बतलाई जाती है कि राविया जव मक्का मदीना की यात्रा पर थी, तब उसे खुदा के दर्शन हुए, खुदा उससे वड़े प्रेम से वात कर रहे

थे, ठीक उसी समय सम्राट हुसैन भी पीछे चला आया। उसने देखा कि खुदा राबिया से बात कर रहे हैं। तो वह कहने लगा कि आप इस गरीब को दर्शन दे देते हैं, लेकिन मैं जो आपके प्रतिवर्ष दर्शन करने के लिए हजारों रुपये खर्च करके आता हूँ, मुझे तो आप दर्शन नहीं देते, तब कहते है कि खुदा ने कहा कि तुम यहाँ शुद्ध मन से भक्ति से अनुप्रेरित होकर नहीं आते हो, बल्कि अपना प्रदर्शन करने के लिये आते हो, अतः तुम्हें कैसे दर्शन दे सकता हूँ ?

सज्जनो ! घटना चाहे किसी भी रूप में घटित हुई हो या नहीं हुई हो, पर इससे यह शिक्षा जरूर मिलती है कि आप लोग धर्मस्थान में धर्म करने के लिए आते हैं या अपने अभिमान का प्रदर्शन करने के लिये आते है ? यदि यहाँ आकर भी आपके मन में यह भावना रह जाती है कि मैं इतना पैसे वाला हूँ, संघ प्रमुख हूँ, राजकीय अधिकारी हूँ या और कुछ भावना लेकर यहाँ आते हैं, और आपको बैठने के लिए भी कुर्सी चाहिये। ऐसी भावना लेकर चलने वाले की फिर किस प्रकार आत्म-शुद्धि हो सकती है ? उसमें परमात्मा की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है ? इस रूप में तो आप एक बार नहीं अनेक बार जन्म-जन्म तक भी धर्मस्थान पर आते रहें, साधना भी करें तो भी आत्म-शुद्धि नहीं मिलने वाली है।

सच्ची साधना में प्रवेश करने के लिये सबसे पहले मस्तिष्क से अभिमान, क्रोध आदि वैभाविक वृत्तियों को निकालना आवश्यक है। जब तक 'वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना नहीं बनेगी। तब तक साधना सही माने में सफल नहीं हो सकती। कई मेरे भाई गौ-रक्षा की बात भी करते हैं, तो मेरा भी कहना यही रहता है कि गौ-रक्षा होनी ही चाहिये, पर इसके साथ गौ से भी बढ़कर मानव की रक्षा की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आज मानवों की क्या हालत हो रही है, जरा इस ओर भी ध्यान दीजिये। दूर की बातें तो जाने दो, आपके बंबई शहर में भी देख लीजिये कि कुछ लोगों के अलावा बहुल भाग झोपड़पट्टी में, दुर्गंध में श्वास लेता हुआ जी रहा है। कहीं-कहीं तो खाने के लिए रोटी और पहनने के लिये वस्त्र भी उनके पास नहीं है। अगर वास्तविक आजादी में जीना चाहते हो तो जरा इस ओर ध्यान देना आपका अपना कर्तव्य हो जाता है। केवल मुँह से स्वतंत्रता के गीत गा लेने से या झंडा फहरा देने से स्वतंत्रता का सही रूप नहीं आ सकता। इसके लिये वस्तुतः मानवीय प्रेम जागृत करना होगा।

अभी संघ प्रमुख वजूभाई दीक्षाओं की विनती कर गए। आप देख रहे हैं कि यह शासन किस प्रकार विकास कर रहा है। अभी आपने वैराग्यवती बहिन प्रिया एवं अन्य बहिनों के भावों को सुना। इनके मन में कितनी तमन्ना है संयम जीवन स्वीकार करने की। इस शासन के विकास में वीतराग देव की साधना के साथ पूर्वाचार्यों के तप-संयम का ही प्रभाव मूल में है। आत्मिक बंधन को तोड़ने के लिये संयम की स्वतंत्रता को अपनाना आवश्यक है।

बन्धुओ ! हॉल के बाहर शोरगुल बहुत हो रहा है। क्या धर्मस्थान में आकर इतनी सभ्यता शिष्टता नहीं रह पाती कि शांति से श्रवण करें। कहाँ चर्च में क्रिश्चियन लोग शांति से श्रवण करते हैं और कहाँ आप लोगों की स्थिति सुनने को मिलती है तो बड़ा आश्चर्य होता है। जरा आप अपनी इस वृत्ति को सुधारने का प्रयत्न करें।

वम्वई की इस बाहरी ट्रैफिक से भी बढ़कर भीतरी मन की ट्रैफिक है। भीतरी शोरगुल, बाहर से भी तेज है, उसे शांत करने के लिये कर्मों से हटकर अन्तगड़ सूत्र में वर्णित महापुरुषों की तरह स्वतंत्रता के राही बनेंगे तो निश्चित ही आत्म-कल्याण होगा।

मोटा उपाश्रय, १५-८-८५
घाटकोपर, वम्बई वृहस्पतिवार



४७ सम्यक्त्वी का आचार कैसा हो ?

(पर्युषण पर्व—पंचम दिवस)

पर्युषण के दिनों में जिन-जिन महापुरुषों का व सतीवर्ग का वर्णन आपके समक्ष आ रहा है, वह सब जीवन के लिये अत्यधिक प्रेरणादायी है। वर्तमान का मनुष्य जीवन किसी की प्रेरणा पाकर आगे बढ़ सकता है। वैसे आत्मा को उद्बोधन स्वतः—परतः दोनों प्रकार मिलता है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है – "तन्नीसर्गादधिगमाद्वा" स्वभाविकतौर से जीवन की अन्तर स्फुरणा से भी प्रकट होता है, और किसी का उपदेश सुनकर भी आत्मजागरण होता है। अन्तर्जगत् की स्थिति को लेकर जब मनुष्य चलता है, तो वह स्वयं के जीवन का ज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा प्रसंग बहुत कम मिलता है। दूसरों के उपदेश से उद्बोधन पाने वालो आत्मा भी अपने जीवन में बहुत कुछ ग्रहण कर लेती है। जब वह उसके अन्तर में रम जाता है तो उसके आत्म ज्ञान का प्रकाश प्रगटीकरण में आ जाता है।

अन्तगड सूत्र में जो वर्णन आता है, उससे सुखद प्रेरणा मिलती है एवं कई प्रश्नों का समाधान भी मिलता है। जहाँ कृष्ण वासुदेव के तेले का वर्णन सुना। वे अट्ठम करके बैठे, तीसरे दिन देव को बुलाया और देव उपस्थित हुआ। यहाँ सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्यक् दृष्टि आत्मा किसी देव की चाह नहीं करती, उन्हें नहीं बुलाती, उनकी मिन्नत नहीं करती, उसे बुलाने का प्रयत्न नहीं करती, फिर कृष्ण वासुदेव ने तेला करके देव को क्यों बुलाया ? यदि बुलाया तो क्या उनके सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं लगा ? जहाँ वर्णन आता हैं कि कृष्ण वासुदेव क्षायिक सम्यक्त्वी थे। तो उस सम्यक्त्व में यह दोष कैसा ? दोष आया तो फिर उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व कैसे आई ?

शास्त्रकारों ने जो वर्णन किया वह सही है। वे पक्के सम्यक्त्व दृष्टि थे। उनके रग-रग में अणु-अणु में सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति दृढ़ आस्था थी, उसमें वे जरा भी मोच नहीं आने देते, पर घरेलू कार्यों में कभी-कभी अन्य व्यक्ति की सहायता भी लेते थे। जहाँ कहीं भी संघर्ष करने का प्रसंग आता है, युद्ध छिड़ता तो राजा-महाराजाओं की सहायता लेकर आतताइयों को हराया भी जाता है तो क्या सम्यक्दृष्टि सांसारिक कार्यों में अन्य किसी की मदद नहीं ले सकते या ले सकते हैं ? जहाँ मनुष्य की शक्ति से काम न होता हो तो वहाँ वह देव की सहायता भी लेता है। कृष्ण वासुदेव ने देव को बुलाया, पर वह मोक्षमार्ग

की आराधना के लिये नहीं बुलाया था, वरन् आर्त भाव पाती हुई माता को आश्वासन देने के लिये। माता को ठीक तरह विश्वास दिलाने के लिये ही अट्ठम (तेला) किया था, वह तप आत्म शुद्धि के लिये नहीं किया गया था। जब वे तेले की तपस्या में बैठे तो एकाग्रतापूर्वक अपनी भावना देव तक पहुँचाई, देव का आसन चलायमान हुआ और देव आया। आप सोचते होंगे कि आज के भाई-बहिन भी तेला व लम्बी-लम्बी तपश्चर्या करते हैं फिर भी देव क्यों नहीं आते ? इस विषय में कई मनुष्यों की जिज्ञासा होती है।

बन्धुओ ! याद रखिये कि उन्होंने देव को बुलाने में मनगुप्ति को साधा था, मन का अवधान किया था, उसमें मन की एकाग्रता बनी, जो मन गुप्ति को साध लेता है उसको इच्छित फल की प्राप्ति हो जाती है। आज के साधक तपस्या करते जरूर हैं पर ये शरीर को ही साधते हैं, मन को नहीं। मन उनका एकाग्र नहीं रह पाता। तपस्या चल रही है, सोचेंगे अब पारणे पर मुझे क्या-क्या पदार्थ ग्रहण करना, मुझे उकाली चाहिये या अमुक वस्तु चाहिये। इस प्रकार की ये सारी कल्पनायें कई तपस्या करने वालों की चलती हैं तो समझना चाहिये अभी तक मन गुप्ति सधी हुई नहीं है, साधना सफल नहीं हुई। आज मनोविज्ञान की दृष्टि से मनोविज्ञान के विज्ञाता भी अपने विलपावर से इतनी शक्ति बना लेते हैं कि मात्र संकल्प से दूर पड़ी लोहे की छड़ को भी मोड़ देते हैं, ये शक्तियां आज अन्य-अन्य देशों में कई भाई-बहिन अपने-अपने जीवन में प्रगट कर रहे हैं, पर खेद है आज हिन्दुस्थान में रहने वाले भाई इस तथ्य को नहीं समझ पा रहे हैं, बाहरी पदार्थों में ही उनका मन चंचल बन रहा है।

कृष्ण वासुदेव मन से एकाग्र थे। वे ऊपर से तीन खंड का राज्य सम्भालते थे पर मन से एकाग्र थे। मन की एकाग्रता को आत्मा के सम्मुख रखकर चलते थे, उठते थे, बैठते थे, भोजन-शयन आदि करते थे। उनकी इन सारी क्रियाओं में मन की साधना विपरीत नहीं होती थी। उन्होंने आज के भाई-बहिन की तरह साधना नहीं की। आज देव को तो बुलाना दूर रहा पर जहाँ नमस्कार महामंत्र का जाप करते हैं, वहाँ भी धूप-दीप आदि लगाते हैं। ये सम्यक्दृष्टि का लक्षण नहीं है, सम्यक्दृष्टि जीव धर्मस्थान में सावद्य वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते हैं। जहाँ सावद्य क्रिया होती है, वहाँ मन की साधना नहीं बनती। कृष्ण महाराज ने देव को बुलाने के लिये तेला किया, वह शास्त्रीय मर्यादानुसार किया था। धूप-दीप आदि प्रक्रिया नहीं की, क्योंकि ये सावद्य प्रक्रिया हैं। जहाँ छोटे-छोटे जीवों की विराधना होती है वहाँ मन की साधना नहीं होती। छोटे से छोटे प्राणी की आह, उनकी दुराशीष, उनका उपमर्दन मन को शान्त नहीं रहने देता। अरिष्टनेमि के पास जाते समय भी श्रीकृष्ण जब घर से निकलते तब चतुरंगी सेना साथ लेकर जाते थे पर समवसरण में प्रवेश करते समय, व्याख्यान स्थल पहुँचते समय सचित्त वस्तुओं का त्याग कर देते थे। फूलों की मालादि उतार देते थे। अपने पास एक

इलायची का डोडा भी होता तो उसको भी अलग रख देते थे। समवसरण में जाने के पहले वे उत्तरासन लगाते थे, वे जानते थे कि यह भगवान् का परिपूर्ण अहिंसक समवशरण है, जहाँ एकेन्द्रिय जीव का भी उपमर्दन न हो, छोटे से छोटे प्राणी की हिंसा न हो। इतनी निष्ठा उनमें थी। उसी निष्ठा के साथ बैठते थे। आज के भाई चाहते हैं कि हम भी गृहस्थाश्रम में रहकर देव को बुलावें, पर उनकी विधि की ओर ध्यान नहीं देते, यह शरीर की शक्ति नहीं, मन की शक्ति है। आपको विचार करना चाहिये। भगवान् की आज्ञा की आराधना किस प्रकार की जाय। भगवान् साक्षात् नहीं हैं तो क्या, उनका ज्ञान तो साक्षात् है।

आत्मशुद्धि का माध्यम है—धर्मस्थान। अतः धर्मस्थान में प्रवेश करते ही आपको विचारना चाहिये कि हमारे पास फूलों की माला तो नहीं है, बहिनें सोचें–हमारी चोटी में फूलों की वेणी तो नहीं है आदि पाँच अभिगम का आपको पूर्ण रूपेण ख्याल रखना चाहिये। हम जा रहे हैं, जहाँ मन की साधना करने के लिये तो खुले मुँह न बोलें। मेरे भाई ये बातें सुन लेते हैं पर ख्याल नहीं रखते। कपड़ा पास में है पर मुँह पर लगाने का कष्ट नहीं करेंगे। कई भाई महाराज की साता पूछने जाते हैं तो कभी खुले मुँह से बोलकर उन पर थूंक गिराकर महाराज की अशातना भी कर देते हैं। संतों पर थूंक गिराना भी असभ्यता का सूचक है। संकेत देने पर भी मेरे कई भाई ख्याल नहीं देते। कृष्ण महाराज पांच अभिगम का ख्याल कर जाते थे। आप भी सोचें कि महाराज अहिंसक हैं तो उन संतों के पास जाने की मर्यादा क्या है ? उनका पालन करें।

संत पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। अतः बहिनों को उनके स्थान पर सूर्योदय के पूर्व और सूर्योदय के पश्चात नहीं आना चाहिये, और जो नियत समय है, उसी समय में भाई की साक्षी में बैठना चाहिये। व्याख्यान समाप्ति के बाद सतीवर्ग के स्थान पर बहिनों को चले जाना चाहिये। कदाचित् सामायिक नहीं आई हो तो थोड़ी देर बैठ भी गये तो बहिनों को यहाँ सोना कतई नहीं चाहिये। यह धर्म साधना का स्थान है। यहाँ तो जागृति लेने आये हैं। जब बेसमय में रहना और बैठना भी नहीं तो सोना तो चाहिये ही नहीं। धर्म स्थान में तो निर्वद्य प्रवृत्ति करने का प्रसंग है।

जो ज्येष्ठ पुरुष हैं वे चाहे राष्ट्र के नेता हों चाहे संघपति हों, संघ अध्यक्ष हों, प्रमुख हों, वो जो जो करेंगे उसका अनुकरण जनता करेगी। कृष्ण वासुदेव जानते थे कि मैं सम्यक्दृष्टि भाव में मजबूत हूँ। पौषधशाला में न जाकर अन्य स्थानों में जाकर अन्यथा करूँगा तो भी समकित में दोष नहीं लगने दूँगा। पर वैसा न कर पौषधशाला में गये। कृष्ण ने सांसारिक कार्य की दृष्टि से देव को बुलाया था न कि आध्यात्मिक दृष्टि से। पौषधशाला में एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा नहीं की। अपने हाथ से प्रमार्जन किया। नौकर-चाकर बहुत थे पर

उन्होंने सोचा ये अविवेकपूर्वक पूजेंगे इसी दृष्टि से स्वयं अपने हाथ से पूजा। आसन भी कैसा ? गादी-तकिये नहीं लिये। कुश का आसन बिछाया और पर्यंकासन से बैठे। उनकी मनगुप्ति की साधना इतनी तीव्र थी कि मन का संप्रेषण देव तक पहुँचा दिया। देव तक मन की गति पहुँचाने के लिये तीन दिन और तीन रात लगे। सम्यक्त्वियों को इनसे प्रेरणा लेनी चाहिये।

आज के वैज्ञानिकों ने एक ऐसे ग्रह की खोज की है कि जिसे वे आर्टसविमान कहते हैं। और यह भी कल्पना की है कि ऐसे ग्रह से यदि टेलीफोन से सम्पर्क स्थापित किया जाय तो वहाँ तक सम्बन्ध होने में ३५ प्रकाशवर्ष जाने में और ३५ प्रकाशवर्ष आने में लगते हैं। प्रकाशवर्ष का तात्पर्य है एक सूर्य किरण एक सेकण्ड में १ लाख ८६ हजार मील गति करती है। उस गति से चलते हुए ३५ वर्ष तक जाने पर उस आर्टस से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। उससे भी देवता का विमान दूर है, उससे सम्बन्ध जोड़ने में तीन दिन तीन रात तो लग जाते हैं।

कृष्ण वासुदेव ने ऐसा कोई यंत्र नहीं लिया पर मन के फोन की एक धारा लगाई, जो देव तक पहुँच गया। कृष्ण वासुदेव सांसारिक कार्य के लिये देव को बुलाने हेतु अन्य कोई कार्य करते तो जनता भी गैर रास्ते पर चली जाती। इसी प्रकार समाज व मुखिया की प्रवृत्ति भी ऐसी हो कि पीछे की संतति गलत रास्ते पर न जाये। इस प्रकार का ध्यान प्रत्येक भव्य को रखना चाहिये।

मिथ्यात्व कब लगता है, जब संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग और मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझे तब, देव को बुलाना उन्होंने संसार का मार्ग समझा, मोक्ष का मार्ग नहीं। अतः उन्हें सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं लगा। कृष्ण वासुदेव तो तीन खंड के अधिपति ही थे, पर जो चक्रवती छः खंड के अधिपति होते हैं वे भी इन छः खंडों को साधने के लिये तेले की आराधना की तैयारी करते हैं। कुंथुनाथ, शांतिनाथ, अरहनाथादि भी चक्रवर्ती पद को प्राप्त करने के लिये तेले के तप की आराधना में लगते थे। पर उन्होंने भी सावद्य ढंग से तेले नहीं किये थे। चक्रवर्ती पद की साधना सांसारिक कार्य की थी। फिर भी सम्यक्त्व में दोष लगाने की दृष्टि नहीं थी। अतः सम्यक्त्व क्या है और मिथ्यात्व क्या है ? इस विषय को गहनता से समझना चाहिये। कृष्ण वासुदेव के समक्ष जब देव प्रकट हुआ तो उन्होंने यही पूछा कि मेरे भाई होगा या नहीं ? देवों में इतना सामर्थ्य नहीं कि वे किसी को पुत्र दे सकें, वे भविष्य में होने वाले को अपने ज्ञान में देखकर बतला सकते हैं। उन्होंने अपने उपयोग में देखकर यही कहा कि आपके भाई तो होगा, पर अल्प वय में ही संयम लेकर संसार से मुक्त हो जायेगा। कृष्णजी ने सारी जानकारी प्राप्त करली और देवकी को भी दे दी। वे यह जानते थे कि मेरा भाई भगवान् की

वाणी सुनकर साधु बन जायेगा, फिर भी वे उन्हें भगवान् के पास ले गये। उनका मोह कितना हल्का था, उन्हें समवशरण से उठाकर नहीं लाये बल्कि अपूर्व वात्सल्य दिखाकर दीक्षा की तैयारी करने लगे। आगे क्या कुछ घटना हुई, अंतगड सूत्र के माध्यम से आपने सुना होगा, दीक्षा की दलाली से तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर लिया, पर आज तो एक टूटी-फूटी हंडिया में भी मोह ममत्व की स्थिति नहीं छोड़ी जा सकती किन्तु कृष्ण महाराज सच्चे सम्यक्दृष्टि थे। उन्होंने प्राणों से भी प्यारे नयनों के तारे राजकुमारों, कुमारियाँ एवं रानियों को दीक्षा की अनुमति देने में जरा भी संकोच नहीं किया, पर आपकी प्राण प्यारी कदाचित् दीक्षा लेने की भावना रखती हो तो आप क्या कुछ करेंगे? आज जीवन पर कितना मोह, कितना ममत्व है? मासखमण करके शरीर कृश कर लेंगे पर मन नहीं सधेगा।

मैं योग साधना की बात पूर्व में कह गया था। जीवन में योग की साधना सही तरीके से की जाय तो जीवन में सम्यक्दृष्टि भाव की साधना भी कर सकता है, जो गहरे ममत्व में पड़ जाता है, वह सम्यक्दृष्टि भाव से गिर जाता है। उसके विकास का मार्ग रुक जाता है। मन की साधना यदि दृढ़ संकल्प के साथ की जाय तो सारी दुनिया को हिलाया जा सकता है, पर सच्चा साधक अपने चमत्कार से दुनिया को हिलाने की भावना नहीं रखता, उसकी साधना तो आत्मा को उजागर बनाने में ही रहती है।

बन्धुओ! यह सारा विषय इन आठ दिनों में ग्रहण करना है, जीवन की आलोचना करनी है। धर्मस्थान में कभी भी सावद्य प्रवृत्ति नहीं करेंगे तो ही अपने मन की साधना का प्रसंग उपस्थित कर सकेंगे। यदि इस विषय में किसी को भी शंका-विशंका हो तो शास्त्रीय प्रमाण सहित वीतराग देव की आज्ञा के अनुसार शंका का समाधान खुले दिल से ले सकते हैं। मेरा तो यही कहना है कि आप वीतरागदेव की आज्ञानुसार चलेंगे तो आप अपने जीवन में जरूर चार चांद लगा सकते हैं।

मोटा उपाश्रय, १७-८-८५
घाटकोपर, बम्बई शनिवार



४८

आत्मा को हल्की बनावें

(पर्युषण पर्व—षष्ठ दिवस)

उपशान्ति के केन्द्र, परम शांति के समुद्र, अनंत सुख के दरिया एवं अनंत शक्ति सम्पन्न वीतराग देव, जिनकी बदौलत आज भव्यजन अपने कषायों को शमित कर जीवन के अमृत कुंभ को, अमृत घट को भरने का प्रयास करते हैं। ऐसा संयोग जिन आत्माओं को मिलता है, वे आत्माएँ इस जीवन में रहती हुई स्वयं धन्य बनती हैं और स्वयं के पास आने वाले अन्य प्राणियों को भी शांति का संदेश देती हैं। आज जो अशांति का दौरदौरा चल रहा है, प्रायः करके चारों तरफ आत्मा को अशांति का अनुभव होता है। यह अशांति आयी कहाँ से और किसने पैदा की ? यह अशांति बाहर से नहीं आती। अशांति पैदा करने वाली स्वयं यह आत्मा इस शरीर में रहती हुई ऐसे कुछ कर्म उपार्जन करती है, जिनके ऐसे परिणाम सामने आते हैं, जिससे उस समय वह स्वयं अशान्त बन जाती है। जिस वक्त भंग, दारू आदि मादक द्रव्य पीता है, उस समय उसे कुछ भी ज्ञात नहीं होता। पर जब भंग का नशा तीव्र हो जाता है, उस समय वह कैसा दुःख का अनुभव करता है, यह वही जान सकता है। ये मादक द्रव्य मनुष्य को बेभान बनाने वाले हैं। जो मादक द्रव्यों को पीने की कोशिश नहीं करता है, वह मादक द्रव्यों के प्रभाव से प्रभावित नहीं होता। कभी कुतूहलवश या कभी भद्रिक प्राणी अन्यों के कहने में आकर ऐसा नशीला पदार्थ ग्रहण कर लेते हैं तो वे स्वयं अशांति के झूले में झूलते हैं और परिवार के भी घातक बन जाते हैं। ऐसी बहुतेरी घटनाएँ सामने आती हैं।

मेवाड़ (राजस्थान) में गंगापुर नामक गाँव में होली के दिनों में महेश्वरी समाज की एक बहन रास्ते पर चल रही थी। कुछ उद्दंड युवकों की टोली ने जाती हुई बहन को कहा कि—लो ठंडाई पी लो। वह जान नहीं पाई, उस ठंडाई में भंग मिली हुई थी, उसे ऐसा नशा आया कि कुछ भी भान नहीं रहा, वह बेभान हो गई। जब उसका सात वर्षीय बच्चा खेलता हुआ उसके पास आया, तो कुछ भान तो था नहीं, एक लोहे की कील उठाई और पत्थर लेकर उस बच्चे के माथे पर ठोक दी।

अब देखिये अशांति पैदा किसने की ? उत्तर होगा उस बहिन ने। वैसे ही यह चैतन्य देव अनादि काल से स्वयं कर्मों से भारी बनकर दुःखी होता हुआ चला आ रहा है। जहाँ आत्मा हल्की होती है तो ऊर्ध्वगामी बनती है या तिर्छे लोक

में भी रहती है, पर क्रूर कर्मों के अर्जन से इतनी भारी बन जाती है कि तिर्छे लोक को छोड़कर पाताल लोक में पहुँच जाती है। वहाँ उसे कोई अन्य नहीं ले जाता पर स्वयं कृत कर्मों से भारी बनकर नीचे जाती है।

भगवती सूत्र के श० १२ उ० दूसरे में वर्णन आता है कि भगवान् महावीर के समय कई साधक आये उनमें एक जयन्ती नाम की श्राविका भी आई। उस श्राविका ने भगवान् से प्रश्न किया—यह आत्मा, यह चैतन्य देव अच्छा है। आपके कथनानुसार ऊपर उठना इसका स्वभाव है फिर यह नीचे कैसे जाता है ?

"कहणं भंते ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छन्ति ? जयंति ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसण संल्लेणं। एवं खलु जीवा गुरुयत्तं, हव्वमागच्छन्ति ॥"

उस श्राविका के प्रश्न से जान सकते हैं कि उस समय ऐसी-ऐसी श्राविकाएँ भी होती थीं जो गूढ़ ज्ञान को लेकर तात्विक प्रश्न करती थीं। वह श्राविका प्रभु से प्रश्न करती है, प्रभु उसे उत्तर देते हैं कि हे श्राविके ! आत्मा का स्वभाव हल्का है जिससे यह ऊपर जाती है पर कर्मों के भार से भारी बनकर नीचे जाती है। प्रभु ने आत्मा के भारी होने के कारण प्राणातिपातादि १८ पाप बताये हैं, इनके कर्म बंधन से आत्मा भारी बनती है, और यह भारीपन आत्मा को अधः पतन की ओर ढकेल देता है।

भगवान् ने तुम्बी का रूपक देकर समझाया कि जैसे—तुम्बी को पानी में डाला जाय तो ऊपरी सतह पर तैरती है पर जब कोई व्यक्ति उस पर मिट्टी का लेप लगातार सात या आठ बार लगाते जाय और उस तुम्बी को मिट्टी के लेप से भारी बना दिया जाय, उसे फिर पानी के सतह पर रख दी जाय तो वह तुम्बी पानी की सतह पर टिकेगी नहीं, नीचे चली जायेगी। वैसे ही हे जयंती ! यह आत्मा प्रतिक्षण-प्रतिपल कर्मों का लेप अपने पर लगाती है। आगे प्रश्न किया गया है—भगवन् ! यह किन-किन निमित्तों से, किन-किन कारणों से यह कर्मों का लेप लगाती है ? महाप्रभु ने उसके लिये प्राणातिपात आदि पापों को कारण बताया।

आचारांग सूत्र में महाप्रभु ने बतलाया है कि हे पुरुष ! तू वही है, जिनको तू मारना चाहता है, क्योंकि दूसरी आत्मा मरेगी या नहीं पर पहले तू स्वयं मरेगा, तेरा घात होगा। यदि तू अधिक जिंदा रहना चाहता है तो पहले प्राणी मात्र को अभय दे, शांति दे फिर तुम्हें अभय मिलेगा।

बंधुओ ! आप सोचेंगे कि दूसरे को मारने से पहले वह स्वयं कैसे मारा जायेगा ? मनोविज्ञान की दृष्टि से चिंतन करें कि जो व्यक्ति दूसरे के मकान को गिराना चाहता है तो गिराने का नक्शा पहले अपने मन में बनाता है तो अपने ही मस्तिष्क में नाश के संस्कार पैदा करता है। एक व्यक्ति सोचता है कि मैं

बारूद इकट्ठा करके पड़ौसी के मकान को तहस-नहस कर डालूँ, यह सोचकर पहले अपने घर में बारूद इकट्ठा कर लिया और कभी जरा-सी असावधानी से उसमें कहीं से आग की छोटी-सी चिनगारी लग गयी तो किसका घर नष्ट होगा ? पहले स्वयं का । वैसे ही यह आत्मा दूसरों का घात करने से पहले स्वयं का घात करती है । उसके पहले कर्म बंध जाते हैं ।

एक साथ आत्मा सात तथा आठ कर्मों को बाँधती है । वे आठ कर्म कौन-कौन से हैं ? ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गौत्र और अंतराय कर्म ।

ज्ञान प्राप्त करने वालों को अंतराय देने से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है । इसी तरह आगे के कर्म दर्शनावरणीय आदि के कारण भी जानने चाहिये ।

मनुष्य के शारीरिक रोगों की अपेक्षा मानसिक रोग ज्यादा हैं । प्रभु महावीर ने इसका बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है । आज का विज्ञान भी धीरे-धीरे इस ओर बढ़ रहा है ।

वैज्ञानिक आज इस बात को महसूस कर रहे हैं कि जितना जो व्यक्ति अपने आप में कलुषित होता है, वह हिंसा का ऐसा रोग पैदा करता है, जो आगे चलकर कैंसर का रूप भी धारण कर लेता है ।

कैंसर के रोग का आज इलाज क्यों नहीं हो पा रहा है ? कैसे हो ? जब तक हिंसा के या दूसरों को सताने के विचार चलते रहते हैं तो मस्तिष्क के जो ग्लैंड्स हैं, जो ग्रन्थियाँ हैं उनमें पॉयजन पैदा हो जाता है तब कैंसर का रोग उत्पन्न हो जाता है ।

जहाँ मनुष्य किसी को सताता है, चोरी करता है तब उसे खुद को चैन नहीं पड़ती ।

फोरेन में एक ऐसा प्रसंग आया कि—गिरजाघर पहुँचकर साधक मौन साधना करते हैं, वहाँ ऊपर से सुई के गिरने की आवाज तो आ जायं पर मनुष्य के कोलाहल की आवाज न आय । ऐसी स्थिति सुनने को मिल रही है ।

ऐसे स्थल पर एक बहन पहुँची तब उसके शरीर में खुजली चलने लगी, वह सोचने लगी कि जहाँ धर्म स्थान है, शांति का स्थान है वहाँ आते ही मुझे हमेशा अशांति हो जाती है । ऐसा क्यों ? कारण ढूँढ़ने पर भी कुछ न मिला तो पोप ने एक मनोवैज्ञानिक डॉक्टर से कहा—इस बहन के शरीर में क्या रोग है, तपास करो । धर्म स्थान में आती है तो खुजली आती है और यहाँ से जाती है तो ठीक हो जाती है ।

आज भी कइयों की स्थिति भी ऐसी ही है कि नवकार मंत्र की माला फेरते हैं तो हाथ धूजने लगते हैं। मेरे कई भद्रिक भाई कहते हैं कि म० सा० ! हम धर्म स्थान में आते हैं तो हमारा मन नहीं लगता।

बंधुओ ! मैं तो साधु ठहरा। साधु मर्यादा में उत्तर दे देता हूँ।

मैं फोरेन की बात कर रहा था कि डॉक्टर ने हर तरह से उस महिला के शरीर की तपास की, सब कुछ स्थिति ठीक होते हुए भी निदान नहीं कर पाया तो डॉक्टर ने उस महिला से कहा कि—तुम्हें शारीरिक नहीं, मानसिक रोग है। इसका इलाज तुम स्वयं कर सकती हो। तुम्हें कौनसा मानसिक रोग है, इसका तुझे पता नहीं है, पर मैं कहता हूँ कि जिस ऑफिस में तुम सर्विस करती हो तो वहाँ का वह अफसर तुम पर विश्वास करके सारा कारोबार तुम पर छोड़ देता है पर तूमने उसके साथ कोई धोखा-धड़ी तो नहीं की ? तो वह महिला बोली—कुछ नहीं की। चिकित्सक ने कहा—तुम अपने मन की बात जब तक मेरे सामने नहीं रख दोगी तब तक तुम्हारी बीमारी नहीं जायेगी। मैं तुम्हारी गुप्त बात किसी को नहीं कहूँगा। तब वह कुछ आश्वस्त हुई और सारी अंदर की बात रखदी। बतलाया कि—मैं मेरे मालिक की दुकान से माल चुरा लेती हूँ, पैसा इकट्ठा भी कर लेती हूँ। कभी ऐसी भावना भी जगती है कि—इस मालिक को मैं ऐसा पदार्थ खिला दूँ, जिससे इसके शरीर में खुजली-२ हो जाय। जिससे यह ऑफिस में न आ पावे। तब डॉक्टर ने कहा—यह प्रकारान्तर से हिंसा तुम्हारे जीवन में खुजली पैदा करनेवाली है। तुम यदि अपनी खुजली मिटाना चाहती हो तो निःसंकोच अपने मालिक के पास जाकर आलोचना कर दो। उसके दिल में यह बात जम तो नहीं रही थी। पर विचार करने लगी कि—डॉक्टर जाकर कह देगा तो ठीक नहीं होगा, वह स्वयं गयी और एकान्त में अपने मालिक से कहने लगी—मैंने आपके साथ अनीति की, धोखाधड़ी की, मैं ऊपर से नहीं जान पाई पर भीतर से अनुभव कर रही हूँ अतः मेरी इस बीमारी को मिटाने के लिये आप मुझे माफ कर दें और आपका सारा धन जो मेरे बंगले पर सुरक्षित पड़ा है, ले आवें। मालिक भी गंभीर था, कहने लगा कि गलती मेरी है, मैंने तुम्हारी आजीविका के लिये बराबर व्यवस्था नहीं की पर अब तुम प्रण करो कि अब भविष्य में ऐसी गलती कभी नहीं करोगी। उसने अपनी गलती स्वीकार करली और भविष्य में ऐसी गलती नहीं करने की प्रतिज्ञा ली। वह मालिक कहने लगा अब तुम शुद्ध-विशुद्ध हो।

गलती करना बुरा है, पर उस गलती को गलती समझकर उसे निकालने की जो चेष्टा करता है, उसका जीवन सुधर जाता है और जो नहीं करता है, उसकी मानसिक स्थिति खराब होने के साथ-साथ वह अल्प समय में ही परलोक को प्रयाण कर जाता है, उसका परलोक भी विगड़ जाता है।

बंधुओ ! यह तो आधुनिक युग का थोड़ा-सा उदाहरण दिया है पर प्रभु कह रहे हैं कि हे जयंती ! जो अपने दु:ख को दु:ख रूप नहीं समझता है, अन्य को सताता है वह अपने मन में क्रूरता ले आता है, उसके मन की स्थिति डांवा-डोल बन जाती है । प्राणातिपात आदि अठारह पापों में परिग्रह पाँचवाँ पाप है । हिंसा और परिग्रह विचित्र ढंग का पाप है, जो मानसिक रोग, कंसर आदि सारी बीमारियों की जड़ है ।

आज मानव अशांत है, आखिर ये बीमारी है क्या ? इसका पता नही लगा पाता । पता लगाना है तो वीतराग देव के सिद्धान्तों की छाया में आना होगा । इन बीमारियों से मुक्त होना है, तो इस आत्मा को १८ पापों के त्याग करने होंगे । इन्हें करने से ही आत्मा हल्की बन सकेगी । इनको हटाने के लिये पर्युषण के दिन चल रहे हैं, आज छठा दिन होने से तेले का घर है । देखिये इस घर के दिवस में गंभीरता से प्रत्येक भव्य को चिंतन करना है । मानसिक रोग की निवृत्ति के लिये तपाराधन के साथ वीतराग के सिद्धान्तों को, नजदीक से श्रवण करें, नजदीक से सम्पर्क साधें, नजदीक के संप्रेषण से अपने जीवन को आगे बढ़ाएँ ।

फोन में न बोलने वाला व्यक्ति बीच में किसी का माध्यम रखता है तो वह बात नहीं कर पाता है । आप अपने आपको हल्के बनाना चाहते हैं तो इतने हल्के बन जाइये कि इन दिनों में ३ करण ३ योग से छ: काय की हिंसा का त्याग करें । वैसे ही १८ पापों का त्याग करके संवत्सरी महापर्व की आराधना करने का प्रयास करें । शोरगुल से रहित होकर अपने पापों का प्रतिक्रमण करें । संवत्सरी के दिन सूर्यास्त के समय से मौनपूर्वक आप शुद्धिकरण करिये और उस शुद्धिकरण में यदि कोई हिंसात्मक माध्यम आयेगा तो आप पूरा शुद्धिकरण नहीं कर पायेंगे ।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त अहिंसा परमोधर्म का है । जो अहिंसा परमोधर्म की छाया में आता है वह अपने जीवन को पावन बनाता है । आज व्यक्ति हिंसा के अलावा बात भी नहीं करना चाहता, उसकी व्यवहार-पद्धति हिंसा मूलक हो गई हैं ।

शांति चाहते हैं तो पहले अन्य प्राणियों को शांति दें ।

एक व्यक्ति घबराता हुआ एक भाई के पास आकर कहने लगा कि मुझे शांति दो । उसने कहा तुम्हें शांति दूसरे से नहीं स्वयं से मिलेगी । तुम्हारे भीतर में शांति का खजाना भरा पड़ा है, उसे तुम दूसरों को देने लग जाओगे तो तुम्हारी शांति बढ़ती जायेगी और कंजूस बने रहे तो शांति कभी नहीं मिल सकेगी ।

१२ महीने अहिंसा का पालन करो तो बहुत ही श्रेष्ठ बात है। रोज नहीं तो पर्व, पक्खी, अष्टमी के दिन और इतना न बन सके तो संवत्सरी को तो हिंसा का त्याग करें। उस दिन भी यदि हिंसा करते हैं तो स्वयं की आत्मा को तो भारी बनाते ही हो पर वीतराग देव की भी आशातना करते हो। आप जैनी हो या नहीं ? इसका थर्मामीटर अपने आप में लगाओ कि जैनत्व आपमें है या नहीं ? जैनी का कर्तव्य है कि सबसे पहले महापाप का त्याग करें और बाद में अपने जीवन को बनाने के लिये धार्मिक की दृष्टि से अष्ट कर्मों से लिप्त बनने से दूर रहें। भगवान् ने नरक-गमन के ४ कारण बताये—महारंभी, महापरिग्रही, पंचेन्द्रिय की घात करने से और मद्य-माँस का आहार करने से। इन चार कारणों में दो कारण तो मुख्य रूप से अण्डाहार में आ जाते हैं। क्योंकि अण्डा पंचेन्द्रिय जीव है। उसको खाने वाला पहले उसका हनन करता है तो पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा का प्रसंग बनता है। फिर उसको खाता है तो मांसाहार का प्रसंग बनता है। इस प्रकार एक अण्डे का आहार करने में नरक गमन के दो हेतु बन जाते हैं।

अत: आर्य संस्कृति के उपासकों को तो कभी भी अंडे का सेवन नहीं करना चाहिये। सामान्य अवस्था की बात तो दूर रही भयानक रोग भी आ जाय, मारणान्तिक कष्ट की स्थिति हो, तथाकथित डॉ० का परामर्श भी हो कि अंडे खाने से ठीक हो जायेगा तथापि आर्य पुरुषों को मांसाहार से दूर रहना चाहिये।

मनुष्य का खाना मांस व अंडा नहीं है, पर जिसमें जैनत्व के संस्कार नहीं हैं, वे अण्डा आदि का सेवन कर लेते हैं। आज तो स्कूली शिक्षाओं में अंडे को निरामिष समझकर अंडाहार करने की शिक्षा दी जाती है, जिनको बचपन से जैनत्व के संस्कार नहीं मिले, जिन्होंने वीतराग देव के सिद्धान्तों को सही रूप में नहीं समझा, स्व-पर के साध्य को नहीं समझा वे ऐसा करते हैं पर मैं आपके समक्ष एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण रखता हूँ, जिसमें जैनत्व के संस्कार बचपन से ही भरे पड़े थे।

भोपाल के भाई भीमसिंहजी जो यहाँ आये हुए हैं। ये जज भी रह चुके हैं। ये जब कॉलेज में पढ़ते थे, तब का प्रसंग है कि—सभी विद्यार्थियों ने मिल-कर एक बार टी पार्टी के लिये कहा कि सभी अपने घर से टिफिन लेकर आयें। भाई भीमसिंहजी भी विद्यार्थी के रूप में थे, अत: वे भी अपना टिफिन लेकर पहुँचे। सभी विद्यार्थीगण भोजन का समय होने पर अपना-अपना टिफिन खोलकर भोजन करने बैठे तो भाई भीमसिंहजी से अन्यो के टिफिन में अंडे देखकर रहा न गया। अत: बोले कि तुम महापाप का खाना खाते हो यह ठीक नहीं। तब वे साथी अंडे को निरामिष बताकर श्री भीमसिंहजी से भी खाने का आग्रह करने लगे,

तो उन्होंने मुखिया को कहा कि ये विद्यार्थी मुझे जबरन अण्डा खिलाना चाहते हैं तो शिक्षक ने उनकी इस बात पर गौर नहीं किया, अपितु विद्यार्थियों का समर्थन करते हुए कहा—अण्डा मांस नहीं है अतः खाने में कोई ऐतराज नहीं है।

जिनमें जैनत्व के संस्कार नहीं हैं, वे चाहे किसी भी ऊँची पोस्ट पर क्यों न हों, उनके विचार ऐसे ही होते हैं। जब अध्यापक ने यह कह दिया तब विद्यार्थी भी खाने के लिए आग्रह करने लगे। किन्तु जैनत्व के संस्कारों में पक्के भीमसिंहजी ने इधर-उधर अपने भागने का रास्ता देखा, अन्य कोई दूसरा रास्ता नहीं मिला तो दीवार लांघकर भागते हुए घर आ गए, पर अंडा नहीं खाया।

बंधुओ ! देखिये वीतराग देव के सिद्धान्तों की कितनी गहरी व दृढ़ निष्ठा होनी चाहिये। वास्तव में अंडा मांसाहार है या निरामिष है, इसकी चर्चा मैं कई बार कह चुका हूँ।[1]

गाँधीजी ने भी इसे माँस के रूप में माना है। माँस खाने वाले रोग से ग्रस्त बन रहे हैं। आज के वैज्ञानिक अण्डे के विषय में दलीलें दे रहे हैं। आप मुझसे पूछें। मैं आपको यथोचित एक-एक प्रश्न का समाधान दूँगा व बताऊँगा कि अण्डा निरामिष नहीं सामिष है। जरा विचार करें कि पशु का माँस, मुर्गी का अण्डा आपके स्वास्थ्य के साथ तालमेल खाता है क्या ? आप किस शंका में पड़े हैं। आप कोई भी तर्क रखें मैं युक्ति युक्त उत्तर दूँगा। इस बात को आप अनुभव में ले सकते हैं। आज जैन समाज के बच्चे-बच्चे में यह घृणा हो जानी चाहिए कि यह ग्राह्य नहीं, हानिकारक व पापकारी है। डॉ० की स्थिति से समझें कि एक इंजेक्शन भी बिना उबले पानी से धोये एक दूसरे के नहीं लगाया जा सकता है तो फिर दूसरे पशु-पक्षियों का माँस कैसे खाया जा सकता है ?

आज मानव अपने जीवन की स्थिति को शांति के क्षणों में देखे कि हम क्या कर रहे हैं। अगर महापाप का त्याग नहीं किया तो आपमें जैनत्व कहाँ रहा ? आप विचार करें और अपनी स्थिति से आगे बढ़ें। अगर आत्मशुद्धि करनी है, भगवान् के वचनों का भोजन करना है, यदि आपको सच्ची भूख है, सच्ची जिज्ञासा है और वर्तमान जीवन शांतिपूर्वक जीना है तो जो आप सुनें उसे जीवन में उतारें।

जितनी अधिक हिंसक कार्यों से आप लोग निवृत्ति लेंगे, उतनी मात्रा में जीवन में शांति आएगी। धार्मिक कार्यों में तो हिंसक साधनों का प्रयोग होना ही नहीं चाहिये।

---

१. 'अहिंसक देश में घोर हिंसा—अण्डा शाकाहारी नहीं है' इस नाम से मेरे द्वारा संपादित आचार्य प्रवर की एक पुस्तक अलग से प्रकाशित हो चुकी है। —संपादक

चाहे आपको सुनाई दे या न दे पर प्रतिक्रमण, सामायिक आदि में हिंसक साधनों का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। मौनपूर्वक शांति के साथ सुनने पर आवाज दूर तक सुनाई देती है। प्राणातिपातादि पाप आपकी आत्मा को डुबोने वाले हैं। धार्मिकता के बहाने धर्मकरणी को बेचने का प्रसंग उपस्थित किया तो धर्म को कौड़ी में बेच देंगे। अतः धर्म के साथ किसी भी फल की कामना नहीं रखनी चाहिये।

वर्तमान जीवन को समझें। शांति कहीं बाहर नहीं स्वयं के भीतर है। ठंडे दिमाग से, गहराई से चिंतन करें, अपने आप की शांति को अपने अन्दर खोजें और छोटे से छोटे प्राणी को अभय दें। अर्जुन माली ने जो पाप कर्म किया, उनकी आलोचना कैसे की? परिणामस्वरूप छः महिने में ही अपने कर्मों को खपाकर, शुद्ध बनकर भगवान् महावीर से पहले सिद्ध अवस्था में विराज गये। इन सब आदर्शों को सामने रखकर पूर्ण अहिंसक साधना के साथ जीवन जीने का प्रयास करेंगे तो इस जीवन में भी परम शांति की अनुभूति हो सकेगी.......।

मोटा उपाश्रय, घाटकोपर, बम्बई

१८–८–८५ रविवार



४९ प्रतिस्रोतगामी बनें

[पर्युषण पर्व–सप्तम दिवस]

इस पंचमकाल में जिन-जिन परिस्थितियों में संसार चल रहा है। जिस भौतिक वायु मण्डल में मानव के संस्कार भौतिकता की ओर चले जा रहे हैं। इसी रफ्तार में यदि मानव की गति चलती रही तो इस प्रकार के संस्कारों का कहीं भी अन्त नहीं आ सकेगा। क्योंकि जो जड़ तत्त्व हैं, वे परिवर्तनशील हैं। आत्मा से भिन्न जो तत्त्व है, उसे भौतिक तत्त्व कहा जाता है. जड़ कहा जाता है। जड़ की परिधि में अर्थात् जड़ के परिवर्तनशील संस्कारों के साथ जीवन के संस्कार परिवर्तित होते रहे तो ऐसा व्यक्ति स्वभाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। इसके लिए वीतराग वाणी की ओर ध्यान देना आवश्यक है। अमर सुख को वरने वाले महापुरुष ही अमरवाणी की अभिव्यक्ति करते हैं। वह अमरवाणी अजर-अमर बनाने वाली होती है।

तीर्थंकर देवों ने अनंत-अनंत करुणा करके जो उपदेश दिया, उसे गणधरों ने ग्रहण किया और गणधरों के बाद सुधर्मास्वामी जो गणधर थे, वे तीर्थंकर देवों के उत्तराधिकारी हुए, आचार्य पद पर सुशोभित हुए, उन्होंने तीर्थंकर देवों की वाणी रूप अखूट खजाने को गुरु-शिष्य के वाचनाश्रम से सुरक्षित रखा। उसी परम्परा से आज भी जीवन को अजरामर बनाने वाली वाणी उपलब्ध हो रही है। जो अन्तगड़ सूत्र के माध्यम से पर्युषण के दिनों में अधिकाधिक सुनने को मिलती है। अंतकृत अर्थात् अन्त कर दिया कर्मों का जिसने, ऐसी आत्मा का वर्णन होने से अन्तगड़ सूत्र है।

भौतिक सत्ता-संपत्ति का प्रवाह जन साधारण को मोहित करने वाला बनता है, पर उस प्रवाह में भी जिन आत्माओं ने अपने अभौतिक जीवन को समझा और विषय-कषाय से विपरीत दिशा में गमन किया, प्रतिस्रोतगामी बने, वे जीवन के अन्त में सदा-सदा के लिए अजरामर बन गये। नदी का प्रवाह जिस तरफ बहता है, उस तरफ उसी दिशा में बहता हुआ कोई पुरुष चलता है, वह भले ही सैंकड़ों कोस दूर चला जाय और समझे कि मैं इस अपार नदी के प्रवाह में तैरता हुआ इतनी दूर चला गया, मैंने उत्क्रांति की है। यह बात वह स्वयं कह सकता है, किन्तु समझदार पुरुष उसकी प्रगति को प्रगति नहीं मानते। वे तटस्थ भाव से चिन्तन करते हैं कि जिधर पानी का प्रवाह बह रहा है उस दिशा में गमन करने में कोई कठिनाई नहीं आती, पानी का वेग उसकी सहायता ही करता

है। इसमें एक मुर्दा कलेवर भी बहते हुए पानी के प्रवाह में सैंकड़ों मील जा सकता है। इतने मात्र से उस मुर्दे कलेवर की कोई विशेषता नहीं होती। घास का तृण भी उसमें बह सकता है, इसमें उस तिनके की विशेषता नहीं है। विशेषता उसमें है कि पानी का प्रवाह पश्चिम में जा रहा है तो उसके विपरीत पुरुष पूर्व की ओर जावे तो उसे प्रतिस्रोतगामी कह सकते हैं। इसी प्रकार यह संसार के पाँच इन्द्रियों के विषय का प्रवाह [काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा] नदी के प्रवाह की तरह बह रहा है। मनुष्य ने जन्म लिया, मानवोचित कला सिखी, विज्ञान की विधि प्राप्त की, दुनिया में वीर भी कहलाया, लेकिन विषय-कषाय के प्रवाह में ही बहता रहा और फिर कहे कि मैंने बहुत प्रगति की तो ज्ञानीजन इसे प्रगति नहीं मानते। प्रगति उसमें है, जहां काम, क्रोध, विषय, कषाय जिस तरह मनुष्य को बहाते हैं, उससे विपरीत होकर जो आगे बढ़ते हैं, वे ही सच्ची शक्ति अर्जित करते हैं। अन्तगड़ सूत्र में उन्हीं वीर आत्माओं का वर्णन किया गया है। जहां प्रौढ़ अवस्था में रहने वाला व्यक्ति इस विषय को समझ कर आगे बढ़े, उसकी तो विशेषता है ही पर जिसने अभी तरुणाई की देहली पर पाँव भी नहीं रखा है, उसके पहले ही संसार के विषयों को समझ कर जो प्रतिस्रोतगामी बन गया, तो ऐसी महान् आत्मा का जीवन प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में तेज फैंकने वाला होता है, प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला होता है।

एवंताकुमार की घटना अंतगड़ सूत्र की तरह भगवती सूत्र में भी आयी है। ऐसे मुनि का वर्णन जहाँ अंतगड़ सूत्र का वाचन होता है वहाँ तो न्यूनाधिक रूप में श्रवण करने में आ ही गया होगा। कविता की कड़ियों में भी उनके जीवन का प्रसंग आता है। कड़ियों का माध्यम है कंठ। उन कड़ियों का उच्चारण करने में कदाचित स्वर में अवरुद्धता होने से कमी आ सकती है, तब स्वर जितना चाहिये उतना अच्छा नहीं होता। आप सभी श्रोतागण कड़ी से परिचित होने से आप उस कड़ी का एक स्वर के साथ उच्चारण करने का प्रयत्न करेंगे, पर विधि के साथ अविधि से नहीं। यह वीतराग वाणी का श्रवण यत्नापूर्वक करने का है, तो कविता की कड़ियों का उच्चारण भी यत्नापूर्वक करें। यत्ना का तात्पर्य खुले मुँह न बोलें। उच्चारण यह स्वर है, स्वर में भी बड़ी शक्ति होती है।

स्वर विज्ञान अपना अलग स्वतंत्र महत्त्व रखता है। इससे अन्तर की सुषुप्त शक्ति जागती है। सारे मस्तिष्क में एक ध्वनि तरंग पैदा होती है, और उससे आन्तरिक योग की स्थिति प्राप्त हो सकती है। उस स्वर को आप बोलकर इस वायु मण्डल में व्याप्त कर सकते हैं। महापुरुषों के जीवन की कड़ियों का उच्चारण करना, वाणी को, वाचा को पवित्र करना है। साथ ही मन का योग उसके साथ जुड़ेगा तो मन भी पवित्र होगा और आत्मा की भी शुद्धि होगी। तो स्वर मिलाइये—

एवंता मुनिवर, नाव तिराई बहता नीर में........

कुछ आवाज आयी पर एक स्वर नहीं मिला। एवंता मुनि ने वहते नीर में नाव तिराई, कवि का आशय है। यह घटना तैरने की वात उभार रही है। एवंता, छोटी वय का राजकुमार। शास्त्रीय दृष्टि से आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र का था। इसके विषय में कुछ आचार्यों का मतभेद है। कोई कहता है कि छ: वर्ष का ही था, पर यह बात शास्त्रीय दृष्टि से मेल नहीं खाती है। क्योंकि छ: वर्ष की अवस्था में तो संयम लेने का भी निषेध है। अत: आठ वर्ष झाझेरी अवस्था आगमानुकूल है। किसी-किसी बालक की प्रतिभा बचपन में भी विशिष्ट होती है। एवंताकुमार बचपन में ही विशिष्ट प्रतिभा के धनी थे। हो सकता है। आज के युग में छोटे बच्चे को लेकर चर्चाएँ होती हैं कि छोटी वय के वच्चे आध्यात्मिक जीवन को क्या समझ सकते हैं। जिनके शरीर के अवयव विकसित नहीं हुए, तव शरीर के अवयवों का विज्ञान हुए विना आध्यात्मिक जीवन का विकास कैसे होगा ? इन प्रश्नों के विषय में कुछ अनुभूति के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से चिंतन करना है। शरीर के अवयव दो तरह के होते हैं। स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शरीर के अवयव जागृत हों या न हों, पर सूक्ष्म ज्ञान शक्ति का माध्यम जो बुद्धि है, वह यदि अधिक सक्रिय बनती है तो उसमें समझने की वहुत वड़ी शक्ति-क्षमता आ जाती है। इस विषय को आज के वैज्ञानिकों ने भी अछूता नहीं छोड़ा है। वैज्ञानिक केवल भौतिकता की ही खोज कर रहे हैं। यह वहुलता का कथन है।

वैज्ञानिक स्थूल तत्त्वों के साथ-साथ अवयवों का भी प्रयोग कर रहे हैं। शरीर की स्थिति का अवलोकन व परीक्षण भी कर रहे हैं। आज के युग में एलोपैथिक तथ्य सामने आ रहे हैं किन्तु ये सिद्धान्त स्थूल दृष्टि का परीक्षण करने वाले हैं। इससे विपरीत ज्ञान का माध्यम जो बुद्धि है। उस बुद्धि का परीक्षण भी वैज्ञानिक कर रहे हैं। शरीर में तापमान को थर्मामीटर से देखते हैं, वैसे ही अमुक इन्सान की बुद्धि किस तरह की है। यह देखने के लिए वैज्ञानिकों ने खोज की है—इन्सान दो तरह से (शारीरिक व बौद्धिक दृष्टि से) प्रौढ़ वनता है।

शारीरिक दृष्टि से प्रौढ़ बना व्यक्ति सवकी दृष्टि में आयेगा कि वह ४५ या ५० वर्ष का हो गया। यह सवकी दृष्टि में है, पर वौद्धिक दृष्टि से वह व्यक्ति कितने वर्ष का है, इसका थर्मामीटर वैज्ञानिकों ने निकाला है, वह थर्मामीटर व्यक्ति से किये जाने वाले प्रश्न की स्थिति से है। एक आयु की दृष्टि से दस वर्ष का वच्चा है, एक आयु की दृष्टि से पचास वर्ष का व्यक्ति है। दोनों को एक समान प्रश्न दिया, उस प्रश्न का समाधान पचास वर्ष का व्यक्ति नहीं दे पाया और दस वर्ष के बच्चे ने समीचिनता से दे दिया. तो वह आयु की दृष्टि से दस वर्ष का है, पर बौद्धिक दृष्टि से पचास वर्ष का है। जो उत्तर नहीं दे पाया वह आयु की दृष्टि से पचास वर्ष का है पर वौद्धिक दृष्टि से दस वर्ष का ही है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध होता है कि वच्चे की वुद्धि प्रौढ़-वृद्ध से भी अधिक विकसित हो सकती है। एवंताकुमार की वुद्धि भी अत्यन्त विकसित थी, इसी का

परिणाम था कि उसके माता-पिता उसकी बातों का रहस्य समझ नहीं पाये, जो उसने बहुत ही स्पष्ट रूप से बतलाया था। जिसने बाहरी रूप से ही नाव नहीं तिराई अपितु उस बच्चे ने तो अपनी आत्मा को इस भवसागर से तिराकर मुक्ति तक पहुँचा दिया था। महाप्रभु का ज्ञान असीम होता है। उन्होंने एवंताकुमार की बुद्धि को परख लिया था।

गौतम स्वामी जब भिक्षार्थ जा रहे थे, जहाँ बच्चे खेल रहे थे वहीं एवंताकुमार भी खेल रहा था। उसने मुनि के हाथ में काष्ठ के पात्र, ओघा, मुखवस्त्रिका व सादी वेषभूषा देखी तो उस बालक का मन खेलते-खेलते सहसा मुनि की ओर आकर्षित हो गया। जहाँ बच्चे खेल खेलने में ऐसे रम जाते हैं कि प्राय: सब कुछ भूल जाते हैं, पर बुद्धि की विशिष्टता रखने वाला ऐसा नहीं करता। रंगीनता में डूबे तो आश्चर्य की बात नहीं पर साधारण वेष की ओर ध्यान जाना विरलों का काम है। साधु-जीवन, साधारण वेषभूषा है, बाहरी चाक चक्यता नहीं, सजा-संवरा शरीर नहीं। ऐसे प्रसंग पर गौतम स्वामी के गरिमामय जीवन को समझने की, परखने की क्षमता बड़े-बड़े बुद्धिशाली व्यक्तियों में भी नहीं आती। वेष को देखकर तो सभी कह देते हैं कि यह जैन साधु हैं। परन्तु इनके जीवन से क्या कुछ भाषित हो रहा है? कौन क्या महापुरुष है? ऐसी क्षमता मिलना असम्भव है, लेकिन उस मैदान में यह एवंता राजकुमार खेल रहा था। खेलते-खेलते उसकी दृष्टि गौतमस्वामी की तरफ गयी। और वह खेल को छोड़कर भागते हुए गौतमस्वामी के पास आया और पूछा आप कौन हैं और किस लिए घर-घर घूम रहे हैं? देखिये पूछने की क्षमता, अपने आप की ऊर्जा से तथा इन्सान में महापुरुषों को पहचानने की क्षमता उस बच्चे में थी। उसकी पहचान केवल पोशाक तक ही सीमित नहीं थी। उसने उनके साधुत्व जीवन को समझा था और फिर निडरतापूर्वक उनकी अंगुली पकड़कर घर ले आया, आहार से प्रतिलाभित करने के लिए। माता भी भावना भाने वाली श्राविका थी, पर उस वक्त पुत्र की प्रतिक्षा में थी कि उसे आहार पानी करा दिया जाय। माता का कितना ममत्व रहता है कि बच्चा जरा भी भूखा नहीं रहे। बच्चे के साथ गौतमस्वामी को देखकर माँ ने कहा कि अरे तू कैसी तिरण-तारण की जहाज घर ले आया, माता की प्रफुल्लता का पार नहीं रहा। परिपूर्ण शुद्धि के साथ गौतम अणगार को असणं, पाणं, खाइमं और साइमं संतों के योग्य चार प्रकार का निर्दोष आहार बहराया।

बन्धुओ! जब गौतम भिक्षा के लिए गए वहाँ माता ने बच्चे का उत्साह बढ़ाया और गौतम स्वामी जब महावीर स्वामी के पास जाने लगे तो वह उनके साथ हो गया। उस समय माता ने बालक को यह नहीं कहा कि अरे थोड़ासा नाश्ता तो कर जा पर उसने यही सोचा कि धन्य है मेरी कुक्षी से जन्म लेने वाला बच्चा कितना प्रतिभाशाली है। गौतमस्वामी के साथ जाते हुए बच्चे को रोका

नहीं, जाने दिया। वह श्रमण भगवान् महावीर के पास गया, दर्शन किया, देशना सुनी, आकर माता से कहा-- माताजी मैंने प्रभु के दर्शन किये। माता कहती है, बेटा, तेरे नेत्र पवित्र हो गए, तुम धन्य हो गये। कुमार कहने लगा--माँ मैंने प्रभु की अमृतोपम वाणी का पान किया। माँ ने कहा—बेटा तेरे कान पवित्र हो गये, वीतराग वाणी का श्रवण करना बड़ा दुर्लभ है। माँ मुझे प्रभु की वाणी अच्छी लगी। बेटा ! तुम्हारा जीवन अच्छा बना, तुम्हारा हृदय निर्मल बन गया। कुमार कहने लगा—माँ ! मैं प्रभु की वाणी को हृदय तक ही नहीं रखना चाहता। उसे क्रियान्वित भी करना चाहता हूँ। अर्थात् मैं घर-बार छोड़कर अनगार बनना चाहता हूँ। यह सुनकर माँ पहले तो मुस्कराई और कहने लगी—

वह कवि की कड़ियों में– तू काई जाणे साधुपणा ने बाल अवस्था थारी, उत्तर दीधो एसो कुंवरजी, मात कहे बलिहारीजी एवंता मुनिवर·······हे लाल तू साधुपने को क्या समझता है, तेरी अवस्था अभी छोटी है। साधुपना कोई बच्चों का खेल नहीं, यह अति दुष्कर है। तो बालक एवंता ने कहा- मैंने प्रभु से, संसार की असारता को जान लिया है। "जं चेव जाणामि, तं चेव नो जाणामि" आदि इन सबका उत्तर सुनकर भी माँ ने उसे समझाने का प्रयास किया, किन्तु कुमार अपने दृढ़ संकल्प पर अटल और अविचल रहा, उसे प्रलोभन दिया गया, उसे राज सिंहासन पर भी आसीन किया गया अर्थात् एक दिन का राज्य दिया, अनुशासन की पालना करना बताया, अनुशासन जीवन की विशिष्ट शक्ति होती है। **जो अनुशासन पालन करता है, वही अनुशासन दे सकता है।** राजा बन जाने पर भी कुमार ने यही सोचा कि मैं तो अपने जीवन को पवित्र बनाना चाहता हूँ। वीतराग संस्कृति को पाकर मेरे जीवन को उज्ज्वल करना चाहता हूँ। देखिये। सारा राज्य का स्वामी बन जाने पर भी उस बच्चे ने क्या कहा कि— मेरी आज्ञा है कि श्री भंडार से तीन लाख सोनैया निकालकर शीघ्र ही संयम के उपकरण मंगवाइये और मेरी दीक्षा विधि सम्पन्न करवाइये। इस प्रकार की दृढ़ता देखकर दीक्षा की तैयारी की गई। एवंताकुमार ने उत्कृष्ट वैराग्य से दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा लेने के बाद जब वे संतों के साथ निपटने गये। काष्ठ पात्र था, बचपन और लड़कपन तो था ही, बाल भाव से काष्ठ पात्र को जो वर्षा का पानी बह रहा था, उस बहते हुए पानी में तिरा दिया और कहने लगे—"मेरी नाव तिरे, मेरी नाव तिरे।" अन्य साथी स्थविरों ने उसे ऐसा नहीं करने को कहा तो बाल मुनि ने पुनः ऐसा नहीं करने का आश्वासन दिया, किन्तु अन्य साधु उस बात की मन में शंका लेकर प्रभु के समीप पहुँचे और शंका का निवारण किया। प्रभु ने फरमाया—यह चरम शरीरी है। तुम इसकी हिलना-निन्दा मत करो। स्थविरों ने प्रभु के वचनों को शिरोधार्य किया। एवंता मुनि ने संयम की उत्कृष्ट साधना की और जिस कार्य के लिए प्रव्रजित हुए थे, उसे सिद्ध कर लिया। न केवल उन्होंने वर्षा के बहते नीर में नाव तिराई अपितु संसार के दुष्कर प्रवाह में आत्मा की नौका सदा-सदा के लिए पार करली। प्रकरण का विस्तार शास्त्र के

माध्यम से आ गया है। मैंने उसे अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है। इस प्रकरण से आज सभी को प्रेरणा लेने का प्रसंग है। बचपन में जो संस्कार दिये जाते हैं वे विशिष्ट रूप से उभर कर सामने आते हैं। कहा भी है—

"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत।" जो नवीन भाजन में संस्कार एक बार लग जाते हैं, वे अन्यथा नहीं जाते। एवंताकुमार के जीवन में जो संस्कार एक बार जम गये, वे उन्हें मुक्ति में ले जाने वाले सिद्ध हुए। अतः बच्चों को संस्कारित करने के लिए आज के माता-पिता को विशेष ध्यान रखना चाहिये।

एक भाई ने गामा पहलवान से पूछा कि क्या आपके साथ दैवीय चमत्कार हुआ, जिससे कि आपमें इतनी शक्ति आ गयी, तो उसने कहा कि नहीं। यह तो पुरुषार्थ पर निर्भर है। आज भी आप मुझे एक पाँच वर्ष के दुबले-पतले बच्चे को सौंप दो—मैं दूसरा गामा तैयार कर दूँगा। यह सब संस्कार की बात है। वैदिक संस्कृति में भी सप्तऋषि का वर्णन आता है, ध्रुवकुमार का वर्णन आता है, वे भी छोटी वय में ही विषयों से मुड़कर प्रतिस्रोतगामी बन गये थे।

बन्धुओ! यह संस्कृति वीतराग देव की है। इस वीतराग देव की श्रमण संस्कृति को हर दृष्टि से सुरक्षित रखना है। इस श्रमण संस्कृति से बढ़कर भौतिक तत्त्व धार्मिक दृष्टि से कोई भी जीवन में नहीं आना चाहिये। संत-सती का जीवन कैसा हो? उनके अंग-प्रत्यंग से वीतरागता कैसे टपकती हो, इन सबका विवेक श्रावक-श्राविका-संत-सतीवर्ग को रखना चाहिये। यह संस्कृति साधारण मानव की नहीं, वीतराग देव की ही है। वीतराग ने जो कष्ट सहकर जो संस्कृति दी, उस अपूर्व संस्कृति का सेंपल-नमूना किसके पास है? सामायिक, २४ घंटे का पौषध और प्रतिक्रमण उस संस्कृति का नमूना है। आप सुज्ञ हैं, पर मैं समझता हूँ कि इस सामायिक की संस्कृति में भी वीतराग देव की संस्कृति का नमूना समाया हुआ है। धर्म होते हुए भी जहाँ उसमें हजारों प्रकार की औषधियाँ मिलाई जा सकती हैं। वीतराग देव की संस्कृति का नमूना पूर्णरूपेण ग्रहण नहीं कर सकते हो तो थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करें। इस नमूने को चखने के लिए ये आठ दिन आ गये हैं और जा भी रहे हैं। इन आठ दिनों में इस संस्कृति के नमूने को अपने जीवन में लें।

यह घाटकोपर का संघ बहुत बड़ा संघ है। यहाँ जो कुछ स्थिति थी वह मेरे ध्यान में आयी। भावना बहुत है पर सेंपल-नमूना लेने की स्थिति कम नजर आती है। पाँच हजार घरों की संख्या में पाँच हजार पौषध भी हो जांय तो मैं समझूँ कि आप इस संस्कृति के नमूने को लेकर चले। प्रत्येक भव्य का ख्याल रखना है कि यह कोई एरगेर नथुफेर की संस्कृति नहीं है। मैं सब देखता हूँ। संघ अपनी स्थिति को लेकर चलता है, कई जिम्मेदारियाँ होती हैं, वे कार्य भी

महत्त्वपूर्ण होते हैं। उन्हें झुठलाया नहीं जाता, पर उन सभी कार्यों में महत्त्वपूर्ण वीतराग देव की संस्कृति के नमूने का कार्य है। आपको मालूम ही है कि मगध सम्राट श्रेणिक को पूणिया की सामायिक खरीदने के लिए कहा गया था, और जब वह सामायिक खरीदने गया तो पूणिया श्रावक ने भगवान से ही उसका मूल्य जानने की बात कही तो प्रभु ने कहा कि बावन डूंगरी सोना तो उसकी मात्र दलाली के लिए भी पर्याप्त नहीं है। श्रमण संस्कृति का नमूना जो सामायिक है, उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। अतः ऐसी संस्कृति की सुरक्षा हर हालत में होनी चाहिये।

आज परीक्षण करना है कि इन पाँच इन्द्रियों के विषय में आप अनुस्रोत गामी बने हुए हैं या प्रतिस्रोतगामी ? मैं आपको क्या कहूँ ? मैं जिस वेश में हूँ उसी वेश में रहने वाले मेरे यह भ्राता प्रतिस्रोतगामी न बन अनुस्रोतगामी बन कर अपने कार्य को क्रान्तिकारी मान रहे हैं। बन्धुओ ! यह क्रान्ति नहीं भ्रान्ति है। मैं तो यही कहूँगा कि प्रत्येक मानव विषयों से प्रतिस्रोतगामी बने। इस श्रमण संस्कृति को महत्त्वपूर्ण समझकर चले। मैं तो अपनी अन्तरात्मा से सबको यही परामर्श दूँगा कि आप विषयों से विरक्त होकर ऊपर उठने का प्रयत्न करें। यदि अधिक न हो सके तो कम से कम कल के दिन तो अधिक से अधिक सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध करें। विषयों से प्रतिस्रोतगामी से जितनी भी बातें सामने आए आप उनमें मुस्तेदी चाल से आगे बढ़ें। वीतराग देव की वाणी के साथ अन्तगड़ सूत्र के माध्यम से आप अपने जीवन में आयु की अपेक्षा वृद्धि के थर्मामीटर को तेज बनायेंगे तो वस्तु स्वरूप समझ में आयेगा और उसी वस्तु स्वरूप को समझकर आगे बढ़ेंगे तो आपका जीवन मंगलमय बनेगा। इन्हीं भावनाओं के साथ।

मोटा उपाश्रय, १९-८-८५
घाटकोपर, बम्बई सोमवार



५०

माफी मांगो और माफी दो

(संवत्सरी)

वीतराग वाणी के पिपासु भव्यजनों के लिये आज का प्रसंग वीतराग वाणी को हृदयंगम करने का प्रसंग है, अंतर चेतना में व्यवस्थित करने का प्रसंग है। वीतराग देव का ज्ञान सीमित नहीं, सीमातीत है, आकाश का जैसे कहीं ओर छोर दृष्टिगत नहीं होता है, वैसे ही वीतराग देव के ज्ञान का भी ओर छोर नहीं है, ऐसे वीतराग देव के ज्ञान को हृदय में भरने के लिये प्रत्येक मुमुक्षु को स्वयं का हृदय विशाल बनाना है। जब तक मनुष्य का दिल संकुचित रहेगा, उसमें वीतरागवाणी का उपदेश समा नहीं सकता। उसको अन्तर में समाहित करने के लिये प्रत्येक भाई और बहिन को संवत्सरी के प्रसंग से दिल को बड़ा बनाना है। मनुष्य जीवन की सार्थकता आत्मा को पवित्र बनाने में है। अतः आत्मा को पवित्र बनाने का मार्ग प्रशस्त करने के लिये संवत्सरी का पुनीत प्रसंग उपस्थित है। चातुर्मास प्रारम्भ से ४६-५०वें दिन संवत्सरी की आराधना तीर्थंकर देवों ने बतायी है। तीर्थंकर देव महावीर स्वामी ने भी संवत्सरी मनायी, ऐसा समवायांग सूत्र के मूल पाठ में कहा है—

"समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कंते।
सत्तरिएहिं राइंदिएहिं सेसेंति वासावासं पज्जोसवेइ।।"

श्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास का एक माह और २० दिन बीतने पर तथा ७० दिन अवशेष रहने पर पर्युषण कल्प अर्थात् संवत्सरी पर्व की आराधना की। चातुर्मास का प्रारम्भ आषाढ़ शुक्ला पक्खी से होता है। इस आगम के मूल पाठ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने भी इस पर्व का आराधन किया था इससे इस पर्व की सनातनता और महत्ता सिद्ध होती है।

यह विषय जरा समझने का है कि चातुर्मास बैठने के बाद एक माह और २० रात्रि व्यतीत होने पर ही संवत्सरी पर्व क्यों मनाया जाता है? इस विषय का विवेचन भव्य-जनों को यथा–समय समझ लेना चाहिये। समय की स्थिति से शोरगुल में इस बात को भले ही कोई न सुने, पर जिन भाइयों के शब्द-कर्ण-गोचर हो रहे हैं, वे शांति के साथ इस विषय का चिंतन-मनन करने की कोशिश करें। यह पर्व आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो महत्त्वपूर्ण है ही, समग्र सृष्टि से भी

युगान्तरकारी है। आरों के प्रसंग से भी आप समझ सकते हैं। जैन सिद्धान्तानुसार एक काल चक्र के १२ आरक हैं। इसके दो विभाग हैं—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी, जिस समय में मनुष्य आदि प्राणियों की शरीर की ऊँचाई-चौड़ाई तथा शक्ति में तथा जमीन आदि पदार्थों के रस-कस में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता जाता है, वह काल उत्सर्पिणी कहलाता है और जिस समय में इसका क्रमिक ह्रास होता है, वह काल अवसर्पिणी कहलाता है। वर्तमान में अवसर्पिणी काल का पंचम आरक चल रहा है। यह २१ हजार वर्ष तक चलेगा। इसकी समाप्ति पर छठा दुःखम-दुःखम आरा लगेगा। वह ह्रास की पराकाष्ठा का काल होगा। उसमें धर्म, कर्म, राज्य व्यवस्था आदि का लोप हो जाएगा। प्रकृति में भयंकर उथल-पुथल होगी। गाँव, नगर आदि उजड़ जाएँगे। यह आरा लगते ही प्रथम सप्ताह में भयंकर प्रलयंकारी वायु चलेगी जो अधिकांश वस्तियों को उजाड़ देगी। एक सप्ताह तक प्रलयंकर असह्य सर्दी पड़ेगी। एक सप्ताह तक खारे जल की मूसलाधार वर्षा होगी। वह जल इतना खारा व तीक्ष्ण होगा कि जीवधारियों एवं वनस्पतियों के शरीर जलने लगेंगे। इसके पश्चात् सात दिन तक विष वृष्टि होगी। सात दिन तक धूलि की वर्षा होगी। सात दिन तक धूम वृष्टि होगी। इस तरह सात सप्ताह तक प्रलयंकारी दृश्य रहेगा। ५०वें दिन शांति होगी। इसी तरह जब उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होगा। तब उसके प्रथम आरे में भी छठे आरे की तरह यही स्थिति मानवों के जीवन की होगी।

जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति में उत्सर्पिणी काल के प्रथम आरे का प्रारम्भ बतलाते हुए लिखा है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को वालावकरण और अभीच नक्षत्र में अनंत गुण द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की वृद्धि के साथ प्रथम आरा प्रारम्भ हुआ। इक्कीस हजार वर्ष में उस "दुःखम-दुःखम" नामक प्रथम आरे के समाप्त होने पर अनंत गुण वृद्धि को लिये हुए श्रावण कृष्णा प्रतिपदा से ही "दुःखम" नामक द्वितीय आरा प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में पुष्करावर्त्त नामक महामेघ सात अहो रात्रि पर्यन्त गर्जना के साथ निरन्तर वरसता रहा। इस महान् वर्षा के फलस्वरूप तप्त लोहे के समान जलती हुई पृथ्वी शीतल हो गई। इसके वाद सात दिनों तक क्षीर नामक महामेघ अविराम-गति से वरसा, जिससे भूमि के अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श उपशांत होकर शुभ रूप में वदल गए। तत्पश्चात् सात दिनों तक आकाश निर्मल रहा। वाद में घृत नामक महामेघ सात दिन तक निरंतर वरसता रहा, जिससे भूमि का अशुभ रस शुभ हुआ। तत्पश्चात् अमृत नामक मेघ के सात दिनों तक लगातार वरसने से वनस्पति के अंकुर प्रस्फुटित हुए। वाद में पुनः सात दिन तक आकाश स्वच्छ रहा, तत्पश्चात् सात दिन पर्यन्त रस नामक मेघ की निरंतर वर्षा होने से वनस्पति में तीक्ष्ण, कटुक, काषायिक, अम्ल एवं मधुर रूप—पाँचों प्रकार के रस के साथ शक्तिदायक तत्त्वों का संचार हुआ और इस तरह धान्य, वनस्पति फल-फूल आदि

मानव के भोग योग्य बन गए। इस प्रकार दूसरे आरे के प्रारम्भ से ५०वें दिन आकाश के स्वच्छ होने पर बिलों में रहने वाले मानव जब बाहर निकले और भूमि को हरी-भरी देखी, तरुगणों को फूल फलों से लदे हुए देखे तो वे हर्ष विभोर हो गए। इस तरह यह प्रसंग चातुर्मास प्रारम्भ से ४९वें, ५०वें दिन के लगभग प्राप्त होता है। आषाढ़ी पूर्णिमा के बाद का यह ४९वां, ५०वां दिन ज्ञानियों की दृष्टि में विशेष महत्त्व का विदित हुआ और आत्म-शुद्धि के लिये संवत्सरी पर्व की आराधना चतुर्विध संघ के लिये निर्देशित हुई। इसी आराधना को गणधरों एवं बाद के आचार्यों ने उपयुक्त समझा तथा आराधना करते आए। तदनुसार निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति के क्रान्तिकारी महान् क्रियोद्धारक पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. से लेकर आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. तक आराधना होती रही। आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. की उपस्थिति में ही अजमेर वृहत् साधु सम्मेलन वि. सं. १९९० में भी एतद् विषयक लम्बी चर्चाओं के पश्चात् यही निर्णय रहा कि चातुर्मास के प्रारम्भ से ४९वें, ५०वें दिन संवत्सरी पर्व की आराधना की जाए। तदनुसार आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. पश्चात् भी पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी म. सा. की सम्प्रदाय सहित भारत की प्रायः सभी स्थानकवासी बाईस सम्प्रदायें (ऐतिहासिक-दृष्टि से साधुमार्गी परम्परा) आराधना करती रहीं। अजमेर सम्मेलन के समय एतद्विषयक निर्णय में सम्मिलित एकाध सम्प्रदाय बाद में ४९वें, ५०वें दिन के अनुरूप आराधना करने में सक्षम नहीं हो पाई।

वृहत् साधु सम्मेलन सादड़ी में भी उक्त नियम की पुष्टि करते हुए संगठन की दृष्टि से अल्प संख्यकों को मिलाने हेतु अत्यधिक बहुल पक्ष ने परिवर्तन कर भादवा की संवत्सरी रखी, पर यह कहा गया कि "आगे गुजरात, सौराष्ट्र आदि को सम्मिलित करते वक्त यदि संवत्सरी की आराधना में फेरफार करना पड़े, यानि ४९वें, ५०वें दिन को करने का प्रसंग आवे तो अल्प संख्यक सहित समग्र संत-सती वर्ग को ४९वें, ५०वें दिन संवत्सरी करने में तत्पर रहना चाहिये।" आदि आशय के भावों को व्यक्त करते हुए संवत्सरी का परिवर्तन हुआ। संवत्सरी से एक सप्ताह पूर्व इस पर्युषण पर्व का प्रारम्भ होता है। पर्युषण पर्व के अंतिम दिन साधना परिपूर्ण हो, इस दृष्टि से पूर्व के सात दिन साधना के अभ्यास के लिये पूर्वाचार्यों ने नियत किये हैं। इसे अष्टान्हिक पर्व भी कहते हैं।

उक्त सैद्धान्तिक विवेचन से ज्ञात होता है कि यह संवत्सरी का दिवस शान्ति का पर्व है। सकल सृष्टि की दृष्टि से भी यह शांति का दिन है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी यह शांति का ही दिन है। अतः इस दिन को शांति के पर्व के रूप में मनाना है। केवलज्ञानियों के ज्ञान में क्या स्थिति किस रूप

में रही हुई है, यह छद्मस्थ अपूर्ण व्यक्ति नहीं जान सकता। लेकिन संवत्सरी पर्व को चातुर्मास लगने के ५०वें दिन मनाने का विधान व्यावहारिक दृष्टि से भी उपयोगी प्रतीत होता है, क्योंकि तब तक प्रायः गृहस्थ लोग अपने-अपने कार्यों से निवृत्त हो जाते हैं, जिससे साधना में विशेष प्रगति कर सकें। जो व्यक्ति संवत्सरी के रोज अपनी आत्मा के राग-द्वेष, विषय-कषाय के कलिमल को निकालकर उसे समत्वानुरंजित कर लेता है तो उसकी आत्मा में शांति का अमृतमय निर्झर फूट पड़ता है। कषायों को, मनमुटाव को धोकर आत्मा को सरल बनाने पर ही यह स्थिति बन सकती है।

संवत्सरी पर्व मानव के लिये ही नहीं सम्पूर्ण प्राणी जगत् के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि तिर्यंच में बहुत से प्राणी तथा देव-नारकी इसे नहीं मना सकते, लेकिन जो मानव अन्तर्मुखी बन इस दिन साधना में लगकर सबको अभयदान दे देते हैं तो उनके द्वारा होने वाली उन जीवों की मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा रूक जाती है अर्थात् उनका संरक्षण हो जाता है।

यह आत्मा आज से नहीं, कल से नहीं, इस जन्म से, पर जन्म से नहीं, पर अनंतानत जन्मों से अपने स्वभाव को भूलकर विभाव में जकड़ी, कर्मों के परतंत्र हो, जीती चली आ रही है। उसे स्वभाव में लाने के लिये, कर्मों को तोड़ने के लिये इस पर्व का सही ढंग से ज्ञान प्राप्त कर आचरण में सम्यक् मोड़ लाना होगा। जिस प्रकार मनुष्य कैदखाने में खाना-पीना मिलने पर भी सुखी नहीं रह सकता, क्योंकि वहाँ स्वतंत्रता नहीं है। उसी प्रकार जब तक आत्मा कर्मों से स्वतंत्र नहीं हो जाती, तब तक संसार भी उसके लिये कैदखाना है, ऐसे संसार में वह भौतिक ऐश्वर्य कितना ही प्राप्त कर ले, पर शाश्वत सुख की अवस्था प्राप्त नहीं कर सकती। जो विषय कषायों से विरक्त होती है वही आत्मा सदा-सदा के लिये शाश्वत शांति को वर सकती है। वह शांति "कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव" से ही होती है। अर्थात् जिन आत्माओं की कषाय से मुक्ति हो गयी है, क्रोध, मान, माया, लोभ कम पड़ गये हैं अथवा सर्वथा नष्ट हो गये हैं। वह आत्मा सारे संसार के बंधनों को तोड़कर सदा-सदा के लिये स्वतन्त्र-स्वावलम्बी हो जाती है, सदा-सदा के लिये आजाद हो जाती है—"कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव" के स्थान पर यह कहा जा सकता है कि—"मोह मुक्ति किल मुक्तिरेव" अर्थात् जहाँ आत्मा का मोह बंधन टूटता है, वहाँ मुक्ति होती है और मोह नहीं टूटता है तो मुक्ति नहीं होती है। कषाय मुक्ति की सूक्ति भी मोह मुक्ति से जुड़ी है। संवत्सरी के प्रसंग से भव्य जन उपस्थित हुए हैं। हिन्दुस्तान में और विदेशों में भी विभिन्न स्थानों पर संवत्सरी की आराधना की जा रही है और की जाती है।

आज एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से प्रकट होता है कि जब संवत्सरी

आध्यात्मिक साधना का प्रतीक है और आत्मा के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है, तो सभी साधक एक ही रोज इस पर्व को क्यों नहीं मनाते ? शास्त्रीय दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट है कि संवत्सरी पर्व मनाने के लिये आगमों में कहीं पर भी सावन-भादव मास का कोई उल्लेख नहीं है। वहाँ तो स्पष्ट बतलाया है कि चातुर्मास प्रारम्भ से पचासवें दिन संवत्सरी मनाई जाए, ताकि सत्तर दिन अवशेष रह सकें। जो व्यक्ति इस सिद्धान्त को न मानकर भादव मास में संवत्सरी मनाने का आग्रह रखते हैं, उनके सिद्धान्त पक्ष में दोनों तरफ से खंडित होने का प्रसंग आ जाता है। जब श्रावण मास दो आ जाते हैं, तब भादव मास में संवत्सरी मनाने वाले का पहला सिद्धान्त-पक्ष, जो कि संवत्सरी को ५०वें दिन मनाने का है, वह टूट जाता है। क्योंकि दो श्रावण होने से पचासवें दिन संवत्सरी न आकर, तीस दिन बढ़ जाने से लगभग अस्सीवें दिन संवत्सरी आती है और जब दो आसोज आ जाते हैं, तब भाद्रपद में संवत्सरी मानने वाले वर्ग का दूसरा सिद्धान्त पक्ष, जो ७० दिन अवशेष रहने का है। वह निभ नहीं पाता है। क्योंकि आसोज के दो होने से चातुर्मास के ७० के स्थान पर १०० दिन अवशेष रह जाते हैं। अतः दोनों सिद्धान्त पक्ष खण्डित हो जाते हैं। पर जो वर्ग, महीने कोई भी बढ़े-घटे, पर जो पचासवें दिन संवत्सरी मनाकर चलते हैं, उनके यह नियम तो बराबर निभता ही है। अतः दोनों नियम न टूटकर एक नियम सुरक्षित रहता है। इस विषय में अजमेर साधु सम्मेलन में भी विचार-विनिमय हुआ था।

आज जैनागमों में गणित सुरक्षित नहीं रहने पर ही यह विवाद की स्थिति बन रही है। क्योंकि चातुर्मास बिठाने-उठाने के सब कार्य लगभग व्यावहारिक पंचांग से किये जाते हैं। उसी से हो विवाद की स्थिति सामने आ रही है। जहाँ संवत्सरी पर्व कषायों का शमन करने का विशिष्ट पर्व है, वहाँ कषाय बढ़ने का प्रसंग आ जाता है। जैनों का संवत्सरी पर्व तो कम-से-कम एक होना ही चाहिये। इसे एक करने में किसी का कुछ नहीं जाता। आवश्यकता है अपनी-अपनी पकड़ छोड़ने की, जब तक अपनी-अपनी पकड़ रहेगी, एकता आ नहीं सकती। और तो और! जब परिवार में भी कोई एक पारिवारिक सदस्य अपनी पकड़ लेकर चलता है तो उनमें भी एकता नहीं रह पाती, तो सामाजिक स्तर पर एकता कैसे रह सकती है। अतः संवत्सरी पर्व को तो सभी को एक रूप में मनाने का प्रयास करना चाहिये।

इस आशय के भावों से संवत्सरी के विषय में सादड़ी-सम्मेलन में कुछ उल्लेख हुआ। उसके बाद भीनासर प्रतिनिधि मण्डल बनाया गया, सबसे सम्पर्क साधने के लिये, पर फिर दो श्रावण आ गये। तब गुजरात और सौराष्ट्र के मुनियों व श्रावकों ने मिलकर सोचा कि जो सर्वानुमति का मार्ग १९९०

का हमारे सामने पड़ा है, उसमें उथल-पुथल करने को आवश्यकता नहीं। फिर भी कइयों ने दूसरे श्रावण में संवत्सरी मनायी। संवत्सरी के सम्बन्ध में मैंने और आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने संयुक्त निवेदन दिया ही है, उसका भाव यह है कि यदि सारी जैन समाज एक होकर कोई भी तिथि निश्चित करके बतला दे तो हम उस तिथि को बिना हिचक के संवत्सरी मनाने के लिये तैयार हैं। वास्तव में भीतर का दुराग्रह नहीं छूटेगा, तब तक आत्म शुद्धि कैसे हो सकती है ?[1] आत्म शुद्धि के लिये अनाग्रह भाव से विचार करना होगा।

मैंने भारत महा मण्डल के सदस्यों के सामने जोधपुर में एवं अन्यों के सामने भी यह सुझाव रखा था कि जैसे विक्रम सम्वत् अपनाया है वैसे ही शक सम्वत् अपना लें, तो ये सारी दुविधायें समाप्त हो सकती हैं। उन्होंने इस सुझाव को सुनकर प्रशंसित अवश्य किया, पर आगे कार्यक्रम नहीं बनाया, मैं तो अपनी मर्यादा में कह देता हूँ। क्या करना, कैसे करना—यह श्रावकों का दायित्व है।

सज्जनो ! विचार करिये, संवत्सरी महापर्व वर्ष में एक दिन आता है। अगर वह भी सही ढंग से नहीं मनाया तो जो समय एक बार बीत गया, वह फिर से नहीं आने वाला है। एक ज्योतिषी का उदाहरण है। एक ज्योतिषी ने ज्योतिषी-विद्या का गहन अध्ययन किया। पर उसकी धर्मपत्नी प्रतिदिन उससे झगड़ा करती हुई कहती रहती कि तुम तो पोथियाँ पढ़ते रहते हो, कमाई तो कुछ करते ही नहीं। ज्योतिषि ने कहा—' मैं ऐसा मुहूर्त निकालूँगा, जब ज्वार से मोती बन जायेंगे।" पत्नी को उस पर विश्वास नहीं था, अतः वह कहने लगी कि तुम तो केवल गप्पे हांकना जानते हो, करते-कराते कुछ नहीं। क्या ज्वार के भी कभी मोती बन सकते हैं ? संयोग से आकाश में नक्षत्रों के योग का वैसा प्रसंग आया। उस पंडित ने गणित द्वारा समय का निर्धारण किया। उसने अपनी पत्नी से कहा कि देखो ! अब मैं साधना करता हूँ, तुम ज्वार लेकर बैठना और चूल्हे पर गर्म पानी का बर्तन चढ़ा देना। जिस समय मैं "हूँ" कहूँ, उसी क्षण ज्वार के दाने गर्म जल के बर्तन में डाल देना। थोड़ी ही देर में ज्वार के मोती बन जायेंगे। पत्नी को उसकी बात पर विश्वास तो नहीं था, फिर भी

---

१. कई भाई ऐसी भी प्रक्रिया करने वाले मिलते हैं कि "नानालालजी ने कहा कि सारी जैन समाज एक होकर संवत्सरी पर्व की तिथि निश्चित कर दे. तो मैं भी उसी दिन मना लूँगा पर ऐसा होने वाला नहीं है। अतः उनका कहने में क्या जाता है ?" ऐसा कहने वाले भाइयों से मेरा यही सुझाव है कि वे प्रतिक्रिया न कर खुद भी ऐसा अनाग्रह भाव अपना ले तो फिर संवत्सरी की एकता में दूरी कहाँ ? लेकिन वे अपना आग्रह तो छोड़ना नहीं चाहते और जो छोड़ते हैं, उनकी प्रतिक्रिया करना जानते हैं। यह आत्म पवित्रता में सहायक नहीं है। —सम्पादक

वह कहने लगी कि घर में एक समय का खाना भी नहीं है, ज्वार कहाँ से लाऊँ ? पंडित ने कहा—पड़ोस में सेठानी रहती है, उससे उधार ले आओ। पत्नी पड़ोसन के पास गयी और बोली कि—"सेठानीजी ! मुझे दस सेर ज्वार उधार दे दीजिये", सेठानी ने सहज भाव से पूछ लिया—"क्यों बाई ! ऐसी क्या आवश्यकता पड़ गयी, जो ज्वार उधार मांग रही हो ?" उस पंडित की पत्नी ने कहा—"मेरे पति कहते हैं कि ऐसा मुहूर्त आने वाला है जब ज्वार को चूल्हे पर चढ़े हुए गर्म पानी के बर्तन में डाल देने पर वह मोती रूप में बदल जायेगी।" सेठानी को उस विद्वान् ज्योतिषि पर विश्वास था, वह मन ही मन प्रसन्न हुई और उसने २० सेर ज्वार दे दी।

सेठानी ने सोचा—नक्षत्रों का योग तो आकाश में होगा। पंडितजी के घर में नहीं। अतः यदि ऐसा योग आने वाला है तो जैसे पंडितजी के घर में आयेगा, वैसा ही मेरे घर में भी आएगा। उनके यहाँ उस समय में ज्वार के मोती बन सकते हैं, तो मेरे घर क्यों नहीं बनेंगे ? उसने शीघ्र सीगड़ी तैयार करके गर्म पानी का बर्तन उस पर रख दिया। बीस सेर ज्वार पास में रखकर दीवार के पास बैठ गयी। उसके कान दीवार पर लगे हुए थे। उधर उस विद्वान् की पत्नी भी पानी उबालकर ज्वार पास में लेकर बैठ गयी। विद्वान् ने आराधना शुरू की। जैसे ही उसने "हूँ" कहा, सेठानी ने तो ज्वार पानी में डाल दी। किन्तु उस विद्वान् की पत्नी ने "हूँ" शब्द सुनकर कहा—"क्या मैं ज्वार डाल दूँ ?"

समय बहुत सूक्ष्म होता है। वह शुभ योग निकल गया, पंडित ने माथा धूना। उसने कहा—मैंने पहले ही समझा दिया था कि हूँ कहते ही ज्वार डाल देना। पूछने की क्या आवश्यकता थी ? इस मूर्खा ने सुअवसर गंवा दिया, उसकी पत्नी ने वह योग निकल जाने पर ज्वार पानी में डाली तो वह घूघरी बन गयी। उसने क्रोधित होकर कहा—यह क्या हुआ ? यह ज्वार तो घूघरी बन गयी। बड़े चले थे ज्वार से मोती बनाने। अब मैं पड़ोसन को २० सेर ज्वार कहाँ से लाकर दूँगी ? उसको इतना क्रोध आया कि उसने वह बर्तन लाकर पति के सामने पटक दिया और सारी घूघरी बिखर गयी। पतिदेव माथे पर हाथ रखकर चिन्तन करने लगे कि मैंने मुहूर्त्त निकाला, किन्तु इसने साधा नहीं और अब मुझे दोष दे रही है। उधर पड़ोसन सेठानी ने बर्तन का ढक्कन खोला तो उसमें मोती के दाने चमक रहे थे। उसने कमरे में उडेल दिया तो कमरा प्रकाश से जगमगा उठा। २० सेर ज्वार मोती के रूप में परिणत हो गयी। सेठानी ने सोचा—पंडित की पत्नी ने अज्ञानता वश समय नहीं साधा और अब उन्हें दोष दे रही है। उनकी कृपा से मुझे यह अनहोना लाभ मिल रहा है। अतः अब मुझे इसमें से कुछ मोती पंडितजी को भेंट करना चाहिये,

तभी उस दोष की निवृत्ति होगी। इधर पत्नी बड़बड़ा रही थी, पंडितजी चिंतन कर रहे थे, इतने में ही पड़ोसिन सेठानी पंडितजी के घर आई और उनके सामने मोती के दाने रखे और बोली—पंडितजी ! यह आपकी अन्तर दृष्टि एवं आपकी कृपा का परिणाम है। आपके बताये हुए मुहूर्त को आपकी पत्नी से मैंने जाना और (आपके इशारे पर) आपके बताये हुए मुहूर्त पर मैंने ज्वार पानी में डाल दी जिसके ये मोती बन गये। उसके उपलक्ष्य में यह तुच्छ भेंट आपको समर्पित करने आयी हूँ। यह सुनकर विद्वान् पंडित को अपनी विद्या पर और अधिक विश्वास हुआ। वह अपनी पत्नी से बोला, तुमने मुहूर्त चुका दिया। पड़ोसिन सेठानी ने मुहूर्त साध लिया तो वह निहाल हो गई। यह सुनकर पत्नी के नेत्र खुले और वह रोने लगी, अपनी अज्ञान दशा पर पश्चाताप करती हुई पंडितजी के पैरों में गिरकर कहने लगी, एक बार और वही मुहूर्त ले आओ। पंडितजी ने कहा ऐसा दुर्लभ संयोग बार-बार नहीं आया करता, जो उसका लाभ उठा लेता है वह निहाल हो जाता है और जो उसे गंवा देता है, वह रोता रह जाता है।

बन्धुओ ! यह तो एक रूपक है, इसको पहचानिये। इस रूपक से प्रत्येक भव्यजनों को चिंतन करना चाहिये कि एक ज्योतिषी के मुहूर्त पर आज दुनिया इतनी विश्वास करती है तो ये ज्योतिषी बड़े या वीतराग देव बड़े। सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग देव ने अपने केवलालोक में देखकर आत्म-शुद्धि का पर्व निर्धारित किया। इस मुहूर्त में शोरगुल नहीं करते हुए अन्तर की शुद्धि को परिमार्जित कर जवारी के मोती बनाने के तुल्य इस आत्मा को परमात्मा बनाने का प्रयत्न करना चाहिये पर बनावें किस विधि से ? चारित्र की गरिमा के साथ ध्यान साधना, मौन साधना, अंतर की पवित्रता नहीं सधे, तब तक संवत्सरी पर्व का यह मुहूर्त नहीं सध सकता। भगवान् के समय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका इस मुहूर्त को साधते थे और अपने जीवन में चिंतामणि, सूर्यकान्तमणि रत्न से भी बढ़कर संवत्सरी को समझते हुए साधना में लग जाते थे।

महाप्रभु महावीर की योग पद्धति जनता में तो थी ही पर शासकीय स्तर पर जो सम्राट् होते थे, उनमें भी कई राज्य में ही आसक्त नहीं होते थे, वे भी सर्वोपरि आध्यात्मिक धर्म को जीवन में स्थान देते थे। जनता से ऊँचे पोस्ट पर रहते हुए भी कैसी आध्यात्मिक साधना करते थे। इसका भी उल्लेख ज्ञानीजनों ने किया है। उस उल्लेख का प्रसंग आज की स्थिति से मैं यदा-कदा कर देता हूँ। आज के युग में कॉलेजों की शिक्षा है, डिग्रियाँ प्राप्त हैं, अक्षरीय ज्ञान की स्थिति बढ़ी चढ़ी है। कमी है तो आज आध्यात्मिक जीवन की है। आज के चिंतक बाह्य दृष्टि को लेकर अधिक चलते हैं। अन्तर प्रवेश नहीं कर पाते। इसलिए शांति का अनुभव नहीं कर पाते। वे सोचते हैं कि हमने तो अमुक-

अमुक डिग्री हासिल करली । अब इस प्रकार सीधी–साधी पोशाक में साधना करना अर्थात् सामायिक की पोशाक, मुँहपत्ती लगाकर चुपचाप मौन साधना करना तो हमारे पोजीशन के विपरीत-खिलाफ है । ऐसे कई महानुभाव अपने जीवन में "जवारी के मोती" बनाने से वंचित रह जाते हैं । पर विचार करिये डॉ. राधा कृष्णन, जाकिर हुसैनादि भी राष्ट्रपति पद पर आसीन होते हुए भी धर्म को नहीं भूले । वे एक घंटे के लिये भी प्रतिदिन जैसी उनकी मान्यता थी, उसके अनुसार नित्यनियम करते थे । मेरे बंधुगण क्या सोच रहे हैं ? यह जीवन तो गया सो गया और अशांति भरकर आगे के जीवन को भी क्यों बेकार करना चाहते हैं ? यदि जो जीवन जवारी का मोती बनाने का है, उसे भी ऐसे ही गमावेंगे तो फिर शांति कहाँ मिलने वाली है ?

राजनैतिक स्थल पर रहने वाले सम्राट् उदायन अपने पोजीशन को, अपने मान-सम्मान को मुख्यता नहीं देते थे, वे वीतराग धर्म को मुख्यता देते थे । वे धर्मनीति के साथ राजकीय नीति का पालन करते थे । चंद्रप्रद्योतन ने कुटिलता-पूर्वक उदायन महाराज की एक दासी स्वर्ण गुटिका का अपहरण कर अपनी रानी बनाना चाहा । उदायन महाराज को जब मालूम हुआ तो उन्होंने विचार किया कि मैं धर्म नीति के साथ राजकीय नीति का भी व्यवहार कर रहा हूँ । वे मेरे बराबर के सम्राट् हैं । वे चाहते तो मैं हर्षपूर्वक दासी भेंट कर देता । पर यह चोरी का कार्य मानव के लिए कलंक है तो फिर राजा के लिये तो कहना ही क्या ? मैं अनीति का प्रतिकार नहीं करूँगा तो वीतराग धर्म के प्रति दुनिया की उपेक्षा होगी कि वीतराग का धर्म दुनिया को कायरता सिखाता है । वीत-राग देव के सिद्धान्त इतने व्यापक व विशाल हैं कि उन्हें एक झोपड़ी में रहने वाला मजदूर भी अपना सकता है ।

श्रावक होते हुए भी अन्याय के प्रतिकार के लिये उन्होंने युद्ध करना उचित समझा । उदायन ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया । उन्होंने केवल चण्डप्रद्योत को हराया ही नहीं अपितु उसे बंदी भी बना लिया । जब वे वापस अपने राज्य की ओर सेना एवं बंदियों को लेकर लौट रहे थे तो मार्ग में संवत्सरी महापर्व का अवसर आ गया । ख्याल आया कि संसार का कारोबार तो चलता ही रहता है पर मुझे आध्यात्मिक पर्व को नहीं भूलना है । युद्ध सामग्री बाहरी राजनीति के साथ वे आत्मा की नीति को नहीं भूलते थे । युद्ध में जाते समय अन्य युद्ध की सामग्रियों के साथ आत्मा को पोषण देने वाली सामायिक, पौषधादि के उपकरण भी अपने साथ रखते थे । रास्ते में दशपुर जिसे आज मंदसौर कहते हैं, वहाँ तक पहुँचे और ज्ञात हुआ कि समग्र विश्व के प्राणियों को, छोटी सी छोटी आत्मा के लिए हितकारी संवत्सरी पर्व आ गया है । अतः सबसे वैर-विरोध मिटाना-खमत खामणा करना है, वह संवत्सरी पर्व पर ही हो सकता है । सेनापति को आदेश दिया—सैन्य विहार स्थगित कर दिया

जाय और यहीं पर पड़ाव डाल दिया जाय । वहाँ पौषध शाला के योग्य मकान नहीं हैं । अत: एक सफेद वस्त्र का टेंट लगाया जाय । क्योंकि १८ पापों से निवृत्त हो पूर्व के पापों की आलोचना व प्रायश्चित के लिए आज प्रतिपूर्ण पौषध करने का प्रसंग है । जो वास्तव में १८ पापों से अपने दिल को साफ कर लेता है, उसी का जीवन ऊँचा उठता है और वही वीतराग देव का सच्चा अनुयायी है । यही सोचकर महाराज उदायन ने अपनी साधना में बैठने के पूर्व की तैयारी की और अनीति का प्रतिकार करने के लिये यदि चंद्रप्रद्योतन के साथ संग्राम किया, तथापि उसके साथ घृणा का व्यवहार नहीं किया, यहाँ तक कि जब भोजन करते थे तब भी स्वयं की थाली में एक साथ बैठकर भोजन करते थे । संवत्सरी के प्रसंग से वे सोचने लगे कि आरम्भ–समारम्भ आदि १८ पापों का त्याग करना है ।

मनुष्य के प्राणों को सुरक्षित रखने के लिए भोजन आवश्यक है किन्तु इस भोजन को बनाने के लिए षट्कायिक जीवों की हिंसा करनी पड़ती है, पर पौषध व्रत में इस आरम्भ–समारम्भ का त्याग होता है । मैं पेट को खुराक नहीं देना चाहता । आज वीतराग देव की परम संस्कृति का दिन है, यदि खाने-पीने राग-रंग, मौज-शौक में पड़ जाता हूँ तो यह शुभ मुहूर्त चला जाता है । दुनिया भर की हिंसा का कार्य मैं आज के प्रसंग से नहीं करना चाहता । १८ पापों में बड़ा पाप हिंसा का है पर वैसे मिथ्या दर्शन कहा जाता है । जो १८ पापों से लिप्त अपने हृदय को खाली करता है वही सच्चा सम्यक्दृष्टि है । आज संवत्सरी के प्रसंग से आपको सोचना है कि इस २४ घंटों की साधु-साधना में बैठकर अपनी आत्म-आलोचना करके प्रतिपूर्ण पौषध करना है, पर वे सम्राट् ये नहीं भूले की मेरे आश्रित चंद्रप्रद्योतन है । इसके भोजन का बंदोवस्त करना है ।

आज आपको भी चिंतन करना है कि घर में रोगी है या वृद्ध है, वे पौषध नहीं कर सकते । पुत्र पौषध करना चाहता है तो वह यह सोचे कि पहले मैं माता-पिता का बंदोवस्त तथा उनकी व्यवस्था करके पौषध करूँ । उन वृद्ध माता-पिता या जिनको कोई खिलाने वाला नहीं है उनकी विना व्यवस्था किये पौषध करता है तो मूल व्रत में दोष लगता है । जो गर्भवती वहिन हो या बच्चा स्तनपान करता हो, उसे भी तपश्चर्या का विशेष विवेक रखना चाहिये । वे ब्रह्मचर्य का पालन भी कर सकती हैं पर जिससे इसका पालन न हो तो कम-से-कम पंचेन्द्रिय प्राणी की घात होती हो ऐसा प्रयास तो न करे ।

महाराज उदायन सोचते हैं कि आत्मीयता के नाते ये मेरे भाई हैं । मैं वीतराग की आज्ञा में २४ घंटों के लिये समर्पित होऊँगा । उस समय मुझे कुछ भी मत पूछना और जब मैं पौषध पालकर पूर्व की स्थिति में आ जाऊँ तब

आपके साथ पूर्ववत् व्यवहार करूँगा । चंद्रप्रद्योतन शंका करने लगे कि ये पौषध का वहाना करके २४ घंटे आहार–पानी का त्याग कर रहे हैं । पर हो सकता है मुझे मारने की दृष्टि से आज कहीं भोजन में पोइजन मिला दिया गया तो मेरा तो जीवन ही समाप्त हो जाएँगा । उसने भी ऊपरी दिल से, चाहता तो नहीं था पर किसी से पूछा कि ये पौषध क्या होता है ? ये वीतराग की बातें चंद्रप्रद्योतन ने सुनी कि मैंने अनैतिकता से दासी चुराई, मेरे मस्तक पर जो चिह्न है, यह मरण से भी अधिक है । ये साथी समझा रहे हैं कि महाराज के साथ कोई पौषध में लगते हैं तो उसके जीवन में चार चांद लग सकते हैं । चंद्रप्रद्योतन ने कहा—महाराज ! आज आप वीतराग देव की परम पावन संस्कृति में रहते हुए २४ घंटे के लिए पौषध कर रहे हैं तो मैं भी आपके साथ पौषध करना चाहता हूँ । उदायन सम्राट् ने कहा—अवश्य करिये । शत्रु और मित्र के एक होने का प्रसंग है तो चलो मेरे साथ पौषध कर सकते हो ।

बन्धुओ ! पहले के श्रावकों का आचार देखिये । अपने साथ ही अन्यों के लिए धार्मिक साधनों को रखकर चलते थे । वे जानते थे कि सभी भाई–बहिन सामायिक का समान साथ नहीं लाते पर सामायिक या पौषध की भावना रखते हैं । तो मेरा सामान उनके भी काम आ सकता है । इसलिए महाराज ने एक्स्ट्रा उपकरण रख रखे थे । वे मंगवाये और उस चंद्रप्रद्योतन को दे दिये ।

बन्धुओ ! आप ये सांसारिक पोषाक तो २४ घंटे रखते हैं, १ घंटे के लिये भी इस पोषाक को नहीं उतारते हैं तो आपकी इस बाहरी पोषाक का भी प्रभाव पड़ता है । सामायिकादि में दर्जी के सिले हुए कपड़े न रहें । इन्हें उतारकर अलग रख देना चाहिये । सारे मोह ममत्व का त्याग करके बैठना चाहिये । सामायिक पौषध की विधि के अनुसार चंद्रप्रद्योतन ने भी उतार दिया और महाराज की देखादेख पौषध की आराधना की । ये संवत्सरी पर्व की आराधना कैसे, क्या हो ? इसका ज्ञान नहीं करेंगे तो ऐसे हर साल संवत्सरी आती है और जाती है, वैसे यह भी चली जायेगी ।

"खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती में सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई ।।"

ये वीतराग देव के वाक्य कब चरितार्थ होंगे, जब कि पौषध व्रत में किसी भी जीव की हिंसा का उपमर्दन नहीं करेंगे, तो ही सच्चे अर्थों में क्षमा याचना होगी । 'कषाय-मुक्ति किल मुक्तिरेव' की स्थिति से किससे क्षमा याचना करेंगे ? सबसे पहले महाराज से क्षमा कर लेंगे, पर सच्ची क्षमा किससे करनी है कि जिनके साथ मन मुटाव हुआ है । जिनके कलेजे में चोट पहुँचायी है उनसे क्षमा याचना करके उनके हृदय को ठारना चाहिये । शास्त्रकार फरमाते हैं—

"जे उवसमइ तस्स होई आराहणा ।
जे नो उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा ।।"

चाहे साधु हो या श्रावक, जो कषायों को, क्लेशों को उपशमाता है वही आराधक है, जो नहीं उपशमता वह आराधक नहीं है । यहाँ तक कि जो जिंदगी भर नहीं खमाता है, तो मिथ्यात्व में चला जाता है ।

"उवसम-सारं खलु सामण्णं ।"

संयम चाहे सर्व संयम हो अथवा देश संयम हो, संयम का सार उपशम है, वैर-विरोध, क्लेश-कषायों का उपशमन करना ही संयम है । आज के इस महान् पर्व का एक मात्र दिव्य संदेश है उपशम ! स्वयं शांत बनिये और दूसरों को भी शांति दीजिये । मैत्री भाव को स्थापित करिये ।

"खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती में सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ।।"

आत्मा के अन्दर से यही नाद प्रकट होना चाहिये कि मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ और सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें । संसार के किसी भी प्राणी के साथ मेरा वैर नहीं है, प्राणी मात्र के साथ मेरी मैत्री रहे । यह अन्तर्नाद जब आत्मा से स्फुरित होता है, वाणी द्वारा प्रकट होता है, आचरण में आता है तो आत्मा निर्मल हो जाती है, शल्य रहित हो जाती है और कर्मभार से हल्की होकर परम शांति का अनुभव करती है । उदायन महाराज कहने लगे—मैं वीतराग देव की संस्कृति में हूँ । मैं भी आपके साथ वीतराग देव की आज्ञा में समर्पित होकर क्षमा का आदान-प्रदान करता हूँ । उन्होंने क्षमा का आदान-प्रदान किया, पर चंद्रप्रद्योतन कहने लगे कि एक बात कांटे की तरह चुभ रही है । मेरे मस्तक पर यह दासीपति का पट जब तक रहेगा, तब तक मानसिक रोग बना रहेगा । उदायन ने कहा कि अभी मैं वीतराग के शासन में समर्पित हूँ, अतः इस पर्चे को हटाना ये पौषध सामायिक व्रत में नहीं किया जाता, अभी तो खमतखामणा करलो, जब मैं गृहस्थ पर्याय अर्थात् पौषध पारलूँ तब सारा कार्य हो जायेगा । सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के बाद जब क्षमा याचना का प्रसंग आया तो उदायन महाराज ने चंद्रप्रद्योतन से हार्दिक क्षमायाचना की । वे अपराधी को क्षमा करने के लिए तत्पर थे बशर्ते कि अपराधी अपना अपराध स्वीकार करले । चंद्रप्रद्योतन ने इसे छुटकारे का अवसर मानकर अपना अपराध स्वीकार कर लिया । उदायन महाराज ने संवत्सरी का पौषध पूर्ण होने पर उसे न केवल क्षमादान ही किया, अपितु उसका राज्य भी लौटा दिया । इतना ही नहीं जिसके लिये उन्हें संग्राम करना पड़ा वह स्वर्ण गुटिका दासी भी उसे उपहार रूप में दे दी । इसे कहते हैं वास्तविक क्षमा ।

आत्म शुद्धि का भव्य प्रसंग आज सभी के सामने उपस्थित है। मैं अति संक्षिप्त में यह सार कह गया हूँ। समय की अधिकता से मैं आपके अन्य कार्यक्रम में हस्तक्षेप नहीं करता। जो आत्मार्थी होते हैं वे चुपचाप होकर साधना में तन्मय हो जाते हैं। घाटकोपर संघ की पद्धति से कई महानुभावों के दिल में विचार भेद हो सकता है पर मनोभेद न हो अर्थात् मेरी मूंछ ऊँची रहे यह अंतर की ऐंठ रहेगी तो आत्म-शुद्धि नहीं हो पायेगी। संसार का झगड़ा तो संसार के साथ है पर बातों का झगड़ा न मिटा सकते हो तो वह मुझे बहरादो। मैं भी एक भिक्षुक हूँ। कार्यकर्ताओं में कोई मन मुटाव हो तो मैं यहाँ बैठा-बैठा ही भिक्षा मांग लेता हूँ। भिक्षुक होने के नाते मैं भी आपसे भिक्षा मांगता हूँ। वैसे तो संत अपनी स्थिति से आप लोगों के घरों में से यथासमय-यथावसर भिक्षा लाते ही है पर आपके पास जो राग-द्वेष, वैर-विरोध की ग्रंथियाँ हैं, कषायों का कर्दम है, ये सारो बातें मेरी झोली में डालकर उदायन महाराज की प्रक्रिया को अपना कर अपना शुद्धिकरण करें। संध्या के प्रतिक्रमण में षट्कायिक जीवों की विराधना न हो, इसके लिए (माईक आदि) का उपयोग किसी साधक को नहीं करना चाहिये। यह निर्णय सारी बम्बई में लागू हो। क्योंकि माईकादि का प्रयोग वीतराग देव की संस्कृति को घात पहुँचाने वाला है। उनको जान लें और जानकारी न हो तो कम से कम संस्कृति को नीचे तो न गिरायें। अन्यथा स्वयं का जीवन तो बिगड़ेगा ही पर अनंत तीर्थंकरों की अशातना का प्रसंग भी उपस्थित हो जायेगा। जहाँ एक जीव की अशातना के लिए माफी मांगते हैं तो वीतराग देव की अशातना की माफी कैसे मांग सकेंगे? मैं नहीं चाहता कि छोटी से छोटी आत्मा को चोट पहुँचाऊँ पर प्रतिक्रमण के बाद खमतखामणा का प्रसंग तो आता ही है। पर मैं षट्कायिक जीवों के साथ, वीतराग संस्कृति के साथ मेरे द्वारा वीतराग देव की, सिद्धान्त के प्रतिकूल एक इंच के अनन्त वे भाग भी कुछ प्रतिपादन हुआ हो तो मैं तीर्थंकर देवों की और पूर्व के महापुरुषों ने जो यह जीवन दिया उन सबकी अशातना मेरे द्वारा हो गई हो तो मैं खमतखामणा कर लेता हूँ और साथ ही चतुर्विध संघ से भी आत्मा की पवित्रता के साथ खमतखामणा करके अपने विषय को समाप्त करता हूँ।

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२०-८-८५
मंगलवार

५१ तप से सिंचित करो जीवन को

धर्म-स्थान में मानव समुदाय के उपस्थित होने का उद्देश्य रहा हुआ है। कारण स्पष्ट है। स्थान बहुतेरे होते हैं, लेकिन धर्म-स्थान की विशेषता रही हुई है कि वे वहाँ पहुँच कर जिनेश्वर की भक्ति कर सकते हैं, प्रभु की सेवा कर सकते हैं और वास्तविक जीवन को सुखी व समृद्धिशाली बना सकते हैं। चतुर व्यक्ति इसी उद्देश्य को लेकर धर्म-स्थान में पहुँचते हैं। प्रभु भक्ति, प्रार्थना, उनकी सेवा बाहरी सेवा नहीं है। पिता की पुत्र जैसे सेवा करता है, वैसी सेवा नहीं है। वह सेवा आन्तरिक जीवन से विशेष फलित होती है। वह अन्तर में झांकता है। अन्तर जीवन में प्रवेश पाता है, बहुत गहराई में चला जाता है तो प्रभु की सेवा उसे वहाँ प्राप्त होती है।

ज्ञानीजनों ने प्रभु को अन्तरयामी कहा है। वे अन्तर की बात को जान सकते हैं। स्वयं अन्तर में परमात्म शक्ति रहते हुए भी यह शरीर, ५ इंद्रियाँ उस परमात्मा को जान नहीं पातीं। मानव अपनी आदत के अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसी में अपनी जिन्दगी को समाप्त कर देता है। यदि उसे यह विज्ञान हो जाय कि मैं ५ इन्द्रियाँ और मन से जो कार्य कर रहा हूँ उसमें मेरी ममता अहमता जुड़ी है, तब तक अन्यान्य उपलब्धियाँ नहीं पा सकता। साथ ही तब तक शरीर में रहे हुए अन्तर ज्ञानी प्रभु को भी पा नहीं सकता। इस अहंता और ममता को छोड़कर ५ इन्द्रिय और मन को परमात्म भक्ति में लगाऊँ तो मेरे अन्तर में परमात्मा प्रकट हो सकेंगे। ऐसी भावना उसे आगे बढ़ा सकती है। ऐसी दृढ़ आस्था वस्तुतः तत्वज्ञानी में ही उत्पन्न हो सकती है। जो तत्वज्ञानी नहीं है, वे अपने आचार और व्यवहार को अन्य स्थल पर समर्पित करके चलते हैं। जहाँ समर्पित करना चाहिए वहाँ नहीं करते हैं। एक तत्वज्ञानी साधक गंगा तट पर मस्ती के साथ भ्रमण कर रहे थे, वहाँ देखा—कुछ मुमुक्षु गंगा तट पर झुक कर पानी भरते हैं और सूर्य की तरफ मुँह करके पानी उडेलते हैं और सोचते हैं कि हमने सूर्य को अर्पणा दी। उस तत्वज्ञानी ने भक्तजनों की यह स्थिति देखी तो पूछने लगा आप यह क्या कर रहे हैं तो उन्होंने कहा—हम सूर्य को पानी दे रहे हैं, अर्चना कर रहे हैं। यह सुनकर वह साधक गंगा में झुक कर पानी भर कर पश्चिम की ओर मुँह करके पानी उडेलने लगा। भक्तों ने देखा और सोचा यह क्या कर रहा है। पूर्व की ओर पानी समर्पित करना तो भक्तों

का काम है पर यह तो पश्चिम की ओर पानी समर्पित कर रहा है। ऐसा देख उनसे रहा नहीं गया और आश्चर्यान्वित हो उस साधक के पास जाकर कहा कि आप साधक हैं, भगवत् भक्ति के लिए निकले हैं। पर यह उल्टी प्रक्रिया कैसे अपनाई ? सीधी प्रक्रिया तो हम कर रहे हैं, यह उल्टी प्रक्रिया तुम कैसे अपना रहे हो ? उसने कहा—भाई ! तुम सूर्य को पानी अर्पित कर रहे हो, पर मैं मेरे देश को पानी अर्पित कर रहा हूँ, मेरा देश पश्चिम की तरफ है। वहाँ पानी की कमी है, फसलें सूख रही हैं। गंगा में बहुत पानी है इसलिए उस ओर देखकर गंगा का थोड़ा पानी दे रहा हूँ जिससे वह वहाँ तक पहुँच जाय और फसल अच्छी हो। यह सुनकर वे ठहाका मारकर हंसने लगे कि क्या तुम तत्वज्ञानी हो और तत्वज्ञान का यही परिणाम है। कहाँ तुम्हारा देश, कहाँ फसलें और कहाँ पानी अर्पित कर रहे हो ? तुम्हारा पानी क्या तुम्हारे खेत तक पहुँच जाएगा ? इस तरह तुम क्या सोचकर क्या कर रहे हो ? तब साधक ने बड़ी गम्भीरता के साथ उत्तर दिया कि यदि आपका पानी सूर्य तक पहुँच सकता है तो निश्चित ही यह पानी भी मेरे देश में, मेरे खेतों तक पहुँच सकता है। भक्त चिन्तन करने लगे कि वास्तव में कहाँ सूर्य और कहाँ हम ? हमने अपनी कृत्रिम सन्तुष्टि के लिए पानी को उधर उडेल दिया। यह बात सही है। जब हमारा पानी सूर्य तक नहीं पहुँच सकता तो, उनका पानी खेतों तक कैसे पहुँच सकेगा ?

बन्धुओ, कहने का मतलब यह है कि कुछ भी प्रक्रिया करो, इन्द्रियों का व्यापार करो कि शरीर की शक्ति कहीं भी लगाओ पर काम वही करो जहाँ आवश्यकता हो। भगवान् की भक्ति करना है, सेवा शुश्रुषा करना है तो भगवान् कहाँ हैं, कहाँ उनकी भक्ति है यह जानो। जहाँ रोग है, इलाज उसी का होगा। रोग तो है मस्तिष्क का, इलाज हो रहा है शरीर का तो कैसे रोग शान्त होगा ?

आप शान्ति पाना चाहते हैं और क्रिया भी करते हैं पर तत्वज्ञानी के अभाव में सारी प्रक्रियाएँ जिस स्थान पर होनी चाहिये उस स्थान पर न होकर अन्य स्थान पर हो रही हैं। उन मुमुक्षुओं की जिज्ञासा बढ़ी और पूछने लगे कि हमें वह उपाय बताओ ? साधक ने उसे समझाया कि तुम को यदि भगवान् पाना है, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व समस्त विश्व से सितारे पाने हैं तो जब तक आँखें फाड़कर देखते रहोगे तब तक पा नहीं सकोगे, यदि पाना है तो केवल एक भगवान् को पा लो, उन्हें पाने के बाद फिर ये सब कुछ प्राप्त हो जायेंगे, वास्तव में भगवत् भक्ति करनी है तो अपने अन्दर की अनादिकालीन वृत्तियों को देखना होगा और उन्हें देखकर उन अशुभ प्रवृत्तियों को बदलो और सद् चित् आनन्द रूप आत्मा को जगाओ। उसी में सच्ची भक्ति है। इसीलिए कवि ने कहा—

ढाल तलवार नी सोहली-दोहली ।
चदहंवा जिण-तणी चरण सेवा ।।

तलवार की धार पर चलना कठिन है, कदाचित् कोई बाजीगर तलवार की धार पर चल सके और देव वैक्रिय लब्धि से चल सकते हैं पर तत्वज्ञान की दृष्टि से परमात्मा की उपासना करना उस धार से भी तीक्ष्ण है। उस पर तो विरले व्यक्ति ही चल सकते हैं। सबसे पहले ५ इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होना पड़ता है किन्तु मानव दृश्य पदार्थों को देखकर उसे ही सब कुछ मान रहा है पर आवश्यकता है भीतर में जो चैतन्य देव है, उसे जगाने के लिए महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाने की। वैज्ञानिक प्रक्रिया के कुछेक आदर्श इतनी लम्बी तपस्या के रूप में सामने आ रहे हैं। अंजनाजी के ३० उपवास हैं और पहले पुष्प मुनिजी ने ४४ किये। वैसे ही अन्य-अन्य तपस्याएँ भी चल रही हैं। अन्न-पानी का त्याग क्या है? इससे प्रभु भक्ति की स्थिति कैसे क्या सध सकती है? श्रद्धा भक्ति से किसी बात को मान लेना एक बात है, और तत्व ज्ञान से समझ लेना दूसरी बात है। आज विज्ञान का युग है। आप उस तरीके से सोचें कि हमें अपना प्रयत्न अन्तर की ओर करना है। अहमता और ममता के हेतु जो बाधक तत्व हैं उनको जब तक नहीं तोड़ा जाएगा तब तक अहं नहीं हटेगा। वह अन्तर में झांक भी नहीं सकेगा। इन्सान सोचता है अन्न छोड़ दूँगा तो मैं दुर्बल हो जाऊँगा, कमजोर हो जाऊँगा, रूप विद्रूप हो जायेगा। इस भावना से वह तपस्या कर नहीं पाता। कई भाई तो उपवास में भी इस प्रकार की ही कल्पना करते हैं। जब शरीर पर, इन्द्रियों पर ममत्व है, अहंता का पोषण है तो इन सबल किलों को तोड़े बिना मनुष्य भीतर में प्रवेश नहीं कर सकता। इसके लिये शक्ति के अनुसार तपस्या भी करनी चाहिए। तपश्चर्या से जीवन में बहुत कुछ उपलब्धि हो सकती है, वह इस जीवन के बाद मिलेगी इस बात को गौण करिये। बाद में तो मिलेगी ही, वर्तमान में भी मिलती है। वर्तमान में व्यक्ति जिन अशांत परिस्थितियों में जी रहे हैं। वह अशांति भी समाप्त हो सकती है इस तप के माध्यम से, बशर्ते कि तप की जो विधि है उस विधि से तप किया जाय। आप व्यापारी हैं। कई बार ऐसी समस्या आ जाती है उसका हल खोज नहीं पाते। व्यापार में उलझ जाते हैं, इसी प्रकार विद्यार्थी स्वयं अध्ययन कर रहा है पर गणित के सवाल को सुलझा नहीं पाता। इनमें अनेक कारणों के साथ अधिक खान-पान में आने वाली विकृति भी एक कारण बन जाती है। इसी प्रकार अन्य भी कई मानव सोच नहीं पाते। कारण स्पष्ट है कि यह शरीर है और शरीर को दी जाने वाली खुराक कुछ अधिक खाने में आ जाय तो सोचने की क्षमता कम पड़ जाती है। अन्दर की प्रक्रिया जो चलती है वह सीमित है। और वह अपनी शक्ति अनुसार कार्य करती है। मनुष्य खाने का इतना आदी है कि भूख हो या न हो तो भी खाना तो खाना ही है। यह एक प्रवृत्ति सी बन गयी है। ज्यादा खाने से पहले का भोजन पच नहीं पाता है और नया ऊपर से डाल दिया जाता है तो अन्दर की शक्ति उसे इधर-उधर डालना चाहती है तो उस समय वात, पित्त, कफ, ये तीन रोग उत्पन्न होते हैं। वात का

प्रकोप हो जाता है तो मनुष्य का मस्तिष्क घूमने लगता है, पित्त का प्रकोप बढ़ता है तो तेजाब बढ़ जाता है। जिससे पेट में जलन होती है। कफ का प्रकोप बढ़ता है तो श्लेषम बढ़ जाता है।

आयुर्वेद की दृष्टि से बता रहा हूँ कि जब शरीर में रोग बढ़ जाते हैं तो स्वयं के भीतर में जो अन्तरयामी है उसका भी मनुष्य शांति से चिन्तन नहीं कर पाता। वह यदि एक रोज का उपवास कर लेता है तो सारी बीमारी नष्ट हो जाती है। जहाँ बड़ी-बड़ी मशीनों को भी आठ रोज में एक रोज छुट्टी देने का प्रसंग सुना है पर मानव की मशीन ऐसी है कि उसे एक रोज की भी छुट्टी नहीं दी जाती है। मस्तिष्क को भी छुट्टी नहीं देते हैं। आप छुट्टी के दिन भी अन्य-अन्य काम में दिमाग को दौड़ायेंगे। बंधुओ! इस पाचन क्रिया पर कितना अन्याय और अत्याचार करते हैं। ऊपर से कहते हैं बाहर की हिंसा नहीं करते हैं, उससे बचते हैं और बचने का उपदेश देते हैं पर कहीं स्वयं की घात तो नहीं कर रहे हैं ?

जहाँ मैं थांदला के पहाड़ी एरिया में विचरण कर रहा था वहाँ भीलों को मामा कहकर बुलाया जाता है। एक कांग्रेसी नेता मेरे पास आया। बोला कि आप हिंसा-अहिंसा आदि की बात करते हैं पर भारत की अन्न समस्या कैसे हल होगी ? अहिंसा से तो होगी नहीं।

आपका दिमाग। आज शरीर भले ही भारतीय संस्कृति का हो पर मन पाश्चात्य संस्कृति की ओर जा रहा है। मैंने उससे पूछा कि भारत की जनसंख्या कितनी है ? उस समय साठ करोड़ के लगभग जनता थी। तब मैंने कहा—एक समय में एक व्यक्ति औसतन कितना खाना खाता है। एक किलो खाता है, उस नेता ने कहा। मैंने कहा—जब साठ करोड़ जनता है तो उसमें से पचास करोड़ जनता सप्ताह में एक रोज उपवास रखे तो कितना अन्न बच सकता है ? बारह महिनों का हिसाब लगाओ। यह आपकी गणित का विषय है। आप हिसाब करिये। इतना अन्न अभावग्रस्त लोगों के काम आ सकता है। जहाँ मनुष्य को भूख नहीं है तो भी ज्यादा खाता है तो पाचन क्रिया तो बिगड़ती है और अनेक व्याधियाँ पैदा हो जाती हैं। चूर्ण, नमकीन, भुजिया की कहाँ इस शरीर को आवश्यकता है पर वह जीह्वा के वशीभूत होकर इन चरखी-फरखी चीजों को खाता जाता है। फिर रोग पैदा होता है तब डॉक्टर की शरण में जाता है और कभी-कभी अपने जीवन को नष्ट भी कर देता है। यदि सादी-सीदी सात्विक भोजन की स्थिति रखे तो कितनी क्या व्यवस्था सुधर सकती है। अन्न के अभाव में जितने नहीं मरते हैं उतने ज्यादा खाने से मरते हैं। भगवान महावीर ने तप का स्वरूप बताया पर आज अधिकांश रूटिन तरीके से तप करते हैं। तप का जो अध्यात्मिक अर्थ बताया, उसे समझने की आवश्यकता है। आज विदेशी लोग

भी उपवास चिकित्सा में उत्साह ले रहे हैं और प्राकृतिक चिकित्सक आज इस उपवास चिकित्सा से रोगों को नष्ट करने में कामयाब हो रहे हैं। उदयपुर में प्राकृतिक चिकित्सक ने बताया कि एक व्यक्ति रोज इंजेक्शन खाता था। इंजेक्शन से सारा शरीर बींध गया, डॉक्टर की तरफ से उत्तर मिल गया कि अब तुम्हारा कोई इलाज नहीं होगा, वैद्य ने भी जवाब दे दिया। तब वह प्राकृतिक चिकित्सा की स्थिति में पहुँचा तो चिकित्सक ने कहा कि उपवास करना पड़ेगा, रोज एनिमा में गर्म पानी से सफाई की जाती थी। रोगी ने कहा—कुछ भी नहीं निकलता है फिर उपवास क्यों करवाया जाता है ? परन्तु ३०वें दिन उसके शरीर से इतना गन्दा मल निकला कि आसपास के लोगों को भी दुर्गन्ध आने लगी। इस प्रकार ४०वें दिन तक यह प्रक्रिया करवाई गयी।

आयुर्वेदिक उपचार में कायाकल्प का सिद्धान्त है। भगवान महावीर ने और अन्य-अन्य महर्षियों ने तप का बहुत महत्त्व बताया है। केवल अनशन ही तप नहीं बताया, ध्यान, मौन साधना भी तप बतलाया है। ये सारी प्रक्रियाएँ अन्तर तक ले जाने वाली हैं। अन्तर्चेतना में प्रवेश कराने वाली, अन्तर बुद्धि को निर्मल बनाने वाली हैं। एक समय का प्रसंग है। एक प्रतिष्ठित परिवार के सेठ के इकलौते पुत्र की शादी कर दी गई। संयोग से पुत्र का स्वर्गवास हो गया। घर में दो सदस्य ही रह गये—श्वसुर और बहू। सेठ ने सोचा मेरे अन्तर की शुद्धि तप के द्वारा ही हो सकती है। और मैं तप का सेवन करूँगा तो बहू भी करेगी, ताकि इसका जीवन भी अच्छा रह सकेगा। सेठ ने आभ्यन्तर तप की स्थिति से पुत्र-वधू से कहा कि ये बढ़िया भोजन, बढ़िया दृश्य, मनोरम गायन मुझे गमता नहीं है अतः मुझे तो अन्तरयामी की तरफ जाना है इसलिए मेरे लिए सीधा-सादा भोजन तैयार करना और तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो। बहू ने विचार किया कि ऐसा कैसे हो सकता है, उसने भी सादा भोजन, सादी वेशभूषा में रहना शुरू कर दिया। सादा जीवन जीने लगी। "इच्छानिरोधो तपः" इच्छाओं का निरोध-संशोधन करना भी तप है। कुछ दिवस अनन्तर बहू के पीहर से आमन्त्रण आया कि तुम्हें बहुत वर्ष हो गये हैं, यहाँ आये को। भाई का विवाह है, तुम आ जाओ। माता-पिता का ममत्व बड़ा अजीब का होता है पर उस बहू में एक विशेषता थी कि श्वसुर को बिना पूछे कार्य नहीं करती। पत्र ले जाकर श्वसुर को दिया। श्वसुर ने देखा और सोचा कि पिता ने इसे जन्म दिया पर जीवन की सर्जना नहीं की। कर्मों की विडम्बना विचित्र है। पुत्र चला गया। उसे वैधव्य जीवन में आना पड़ा पर इसे विवाह में जाने से कैसे रोका जाय ? ५ इन्द्रियों की विषय विकार की स्थिति ऐसे प्रसंगों में अधिक उपस्थित होती है, पनपती है। सेठ ने कहा—तुम वहाँ जाकर क्या करोगी ? उसने कहा— मैं तो जाऊँगी। सेठ ने छुट्टी दे दी। वह पीहर पहुँची। सादी सीधी पोशाक देखकर माँ कहने लगी कि अरे ! तेरा शरीर कितना दुर्बल हो गया, कितनी कृश हो गयी, कैसा कंजूस है

तेरा श्वसुर जो पहनने को अच्छे वस्त्र और खाने को अच्छा भोजन भी नहीं देता है। उसके सभी सादे सीधे वस्त्र उतरवाकर उसे अच्छे नये वस्त्रा भूषणों से सुसज्जित कर दिया। जो कुछ उसकी अन्तर्यामी की ओर मुड़ने की भावना थी, उस पर पर्दा पड़ गया। १५ दिनों में तो कुछ का कुछ हो गया। जब वह ससुराल आई और अच्छा भोजन तैयार कर सेठ के सामने रखा तो सेठ ने कहा कि मेरा जवान लड़का चला गया। उसके अभाव में मैं तो ऐसा भोजन नहीं करूँगा। तुम करलो।

उसके पीहर रह जाने से सारी वृत्तियों में तामसिक वृत्तियाँ आ गई थीं। वह सोचने लगी कि मुझे तो पुनर्विवाह करना है। उसने अपनी भावना श्वसुर के सामने रखी। देखिये! सेठ बड़े मनोवैज्ञानिक थे। कहा कि मैं तो वृद्ध हो गया। मेरे घर की, परिवार की, प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला कोई हो, ऐसा विचार मैं कई दिनों से कर रहा था। पर तुम्हारी तरफ से कुछ भी संकेत नहीं मिला। तुम चिन्ता मत करो, आराम से खाओ-पीओ, मैं तुम्हारे योग्य वर तलाश करता हूँ। दूसरे दिन सेठ दिन भर साधना में लग गये। सेठ ने भोजन नहीं किया तो बहू ने सोचा कि अहो! मेरे श्वसुर कितने दयालु हैं। मेरे वर की खोज में खाना भी नहीं खाया। २४ घण्टे तक सेठ ने भोजन नहीं किया तो उसने भी नहीं किया। दूसरे रोज पारणे की सामग्री तैयार की और श्वसुर से पारणे के लिए कहा तो सेठ ने कहा—नहीं मैंने तो जो प्रण किया है, जब तक उसकी पूर्ति नहीं होगी मैं तब तक भोजन नहीं करूँगा। आज मैंने एक लिस्ट उतारी है योग्य लड़कों की और खोज करने पर पता चला कि कोई इन्द्रियलोलुपी है तो कोई चरित्रहीन है। मेरे कुल के योग्य एक भी लड़का नहीं मिला, अतः मैं भोजन नहीं करूँगा।

बेला हो गया। इधर वह भी सोचती है कि वर मिलेगा जब मिलेगा मैं अभी तो इन गहनों के भार से हल्की हो जाऊँ और ये सुन्दर वस्त्र भी उतार दूँ क्योंकि तपस्या में यह भी भारभूत लगते हैं। जब वर आयेगा तब इन सबको पुनः धारण कर लूँगी। तीसरे दिन पारणे की तैयारी कर श्वसुर से कहने लगी। अब तो आप पारणा करिये। तब सेठ ने कहा – बेटी अभी कमी रह गयी है, आधा काम तो हो गया है, थोड़ी खोज और करनी है, खोज जारी है। तुम तो पारणा कर लो। कार्य पूर्ण होने पर मैं भी कर लूँगा। तब वह सोचने लगी कि पिताजी मेरे लिए ३ दिन से भूखे हैं तो मैं कैसे भोजन कर लूँ? तीसरी रात होने पर विचारों में शुद्धता आई, बुद्धि में निर्मलता आई। क्या मैं पशु तुल्य जीवन बीता रही हूँ? हाय मेरा जीवन पशु तुल्य बन गया। मेरे पतिदेव चले गये पर मुझे एक निष्ठ होकर रहना चाहिए। अब मुझे अपने भगवान को ही अपना पति मानकर चलना चाहिए। मैं इन विषयों में इतनी आसक्त बन गयी कि मैंने अपने पिता तुल्य श्वसुर के सामने पुनर्विवाह की बात रख दी। चौथे दिन सादा भोजन बना कर श्वसुर को पारणा के लिए कहती है तो श्वसुर कहते हैं कि अभी

थोड़ा काम बाकी है वह पूरा होने दो । तव वह कहती है कि आप जिस वर की तलाश कर रहे थे वह वर मुझे मिल गया है । अव आप पधारिये । आप तो पधारिये वर मिल गया । मैं पीहर गई वहाँ वासना में भटक गई, मुझे इन्द्रियों का विषय वहाँ देखने को नहीं मिलता तो ऐसी भावना नहीं आती । अव मुझे किसी पुरुष की आवश्यकता नहीं, अब तो मुझे इच्छित वस्तु मिल गयी ।

बन्धुओ ! जहाँ रस का त्याग करते हैं, प्रतिसंलीनता तप की स्थिति बनती है और परमात्मा से अन्तरसूत्र जोड़ लेते हैं तो सभी विकार शान्त हो जाते हैं और एक दिन परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं । आत्म शुद्धि और परमात्मा का साक्षात्कार करने का पावन मार्ग तप है । आज इसका प्रसंग चल रहा है । शास्त्रीजी ने जब प्रधानमन्त्री थे देश को यह नारा दिया कि सप्ताह में एक दिन उपवास करना चाहिए । आपको याद हो या न हो पर मुझे याद है, शास्त्रीय बात की पुष्टि के लिए याद रखनी है । बन्धुओ ! इसका कितना महत्त्व हैं । अभी तो मैं इतना ही कहना चाह रहा हूँ कि श्रावण मास के प्रसंग पर तपश्चर्या हुई और हो रही है । विदुषी शासन प्रभाविका श्री इन्द्रकुँवरजी म० सा० ने भी ११ उपवास किये थे । परम विदुषी इन्द्रकुँवरजी म० सा० भी कैसे शासन की सेवा कर रही हैं । महासती श्री अंजनाश्री जी म० सा० आदि की ऐसी तपस्या में भाई-बहिन क्या अपनी भागीदारी डालेंगे । ध्यान रखिये इस तपस्या के पावन प्रसंग से अधिक न बन सके तो··· ·················· ······ इन्द्रियों पर काबू लाकर मोह, ममत्व, अहंकार तीनों को हटाने का प्रयास करें तो आप धीरे-धीरे अन्तर्यामी की ओर बढ़ेंगे और उनका दर्शन तप की वास्तविक पराकाष्ठा पर पहुँचने से ही हो सकता है । जो १२ विध तप द्वारा इस तलवार की धार पर चलता है तो उसका जीवन इस लोक-परलोक के सुखों का वरण कर सकता है । जैसे पश्चिम में पानी उंडेलने से खेत तक पानी नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार परमात्मा को देखने के लिए आकाश में आँखें फाड़-फाड़कर देखने से परमात्मा नहीं मिल सकते हैं । परमात्मा को पाने के लिए भीतर में दृष्टि डालिये, मोह, ममत्व, अहं के किले तोड़ने का रास्ता है तप । उसके माध्यम से भीतर में प्रवेश कर चलेंगे तो एक न एक दिन आपका जीवन मंगलमय अवस्था को भी प्राप्त कर पायेगा । इसी भावना के साथ······················

मोटा उपाश्रय
घाटकोपर, बम्बई

२५–८–८५
रविवार

५२ सेवा कैसे की जाय ?

वीतराग देव की परम पाविनी, अंतर जीवन को प्रक्षालन करने वाली यह जिनवाणी भव्यजनों के कल्याणार्थं जो उपदेश दे रही है, उस उपदेश को जीवन में जो मनुष्य उतारता है, वह वास्तव में वीतराग देव की सेवा करता है। आज के युग में सेवा की बात ज्यादा प्रचलित-प्रसरित है। सेवा की बात बहुत होती है, पर सेवा किसकी करनी, किस तरह करनी, उसका स्वरूप क्या है, सेवा से क्या होता है ? इन सारी बातों की जानकारी वीतराग वाणी के श्रवण से हो सकती है। बारह प्रकार के तपों में वैयावच्च भी तप है जो सेवा का ही एक पर्यायवाची शब्द है।

सेवा की वात आध्यात्मिक कवि भी कहते हैं कि प्रभु की सेवा करनी है। तब प्रश्न सहज ही सामने आयेगा प्रभु है कहाँ ? प्रभु सामने देखने को मिलें तो ही उनकी सेवा की जाय। जो प्रत्यक्ष नहीं हैं उनकी सेवा किस तरह करें ? जिस मनुष्य के सम्पर्क में दूसरे मनुष्य आवें और उसे कोई तकलीफ हो तो सेवा का कार्य वह अपने हाथ में ले सकता है। वृद्ध, रोगी, बुजुर्ग माता-पिता की सेवा का कर्तव्य पुत्र का होता है, और यदि वह पुत्र सेवा न करे तो वह उनके कर्तव्य से गिरता है। शास्त्रकारों ने माता-पिता का ऋण बहुत माना है और यह भी बताया कि अपने वृद्ध रोगी माता-पिता की किस तरह सेवा करने से वह उऋण हो सकता है। हाथ-पैर दबाने से माता-पिता का ऋण नहीं उतरता है, पर उन्हें भव-भवान्तर में सुखदायी धर्म में लगाने से उस ऋण से उऋण होया जा सकता है। आज कई मनुष्य वृद्ध, रोगी आदि की सेवा करते हैं। उन्हें नहलाना-धुलाना, भोजन कराना, औषधी देना आदि कार्य करके सोचें कि बस सेवा हो गयी, मैं उऋण हो गया, यह भी सेवा जरूर है, पर ऐसी सेवा तो एक नौकर अनुचर भी कर सकता है। सेवा का विषय गहन है। ऐसी सेवा परिपूर्ण नहीं है। धर्म संघ में साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की सेवा किस तरह करनी ? इसे भी जानना आवश्यक है। इन चार तीर्थों में जो श्रावक-श्राविका है। धर्म की दृष्टि से श्राविका अन्य श्राविका की सेवा कर सकती है। कई श्राविकाएँ पर्व के दिनों में पौषध लेकर बैठती हैं और उस समय उसे कोई रोग हो जाय तो अन्य पौषध वाली श्राविका उनकी हाथ-पैरादि दबाने की सेवा कर सकती है। यहाँ गृहस्थ का नाता नहीं है। संवर पौषध में रहने वाले श्रावक

का नियम अलग है। पौषध में रहने वाली श्राविका की सेवा पौषध वाली श्राविका कर सकती है। पर जो खुली है, खुली का तात्पर्य जो संवर, सामायिक या पौषधादि में नहीं है। वह उसके पैर दबावे या अन्य सेवा करे तो वह कर तो सकती है, पर पौषध में रहने वाली बहन सोचे कि मैं खुली बहन की सेवा न लूँ। यदि इस तरह की सेवा लेने का प्रसंग आता है तो थोड़ा-सा साधना में फर्क पड़ता है। जैसे श्राविका की बात है वैसे ही श्रावक संबंधी जानना चाहिये। कल्पना करिये जैसे—एक श्रावक को पौषध में रहते हुए तकलीफ हो गई तो अन्य पौषध वाला श्रावक आकर सेवा करे, यदि वह दूसरा श्रावक पौषध में सेवा न करे और सोचे कि यह बीमार है, चिल्ला रहा है, चिल्लाने दो, मैं क्यों सेवा करूँ तो वह अपने कर्तव्य से गिरता है। जैसे—श्रावक-श्राविका की बात है वैसे ही साधु-साध्वी की बात है। साध्वी समाज जो साध्वी पर्याय में रहकर पाँच समिति, तीन गुप्ति की आराधना करके चल रही है, उसे कोई तकलीफ हो जाय तो साध्वी की सेवा साध्वी ही कर सकती है। वह गृहस्थ से सेवा नहीं करवा सकती। क्योंकि गृहस्थ महाव्रतधारी नहीं है, वे केवल प्रासुक औषधि आदि की दलाली कर जैन भाई की दुकान बता सकते हैं, साथ में जा सकते हैं। पर कोई ऐसी बीमारी है या जैन की कोई दुकान नहीं है और गृहस्थ के घर भी औषधि स्वाभाविक रूप से नहीं मिल रही है, तो वह गृहस्थ कह सकता है कि ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना में सहायक यह शरीर है। इसकी परिपालना में भगवान् महावीर ने छः कारण से आहार लेना, छः कारण से आहार छोड़ने का विधान बताया है। आपके अभी संथारा की स्थिति नहीं है, रोगोत्पत्ति है, बाजार की लाई हुई औषध ले लें। क्योंकि कदाचित् वह आर्तध्यान की स्थिति में चला जाय तो उसे अगले भव की आयु बंध हो जाय तो अगला भव भी बिगड़ जाता है, अतः बाजार से दवाई लाकर भी दे सकता है, पर साधु स्वस्थ होने पर उसका प्रायश्चित ले लें। इस प्रकार सेवा के स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। जहाँ तक शरीर से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि हो, तब तक शरीर की रक्षा करना भी आवश्यक है। परन्तु जब श्रावक-श्राविका अपनी सीमा में रहते हुए साधु साध्वी को सीमा में रखकर सेवा करते हैं तो वास्तव में वीतराग देव की आज्ञा का पालन करते हैं। जो सेवा साधु साध्वी को लेने की नहीं है और वे लेते हैं तो संयमी जीवन में दोष का प्रसंग उपस्थित करते हैं। अगर वह दवा दोषयुक्त है, खरीदी है तो श्रावक भी स्पष्ट कह दे, ताकि प्रायश्चित लेकर साधु शुद्धिकरण कर सके। स्थानांग सूत्र के तृतीय ठाणे में बताया कि जीव हिंसा करके, झूठ बोलकर गृहस्थ आहार औषधि आदि देता है तो अगले जन्म में अल्पायु बाँधता है। पुण्यवानी तो बँधेगी पर आयु अल्प बंधेगी। जैसे—उच्च कुल में जन्म तो ले लिया पर छः वर्ष या दो वर्ष के बाद ही मर गया। अनेषणीय आहार देता है तो अगले जन्म की अल्पायु बंधती है। भगवान् की बताई विधि के अनुसार यदि साधु-साध्वी ने आपको शास्त्रीय दृष्टि से पूछ लिया और आप पर विश्वास

कर उस चीज को ग्रहण की और आप झूठ बोल गये तब वे तो अपनी स्थिति से निर्दोष रहेंगे पर श्रावक के अल्पायु का बंध हो जायेगा।

उदाहरण के रूप में एक साधु गृहस्थ के यहाँ गया, उसने अपनी अन्तरात्मा को नहीं ठगा। शास्त्रीय विधि से गवेषणा करता हुआ अंतिम विधि जो गृहस्थ को झूठ बोलने का त्याग करवाकर पूछने की है, वह भी पूरी कर लेता है। फिर भी गृहस्थ दुगुना झूठ बोलता है तो वह गृहस्थ अल्पायु बाँधता है। वहाँ केवली भगवान् बिराजते हों तो अपने ज्ञान में देख लेते हैं कि ये वस्तु-औषधी, आहार, पानी साधु-साध्वी वीतराग देव की बताई विधि से परिपूर्ण गवेषणा कर ग्रहण कर रहे हैं और इस गृहस्थ ने ठगकर इन्हें दोषयुक्त औषधि या आहार बहराया तो इनके लिए तो निर्दोष है। मैं तो नहीं लूँगा पर साथ ही वे साधु को ना नहीं करते। क्योंकि उस साधु के पास श्रुत अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान है और इसने शास्त्रीय ज्ञान से गवेषणा करली, पर मैं अपने ज्ञान से दोषयुक्त कह दूँगा तो आगे के साधु शंकाशील होकर संयम नहीं पाल सकेंगे।

बंधुओ ! मैं सेवा की बात बोल रहा हूँ। सेवा की स्थिति से वीतराग देव के सिद्धान्तों को समझना जरूरी है। कई लोग झूठ बोलकर, साधु को धोखा देकर कितना पाप उपार्जन कर लेते हैं। गृहस्थ को गृहस्थ के सामने भी झूठ नहीं बोलना है तो साधु-साध्वी के सामने तो झूठ बोलना ही नहीं चाहिये। आप यदि अगले जन्म की अल्पायु का बंध न करना चाहें तो भगवान् की विधि के अनुसार चलें। आज भाई-बहिन कहते हैं कि महाराज ! आपके साधु, साधु की और साध्वी, साध्वी की तो आपस में एक दूसरे की सेवा करते हैं, पर थोड़ी हम भी कर दें तो क्या हर्ज है ? तो साधु उससे सेवा नहीं करा सकता। किसी भी प्रकार से शरीर का स्पर्श करके अन्य सेवा नहीं करा सकता। इसी प्रकार जैसे—यह पाटा है, कई भाई भावुकतावश कह देते हैं कि महाराज ! हम पाटा बिछा देते हैं। भावना अच्छी है पर गृहस्थ को साधु का पाटा नहीं उठाना चाहिये। वहाँ सेवा का काम यह कर सकते हैं कि सहायता के लिये दूसरे साधुओं को बुलाकर ला सकते हैं। पर गृहस्थ द्वारा सेवा करते-करते कभी अन्य अनेक दोषों की उद्भावना भी हो जाती है। यदि कोई गृहस्थ साधु के हाथ-पैर दबावे या बहिन साध्वी के दबावे तो यह सेवा करना नहीं, वरन् उनके जीवन-दोष लगाना है, वीतराग देव की आज्ञा की अवहेलना करना है। कई भाई-बहिन टिफिन लेकर आते हैं कि महाराज कहाँ-कहाँ गोचरी के लिए फिरते रहेंगे। इस तरह साधु की मर्यादा का अतिक्रमण करके आप आहार आदि यहीं (उपाश्रय में) ले आयेंगे तो वह साधु जीवन के लिये अहितकर हो जायेगा। कवि ने कहा है—

"धार तलवार नी सोयली दोयली, चवदमां जिन तणी चरण सेवा"

तलवार की धार पर चलना कठिन है पर कदाचित् किसी के लिये सरल

भी हो जाय परन्तु प्रभु की चरण सेवा उससे भी कठिन है। यदि सेवा इतनी सस्ती होती तो उसे तलवार की धार के समान कठिन नहीं कहते। आज जिन भगवान् हमारे समक्ष नहीं हैं, पर प्रकारान्तर से जिन भगवान् की सेवा भी हम कर सकते हैं। उनके तीर्थ की सेवा और सुरक्षा रखना यह भी एक सेवा है।

बंधुओ ! रोज-रोज प्रवचन सुनने से शास्त्रीय बातों का कुछ न कुछ रहस्य समझ में आ सकता है। चिंतन-मनन करके जो बात समझ में न आवे, उसे आप पूछ सकते हैं। मैं जो कहता हूँ उसे ही सही न मानलें। इस प्रकार सेवा का धर्म सही विधि से अपनायेंगे तो आप अधिक साधना कर सकेंगे। जहाँ अभी कत्लखाने की बात वज्जू भाई ने कही। लगता है भारत के मानवों का हृदय जो पुष्प की पंखुड़ी के समान था, वहाँ पुष्प की पंखुड़ी तो कुम्हला गयी पर हृदय पत्थर समान हो गया। स्वयं की आत्मा तुल्य उस आत्मा का घात करता है, वह तो हिंसक है ही पर जो नहीं करता पर करवाता व अनुमोदता है तो भी वह उस हिंसा का भागीदार होता है और इन कत्लखानों से माँस की वृद्धि हो रही है, जिससे आज के युवकों के संस्कार भी बिगड़ रहे हैं। आज कॉलेज जाने वाले युवक क्या-क्या खाते व पीते हैं। जो धार्मिक स्थान पर आते हैं वे तो संत-सती का उपदेश सुनकर जीवन को परिवर्तित कर सकते हैं। घर-घर में जाने की स्थिति तो संतों की रहती नहीं। जो नहीं आते हैं, उनके माता-पिता का कर्तव्य है उन्हें यहाँ आने की प्रेरणा दें या घर में ही अपने बच्चों को सुसंस्कार दें। तभी वीत-राग देव की सेवा का प्रसंग भव्य तरह से उपस्थित हो सकता है। कत्लखाने की यह दर्दनाक स्थिति जो आज आपके सामने आ रही है। आज के व्यक्ति जो भार-तीय संस्कृति में पले पोषे हैं, ये कान में तेल डालकर प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए न रहें। जगने का अवसर है, जगना चाहिये।

एक लोटे में यदि भंग पड़े तो वहाँ से तो आसानी से हटाई जा सकती है, पर जब सारे कुए, तालाब, समुद्र व टंकी में ही भंग पड़ जाय तो उसके लिये क्या उपाय हो सकता है। इस भारत भूमि में ऐसा प्रसंग उपस्थित हो रहा है। किन्तु सभी भारतीयों को जागृत होकर इन सभी जीवों की रक्षा के लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह भी बहुत बड़ी सेवा है। इस प्रकार सेवा के स्वरूप को समझकर जो विधि के अनुसार सेवा का लाभ लेता है तो वह अपने जीवन को अवश्य आगे बढ़ाता है।

मोटा उपाश्रय, २७–८–८५
घाटकोपर (बम्बई) मंगलवार

□ □ □